शिवावतार श्री शंकराचार्यजी ने बौद्धों को व्यामोह पैदा करने के लिए निर्विशेष ब्रह्मवाद या मायावाद का प्रचार किया। इस वाद से भगवद् भक्त उपासक सम्प्रदाय में बहुत शीघ्र विक्षोभ उत्पन्न हो गया। मायावाद की आलोचना होने लगी। सर्व प्रथम शंकराचार्य के प्रायः समकालिक भास्कराचार्य ने शांकर मत को प्रच्छन्न बौद्ध बतलाया। पद्म पुराण में शिवजी द्वारा मोह शास्त्र के प्रसंग में कहा गया है" मायावादमसच्छास्त्रं प्रछन्नं बौद्धमेवच।" कुछ लोग इसे प्रक्षिप्त बतलाते हैं। किन्तु इतिहास पुराणों में इस तरह आंख मूँद कर प्रक्षिप्त कहना विक्षिप्त चेष्टा के अतिरिक्त कुछ अधिक महत्व नहीं रखता है। शांकर मत को सर्वथा बौद्धमत नहीं कहा जा सकता। कारण यहां व्यावहारिक दशा में वेदों की प्रमाणिकता देव देवियों की उपासना सर्वथा वैदिक धर्म के अनुकूल है। पारमार्थिक दशा में एक अद्वितीय ब्रह्म की सत्ता मानी गई है यह भी सर्वथा वैदिक है। किन्तु परमार्थ दशा में सबको मिथ्या बतलाकर जो समस्त विशेषणों से रहित ब्रह्मको निर्विशेष चिन्मात्र माना गया है यह श्रुति स्मृति पुराणों के सर्वथा विपरीत बौद्ध भावापन्न सिद्धान्त सा जान पड़ता है। यहां एक विलक्षण बात यह है कि निर्विशेष अद्वैतवाद की पहली पोथी भगवत्पाद गौड़पादाचार्य कृत माण्डूक्यकारिका है। यह माण्डूक्य कारिका ही शांकर भाष्य की आधार शिला है। ये कारिकायें औपनिषद सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए लिखी गई हैं किन्तु आत्मा ब्रह्म के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त इनमें स्थिर किया गया है। वह गौड़पादाचार्य के पूर्ववर्ती बौद्धों के माध्यमिक सम्प्रदाय के आचार्य नागार्जुन के शून्यं तत्त्वं से शब्दतः अर्थतः भावतः मिलता जुलता है। नागार्जुन और गौड़पादाचार्य दोनों ने ही परमार्थ तत्त्व को चतुष्कोटि विनिर्मुक्त कहा है। पाठक दोनों की तुलना स्वयं करके देखें। गौड़पादाचार्य आत्मा को अस्ति, नास्ति, अस्ति नास्ति, नास्ति नास्ति, इन चार कोटियों से

विलक्षणमानते हैं। अर्थात् आत्मा न सत् है, न असत्, न सदसदुभयात्मिक है और न सदसद् विलक्षण ही है। यथा माण्डूक्य कारिका—

"अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः। चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येव बालिशः॥ कोट्यश्चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदावृतः। भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक्॥'

अब यही तत्त्व नागार्जुन की माध्यमिक कारिका में देखिये—

"नसन्नासन्न सदसन्न चाप्युभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः॥"

केवल गौड़पादाचार्य ने उसे आत्मा कहा है और नागार्जुन ने बहुत पहले उसे शून्य कहा था। यहां नागार्जुन के शून्य में और गौड़ पादाचार्य के भगवान में कोई अन्तर नहीं है। इसी तरह श्री गौड़पादाचार्य का अजातवाद नागार्जुन की छायामात्र है—

न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन॥

—नागार्जुन कृत माध्यमिक कारिका १-७

स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते।
सद्सत् सदसद्वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते॥

—श्री गौड़ पादाचार्य कृत मा० कारिका

श्री गौड़पादाचार्य की कारिकाओं के आधार पर ही अपने शारीरकभाष्य में भगवत्पाद शंकराचार्यजी ने पहले अध्यास की कल्पना की है और साथ ही यह भी लिखा है कि सूत्रों का यही अर्थ जिससे हो वैसी ही मैं सूत्रों की व्याख्या करूंगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपने प्रतिज्ञात अर्थ के समर्थनमें श्रीशंकराचार्यजी ने जो लोकोत्तर प्रतिभा का परिचय दिया है उससे

उनका श्रम दार्शनिक जगत में चन्द्रमा की भांति चमकता रहेगा। उनका शारीरक मीमांसा भाष्य विद्वत्समाज में सदा आलोचित होता रहेगा।

किन्तु शेषावतार भगवत्पाद श्रीरामानुजाचार्य ने श्रीभाष्य की रचना सर्वथा परम्परावादी की तरह सम्प्रदायाविच्छेदेन प्राप्त विद्या के आधार पर की है। श्रीभाष्य में जिस प्रक्रिया से विशिष्टाद्वैत का समर्थन किया गया है वह बड़ा ही प्रौढ़ और प्राञ्जल है।' 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इस श्रुतिवाक्य की व्याख्या 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" इस स्मृति वाक्य से एक वाक्यता रखते हुए की गई है। अर्थात् ब्रह्म एक और अद्वितीय है क्योंकि न दूसरा उसके समान न उससे अधिक ही है। इससे यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता है कि ब्रह्म के अतिरिक्त सब मिथ्या है। ब्रह्म निरुपाधिक होने पर भी सविशेष ही रहता है। निर्विशेष वस्तु की सत्ता ही नहीं है। यह ब्रह्म शब्द पर विचार करने से ही स्पष्ट हो जाता है। बृहि बृद्धौ धातु से मनिन् प्रत्यय करने से ब्रह्म शब्द बनता है। इसमें सर्वदा बृहत्त्वगुण रहेगा ही। यह बात "बृहति बृंहयति इति तत्परं ब्रह्म" इस रहस्याम्नाय ब्राह्मण और "बृहत्वाद् बृंहणत्वाच्च तद्ब्रह्मेत्यभिधीयते" इस विष्णुपुराणकी एक-वाक्यता से सिद्ध है। ब्रह्म, चित्-अनन्तजीवात्मा, अचित-जड़ स्वभाव अखिल जगत इन दो विशेषणों से युक्त है। चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर ही ब्रह्म है जैसा कि कहा गया है—"ईश्वरश्चिदचिच्चेति पदार्थ-त्रितयं हरिः।" श्री भाष्य के ये ही मौलिकतत्वत्रय हैं। अनन्त जीव और निखिल जगत निखिल हेय प्रत्यनीक समस्त कल्याण गुणाकर परब्रह्म श्रीमन्नारायण के शरीर हैं। यह श्रुति-स्मृतियोंमें सुस्पष्ट कण्ठतः कहा गया है। 'यस्य पृथिवी शरीरं, 'यस्य आत्मा शरीरं' 'जगत् सर्व शरीरं ते' इत्यादि

यहां इतना अवश्य कहा जा सकता है। भगवत् पाद रामानुजाचार्य के श्री भाष्य सिद्धान्त में सृष्टि के हेतु ब्रह्म को अविद्या ग्रस्त नहीं होना पड़ता,

है। न प्रत्यक्ष और शास्त्र में मल्लयुद्ध कराकर प्रत्यक्ष को शास्त्र के द्वारा बाधित करना पड़ता है, न क्लिष्ट कल्पना ही करनी पड़ती है, न निर्गुण श्रुतियों को प्रमाण मानकर सगुण श्रुतियों को काल्पनिक भेद कहनेवाली कहकर तुच्छता ही बतलानी पड़ती है, विशिष्टाद्वैतवाद में भेद श्रुति अभेद श्रुति घटक श्रुति सभी श्रुतियों का सुन्दर सामञ्जस्य है। इस सिद्धान्त में शांकर मत के समान अनिर्वचनीय माया अविद्या आदिकी कल्पना नहीं अपेक्षित होती है। जब शास्त्रकार स्वयं कहते हैं श्रूयतां चाप्यविद्यायाः स्वरूप कुलनन्दन' तब अनिर्वचनीय की यह कल्पना कैसी ? स्वयं श्रुति ने 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' इत्यादि प्रमाणों से विचित्र सृष्टि करने में समर्थ त्रिगुणात्मिका प्रकृति को माया कहा है। यही बात स्मृति भी कहती है 'तेन माया सहस्रं तच् छंबरस्याशुगामिना' (विष्णुपुराण)। श्रुतिस्मृति पुराणेतिहास पाञ्चरात्र प्राचीन व्याख्यान युक्ति अनुभव आदि से समन्वित श्री भाष्यसिद्धान्त अज्ञानान्धकार को दूर करने में बालसूर्य के समान विराजमान है। जैसे सूर्य पर धूल उड़ा कर सूर्य को ढँका नहीं जा सकता है वैसे ही श्री भाष्य के सिद्धान्तों का खण्डन या विवेचना के द्वारा ढांका नहीं जा सकता है।

हम पहले कह चुके हैं कि विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त परम प्राचीन हैं और इस पर किये गये आक्षेपों का उत्तर भी आचार्यों ने समय-समय पर दे दिया है। श्री यामुनाचार्य के सिद्धित्रय में आत्मा ईश्वर और संवित के सम्बन्ध में विविध मतवादों की आलोचना की गई है तथा विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का समर्थन किया गया है। प्रायः करके परमतखण्डन तथा स्वमत स्थापन के लिए यहां किसी प्राचीन ग्रन्थ की टीकायें लिखी जाती थीं। स्वतन्त्र रूप से खण्डन मण्डन के ग्रन्थ कम लिखे गये हैं। यही कारण है कि शांकरभाष्य की दश टीकायें और श्रीभाष्य की बारह टीकायें लिखी गईं। आचार्यों

के गंभीर आशयों को समझने के लिए इनका विधिवत अध्ययन अपेक्षित है। विवेचना और विमर्श के आधार पर समझना तो उपहास्यास्पद ही जान पड़ता है। इसके सम्बन्ध में मुरारि कवि की उक्ति स्मरणीय है। 'देवीं वाचमुपासते हि बहवः सारंतु सारस्वतं जानीते नितरामसौ गुरुकुल क्लिष्टो मुरारिः कविः। अब्धिर्लङ्घित एव वानरभटैः किन्त्वस्य गंभीरतामापाताल निमग्नपीवर तनुर्जानाति मन्थाचलः।'

इसके अतिरिक्त खण्डन मण्डन में बहुतेरे ग्रन्थ भी लिखे गये जिनका उत्तर पूर्वाचार्यों ने लिखा। ऐसा कोई नहीं कह सकता कि अद्वैतवादियों के खण्डनात्मक अमुक ग्रन्थ का उत्तर विशिष्टाद्वैत के आचार्यों ने नहीं दिया। इस विषय में श्री वरदाचार्य, श्रुत प्रकाशिकाचार्य श्री सुदर्शन सूरि, श्री वादिहंसाम्बुवाचार्य, कवितार्किक केसरी वेंकटनाथ वेदान्ताचार्य, श्री अनन्ताचार्य श्री दोद्दय महाचार्य रामानुजदास (इन्होंने अपने पराशर्य विजय में सुप्रसिद्ध सर्वतन्त्र स्वतन्त्र श्री अप्पयदीक्षित के न्याय रक्षामणि का उत्तर दिया था) श्री निवासाचार्य, श्री वेंकटाचार्य प्रभृति के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

ई० १७ वीं शताब्दी के लगभग अद्वैतवादी विद्वान श्री आयन्न दीक्षित ने 'व्यास तात्पर्यनिर्णय' नामक ग्रन्थ लिख कर यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि व्यास सूत्रों का तात्पर्य अद्वैतवाद ही है। जिसका उत्तर महामहोपाध्याय तातदेशिकाचार्य ने 'व्यास सिद्धान्त मार्तण्ड' के द्वारा दिया, जिसमें यह दिखलाया गया है कि व्यास सूत्रों का स्वारस्य विशिष्टाद्वैत वाद ही में है। इस तरह खण्डन मण्डन तथा शास्त्रार्थों का इतिहास भी कुछ कम नहीं है यहां अधिक लिखने का अवसर नहीं।

यह प्रस्तुत ग्रन्थ 'वेदान्तमार्तण्ड' म० म० श्रीयुक्त अनन्तकृष्ण शास्त्री के

'वेदान्तरक्षामणि श्रीभाष्यविवेचना" नामक ग्रन्थ का उत्तर है। यद्यपि श्रीमान् अखिल वे० गोपालाचार्य एम० ए० महोदय ने "वेदान्तरक्षामणि विमर्श" लिख कर श्री भाष्यविवेचना का उत्तर दिया है। यह पुस्तक भी विषय विवेचन की दृष्टि से अच्छी ही हुई है। किन्तु 'वेदान्तमार्तण्ड' की प्रभा कुछ और ही है। वेदान्तमार्तण्ड के लेखक हमारे सुहृद् विद्वद्वर श्री मुरलीधराचार्य शास्त्री हैं। जैसी प्रौढ़ भाषा में वाद पद्धति की शैली से वेदान्तरक्षामणि लिखा गया है वैसी ही प्रौढ़ और प्राञ्जल भाषा में वाद पद्धति की परिपाटी से यह वेदान्तमार्तण्ड भी लिखा गया है। अतः जो न्याय-व्याकरण-वेदान्त के प्रौढ़ विद्वान नव्यन्याय की पद्धति से शास्त्रीय विषयों के विश्लेषण करने में अधिक सुखानुभव करते हैं उन्हें इस वेदांत-मार्त्तण्ड से अधिक आनन्द होगा इसमें कोई संदेह नहीं। विषय प्रति-पादन, विपक्ष-पक्ष-प्रत्याख्यान तथा समाधान करने में पण्डित श्री मुरलीधरा-चार्यजी की प्रतिभा और पाण्डित्य दोनों ही प्रशंसनीय हैं।

९१ चौरंगी रोड
कलकत्ता

—श्री गोपालदत्त शास्त्री
काव्यपुराण तीर्थ



श्री १००८ श्री महान्त

गोविन्दाचार्य्य स्वामीजी महाराज

उत्तर पार्श्वमठ

पुरी

'श्रियः कान्ताय नमः'

'श्रीमतेरामानुजाय नमः'

श्री १००८ श्री जगद्गुरुभगवद्रामानुजाचार्य्यान्वयसम्भूतानां सर्वतन्त्रस्वतन्त्राणां पण्डितसार्वभौमानामुभयवेदान्तनिर्धारणधुरीणानां श्रीमद्भूतपुरिस्थानां श्री १००८ श्री जगद्गुरु,

आसूरि रामानुजाचार्यस्वामिपादानां सम्मतिपत्रमिदम्"

यथाऽयथात्मभाविनो ज्यायान् यथात्मभावी यथात्मभावपरिकर्मितात्माऽयथात्मभावदुष्टेभ्योऽयथात्मभाविभ्यः। यथाऽयथात्मभावयोश्च दूषकभूषकयोर्वादिद्वयसाधारण तथाभाव संप्रतिपत्ति गोचरभावपराहतान् वादिद्वयैकतरोपपादनानुचरीं वाद्यन्तर सम्प्रतिपत्ति गोचरतां मन्यामहे।

परमयमत्रविवेकः प्रबन्धेषु यथाऽयथात्मभावितयोर्विषय प्रबन्धपेक्षताभेदेन प्रत्येकमेव यथाऽयथात्मभावितयोर्विधाद्वयी भवति। तत्र केचिद्विधाद्वयपरिकर्मिताः केचिद्विधाद्वयदुष्टाः अपरेचेतरेचैकैकपरिकर्मितदुष्टाश्चोपलभ्यन्ते। ततश्च विधाद्वयदूष्यभूष्ययोः, एकैक दूष्यभूष्ययोश्च सम्भव इति यथाऽयथात्म भाविचातुर्विध्यं स्थितम्। विषयप्रबन्धपेक्षताभेदभिन्नेहि यथाऽयथात्मभाविते यथाऽयथा विषयप्रबन्धभाविते स्याताम्। विषयीषु यथाविषयभाविताया: विषयानुरूप्यपर्यवसन्नायाः प्रामा-

ण्यापरपर्य्यायतयाऽऽश्रयातिशयाधायिकेयं यथाविषय भाविता-गुण इति भूषिका स्यात् ।

अयथाविषयभाविता च विषयीषु विषयानानुरूप्य पर्यवसिताऽप्रामाण्यापरपर्य्याया, आश्रयनिकर्षापादिका दोष इति दूषिकास्यात् । यथा प्रबन्धृभाविता च प्रबन्धृस्पृश्य विषय पिस्पृक्षामूल प्रवृत्तिविषयता लक्षणायोग्यार्थ पिस्पृक्षालक्षण प्रबन्धृगुणाधीन गुणभावास्यात् तद्विपर्य्ययश्च, अयथाप्रबन्धृभाविताऽस्पृश्य-विषय पिस्पृक्षामूल प्रवृत्ति विषयतालक्षणा, अयोग्यार्थ पिस्पृक्षा-लक्षण प्रबन्धृदोषाधीन दोषभावा आश्रयनिकर्षाय स्यात् ।

यद्यपि प्रबन्धुः योग्यायोग्यार्थ पिस्पृक्षयोः प्रबन्धृगुणदोष-लक्षणयोः पिस्पृक्षामूल प्रवृत्तिविषय प्रबन्धप्रामाण्याप्रामाण्य प्रयोजकयोरेवसतोः पिस्पृक्षामूल प्रवृत्तिविषयतालक्षण प्रबन्ध्रपेक्ष यथाऽयथात्मभाविता गुणदोषभावापादकत्वमिति यथाऽयथा-प्रबन्धभावितयोः यथाऽयथा विषयभावितान्तर्गम इति, उक्त यथाऽयथात्मभावितयोर्विषय प्रबन्ध्रपेक्षताभेदमुखेन चातुर्विध्य-वादानवकाश इति स्यात् ।

प्रबन्धृपिस्पृक्षयो र्योग्यायोग्यार्थ विषययोः प्रबन्धृगुणदोषयोः प्रबन्धप्रामाण्याप्रामाण्यप्रयोजकयोः सतोरिव स्वातन्त्र्येणापि स्वातंत्र्येणवक्तृगुणदोषाधीन वक्तव्यगुणिदुष्टता नयेन प्रबन्धप्रकर्षनिकर्षाधायिका लक्षण गुणदोषता प्रयोजकतया यथाऽयथा प्रबन्धभाविता दूषकभूषकता वैलक्षण्येन तु चातुर्विध्योपपन्नता स्यात् ।

तदेवं यथाऽयथात्मभावि चातुर्विध्ये प्रकृते दूष्यदूषकभावेन प्रवृत्तयोः रक्षामणि, व्यामोहविद्रावणयोः, उक्त विधाद्वयापन्नाऽयथात्मभाव्युदाहरणतां रक्षामणौ, उक्त तथाभूत यथात्मभाव्युदाहरणताञ्च व्यामोहविद्रावणे (वेदान्तमार्तण्डे) निर्दोषवस्तु विषयनिष्कारणदोषारोपणलक्षण निजापराधकुपित दैवमूलां गुणैकायतनवस्तुविषयवास्तव गुणव्यवस्थापन लक्षण निजानुकूलवृत्ति मूलानुग्रह दैवमूलांच नैज तत्तत्प्रबन्ध प्रमाणां प्रतिजानीम इति शम् ।

श्रीमद्भूतपुरिस्थः

श्रीस्वामी आसूरि रामानुजाचार्यः ।

'श्रियः कान्ताय नमः'
श्रीमते विष्वक्सेनाय नमः
श्रीमते रामानुजाय नमः

श्री शैलानन्तपूरुष पीठाधीश पुरिपैंग्रामाभिजनानां तिरुपति, संस्कृतकलाशाला, अलंकार-न्याय वेदान्त शास्त्राध्यापकचराणां नानातन्त्रसार्वभौमानाममृतभारतीबिरुदाङ्कितानां श्री १००८ श्री जगद्गुरु **श्रीकृष्णमहाचार्य्य स्वामिनां सम्मतिपत्रमिदम् ।**

अद्य, उपाध्यायोपाह्वेन श्री मुरलीधराचार्य्यनामधेयेन. यथाविधिगुरुभ्योगृहीत साम्प्रदायिकार्थेन श्रीभगवद्रामानुज सिद्धान्तानुयायिनः प्रबन्धान्, महामहोपाध्यायानन्तकृष्ण शास्त्रिभिः विरचितान् वेदान्तरक्षामणिप्रमुखान् प्रबन्धान् सम्प्रदाय दूषणाभासप्रबन्धानपि बहुवारं समालोच्य 'वेदान्तमार्तण्ड' इति कश्चनप्रबन्धः वेदान्तरक्षामणा उद्भावित दूषणाभास विद्रावणायप्राकाशि ।

सचायं प्रबन्धः यथावकाशमस्माभिः प्रत्यवेक्षितः, अयंच प्रबन्धः वेदान्तरक्षामणि प्रकाशितानां दूषणाभासानां निरासे सम्यक् पराक्रमत इति वयं भुजमुद्धृत्यब्रूमः, नचात्रप्रबन्धे सम्प्रदाय विरोधोऽपि दरीदृश्यते ।

तदुद्भाविताः दूषणाभासास्संस्कृतभाषावेषेण केवलं पामर-व्यामोहनमात्राः सम्प्रदायसन्दर्भ विरुद्धाश्च । श्रुतिस्मृति समीचीनन्याय परिपूर्णोऽयं वेदान्तमार्तण्डोऽपि संस्कृतभाषावेषं धृत्वा प्रकटीभूय प्रस्तुतं व्यामोहं ध्रुवं निवर्तयिष्यतीति शम् ।

श्रीवेङ्कटाद्रितिरुपतिस्थः

श्रीस्वामी श्रीकृष्णमहाचार्य्यः

'श्रियः कान्ताय नमः'

श्रीमते विष्वक्सेनाय नमः

श्रीमते रामानुजाय नमः

श्रीमज्जगद्गुरु श्रीरामानुजाचार्य्य तोताद्रिस्वामि चरण-कमल चञ्चरीक गया, मण्डलान्तर्गत, पो० स्टे० वारसलीगंज (वाली) जमुआवाँ, ग्रामनिवासी वेदान्त शिरोमणि पण्डित प्रवर श्री १०८ श्री स्वाचार्य्यानुरागजन्य विद्यार्थीपदभूषित रामप्रपन्न रामानुजदास स्वामिनः।

सम्मतिपत्रमेतदिति।

सादरमेतन्निवेदनं परमानन्दमावहति यदद्य सर्वतंत्र स्वतन्त्रोभयवेदान्त निष्णात पं० श्रीमुरलीधराचार्य्य शास्त्रि प्रणीत वेदान्तरक्षामणि व्यामोहविद्रावणम् शांकरभाष्यसमालोचनात्मकञ्च "वेदान्तमार्तण्ड इत्याख्यं शोभनं सुललितं वादिजनभयावहं प्रबन्धं सम्यगवलोकितम्—एतद्ग्रन्थावलोकनेन विद्वद्वर्य्याणां श्रीमत्पण्डित मुरलीधराचार्य्य शास्त्रिणां षड्दर्शन सार्वभौमानां पाण्डित्य-कुशलताया अस्मिन् विषये कृतपरिश्रमस्यच पूर्णपरिचयः प्राप्तः। लेखन प्रणाल्येषामतीव शोभना विद्यते। वेदान्तरक्षामणेः समुचितं समीचीनञ्च प्रत्याख्यानं कृत्वाऽनन्तकृष्ण शास्त्रिणोभ्रमस्समूल उत्पाटितस्तन्मुखं भञ्जितञ्चैभिरुक्तविद्वद्वरैः।

एषां कृतिमवलोक्यातीव हर्षोल्लासंप्राप्तवानहम्, कामये च भगवता श्रीजगन्नाथेन तत्सफल मनोरथाय। श्रीभाष्यकार राधान्तरक्षणाय शास्त्रिणः, श्रीमुरलीधराचार्य्याः मुहुर्मुहुः धन्य-वादार्हास्सन्तीति शम्।

भवदीयः –

वेदान्तशिरोमणिः, श्री रामप्रपन्न रामानुजदासः

एन्० एम्० एल"

भूमिका

श्रीमते रामानुजाय नमः

श्रीमद्रामानुजार्य्यं श्रुतिशिखरशिखाधाविमेधाविलासैः
प्रोद्यद्व्याहारगुम्भैर्विदलितकुमताडम्बरं तं भजामि ।
यद्भाष्याम्भोधिगर्भप्रसृमरसुमहायुक्तिवीचीविहारा
वेलान्ते विक्षिपन्ति प्रतिकथकघटादूषणालीतृणानि ॥

इह खलुधर्मार्थकाममोक्षाख्येषु चतुर्धा परिगणितेषु पुमर्थेषु मोक्ष एव परमपुरुषार्थः स एव नित्यः, इतराणि वर्गत्रयाणिसुख-लक्षणविरहितान्यनित्यानि च । सुखलक्षणं हि—

यन्नदुःखेन सम्भिन्नं नच ग्रस्तमनन्तरम् ।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम् ॥

इत्युक्तमभिजनैः, इदं सुखं मोक्षसुखमेव, नच वर्गत्रयेष्वे-तादृश सुखसम्भवः । इदं सर्वं प्रमाणगम्यमेव । प्रमाणञ्चास्माक मनाद्यविच्छिन्न सम्प्रदायतयाऽसंभाव्यमान निर्दोषापौरुषेयवेद एव, तदनुसारि स्मृतीतिहास पुराणादिनि च । वेदस्त्वत्यन्त-गहनः, अनन्तशाखात्मकश्च, स्वल्पायुषः,खलुमनुष्याः सहजबोधवि-धुराश्च । कथं वेदार्थ निर्णये समर्थाः भवेयुरिति परमकारुणिकः सौशिल्य वात्सल्य मार्दवार्जवादिगुणोपेतः परंब्रह्म भगवान्नारा-यणः लोकानुद्धर्तुकामः व्यासोभूत्वा, अत्यन्तगहन मोक्षस्वरूप

प्रतिपादक वेदोत्तरभागस्यवेदान्तसूत्रप्रणयनेन, अष्टादशपुराणादि निर्माणेन च वेदार्थान् सम्यक् प्रकाशयामास।

भगवान्नारायणएव वेदव्यासः स एव ब्रह्मसूत्रकार इति खलु सुप्रसिद्धमेव।

तदीयशिष्येण च महर्षिणा जैमिनिना पूर्वभागस्य वेदस्य व्याख्यानभूतं पूर्वमीमांसाशास्त्रं प्रणीतम्। इत्थं गुरुशिष्याभ्यां परस्परसम्मत्या पूर्वोत्तरभागात्मकस्यवेदस्य प्रणीतं पूर्वोत्तर-मीमांशा शास्त्रंसंगतिविशेषविशिष्टवेषेण शास्त्रैक्यमेवासादयति। पूर्वोत्तरभागेन विभक्तस्यापिवेदस्य यथा शास्त्रैक्यं सम्प्रतिपन्नं तथैव तद्व्याख्यानभूतयोः पूर्वोत्तरमीमांशयोरपि प्रबन्धैक्यं युक्तमेव विदुषाम्। यथाचाह वृत्तिकारः—

संहितमेतच्छारीरकं जैमिनीयेन षोड़शलक्षणेनेति। एवं सम्प्रतिपन्नेपि शास्त्रैक्ये, परमर्षिणा बादरायणेन निष्कण्टकी-कृतेऽपिवेदमार्गे तत्तन्मतश्रद्धालुभिः स्वोत्प्रेक्षितसिद्धान्तवि-शेषस्थापनतत्परैश्च शास्त्रभेदस्थापनेन ब्रह्मसूत्राणामन्यथा व्या-ख्यानेन च पुनरपि कण्टकीकृते वेदमार्गे, सकललोकैक कल्या-णाय वेदान्तार्थप्रकाशायच शेषावतारभूतो भगवान् रामानुजा-चार्य्यः ब्रह्मसूत्रस्य बोधायनाद्यनुसारि श्रीभाष्यनामकं ब्रह्मसूत्र भाष्यंकृत्वा निमग्नंवेदार्थंपुनरपि प्रकाशयामास। तत्र च भगवत् शंकरमतस्य स्वरूपंहि—अशेषविशेषशून्यं निर्गुणं ब्रह्मैवतत्त्वम्। तदेवनित्यमुक्त बुद्धस्वप्रकाश चिन्मात्रैकरसं ब्रह्मैवानाद्यविद्यो-

पहितं जीवभावं च भजते। निर्विशेषचिन्मात्रातिरेकि नाना-विध ज्ञातृज्ञेय तत्कृत भेदादिकं सर्वं तस्मिन्नेव परिकल्पितं मिथ्याभूतमिति। अयं सिद्धान्तोहि सर्वथैवलोकविरुद्धोवेद विरुद्धश्च।

तथाहि—अस्मिन् सिद्धान्तेप्रायेण बौद्धादि वेदबाह्यमत-साम्यमेव वर्तते। वेदबाह्या, अपि ज्ञानसन्तानातिरिक्तं किञ्चि-दपि वस्तु नानुमन्यन्ते। शंकरसिद्धान्तेऽपि ज्ञानातिरिक्तं सर्वं मिथ्यैव। विशेषस्त्वयमेव यत्, ज्ञानस्य सौगतादिभिर्क्षणिकत्वं मन्यते, भवता तु ज्ञानस्यनित्यत्वमिति।

तत्र पृच्छामः—नित्यत्वं स्वरूपे विशेषणं दीयते-उत स्वरूपमेव, नित्यत्वस्य स्वरूपविशेषणत्वे विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तप्रवेशः।

स्वरूपत्वे च—स्वरूपस्य तैरप्यङ्गीकृतत्वात् पुनरपि स्वरूप-मात्रसाधनं किमर्थमित्युभयतः पाशारज्जुः।

श्रुतिष्वपि किञ्चिदंशमात्रस्यैव प्रामाण्यं तन्मते-तथाहि 'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति' 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ' क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः' 'नित्यो-नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधातिकामान्' इत्याद्याः परश्शताः श्रुतयो जीवेश्वरंप्रकृतिनिरुपण पराः। तत्र निर्विशेष ब्रह्मातिरिक्त कृत्स्न मिथ्यात्व स्वीकारे जीवस्वरूप तन्नित्यत्व तद्भेदप्रतिपादकानां वाक्यानां प्रकृति स्वरूपतन्नि-त्यत्ववादिनीनां श्रुतीनाञ्च वैयर्थ्यं दुर्वारमेव।

नच पारमार्थिकापारमार्थिक भेद कल्पनया विरोध परिहारो न्याय्यः, तादृशार्थस्य स्वकपोलकल्पितत्वात् । अन्ततोगत्वा वैयर्थ्यदोषस्य जागरूकत्वाच्च । व्यवस्थापक प्रमाणाभावेन विपर्य्ययप्रसंगेन त्वदीय समीहितार्थलाभाभावाच्चेति । तस्मान्निर्गुणादिपदघटित कतिपयान्येववाक्यानि प्रमाणमद्वैत सिद्धान्ते ।

यदि किञ्चिदंशमात्रप्रामाण्यस्वीकारेणैव वैदिकत्वाभिमानस्तर्हि—हिंसानिषेध स्वीकारमात्रेण बौद्धादयोऽपि वैदिकाः कथं न भवेयुः । न हिंस्यात् सर्वाभूतानि' इति हिंसानिषेधवाक्यस्य महानादरो बौद्धादि सिद्धान्ते । वस्तुतः निर्गुणादि कतिपय वाक्यानामप्यप्रामाण्यं तन्मत इति त्वन्यत्र विवेचितम् ।

किञ्च 'नित्यं विभुंसर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्तिधीराः । इति श्रुतिबलेन भवता ब्रह्मणो नित्यत्वमुच्यते-तदेव नित्यत्वं बौद्धसिद्धान्ताद्व्यावर्तकम् । तत्र किमिदं नित्यत्वं ब्रह्मासाधारणं भवत्सिद्धान्ते-किं सर्वकालसत्तारूपम्, अथवा प्रध्वंसरहितत्वम्, उत कालावच्छेदनिवृत्तिरूपम्, आहोस्विदबाधितत्त्वम्, उत निर्विकारत्वम्, यद्वा उभयावधिराहित्यम् । नाद्यः, अविद्याया अपि नित्यत्वप्रसंगात् । सापि सर्वेणकालेन सम्बध्यत एव । सर्वस्यापिकालस्यतत्कार्य्यत्वाभ्युपगमेन तदसम्बन्धानुपपत्तेः । नापि द्वितीयः, प्रध्वंसस्य प्रध्वंसाभावेन नित्यत्वप्रसंगात् । प्रध्वंसस्यनित्यत्व-

स्वीकारे च, ब्रह्मव्यतिरिक्तानन्तप्रध्वंशनित्यत्वेन ब्रह्मैकमेव नित्यमितिसिद्धान्तव्याघातः । नापि तृतीयः, कालस्यापि तत्सद्भावेन ततो विवेकासिद्धेः । नहिकालः कालान्तरेणावच्छिद्यते तथा सत्यनवस्थानात् । नापि स्वेन कर्मकर्तृविरोधात् । नापि चतुर्थः, अबाधितत्त्वेनाभिमतेषु सम्यक् शुक्तिरजतादिषु नित्यशब्दप्रयोगदर्शनात् । नापि पञ्चमः विकाराणां निर्विकारत्वेन नित्यत्वप्रसङ्गात् । तेषामपि सविकारत्वेऽनवस्थानात् । नापि षष्ठः, व्यावहारिकोभयांतवत्त्वस्य संविदात्मके ब्रह्मण्यपि समानत्वात् । पारमार्थिकस्य तस्य प्रपञ्चेप्यभावेन तस्यापि नित्यत्व प्रसंगात् ।

तस्मान्नित्या संविदिति स्वगोष्टिमात्रकथा निर्मूलैवेति ।

अन्येषां यादव भास्करादीनां मतंत्वत्यंत श्रुतिविरुद्धमिति तु सर्वेपि दार्शनिकाः निरस्यन्तितन्मतं न पृथक् खण्डनार्हं तन्मतम् ।

श्रीभगवद्रामानुजाचार्य्य सिद्धांते सर्वाण्येव श्रुतिवाक्यानि सुरक्षितानिभवन्ति । तथाहि–'निर्गुणं निष्क्रियं शांतं निरवद्यं निरञ्जनमि' त्यादि निर्गुणवादिनीनां श्रुतीनाम्, 'एषआत्माऽपहतपाप्मा विजरोविमृत्युर्विशोकोऽपिपासः, सत्यकामः सत्यसंकल्पः इत्यादि दिव्यगुण,बोधक श्रुत्यनुसारेण हेयगुणविषयतया प्रामाण्यम् । अभेदबोधक श्रुतीनाम्, 'यस्यात्मा शरीरं यस्य पृथिवी शरीरमि' त्यादिघटक श्रुतिभिः शरीरात्मभावोर्थः ।

शरीरस्य शरीर्यपेक्षयाभिन्नत्वेन भेदप्रतिपादक श्रुतयाऽपि सुरक्षिताः भवन्ति। इत्थं सर्वश्रुतीनामविरोधः, श्रीभाष्यकाराणां सिद्धांते। इदमेव खलु श्रीभाष्यकाराणां मतं पराशरादि ऋष्यभिमतं विशिष्टाद्वैतपदवाच्यम्।

पराशर व्यासबोधायनादि ऋषिभिरविच्छिन्नरूपेण प्राप्तस्यापि विशिष्टाद्वैत सम्प्रदायस्य, वैदिकाभासैरन्यैर्व्याख्यातृभिः, वेदान्तसूत्रव्याख्यानेन, उपनिषद व्याख्यानेन च स्वोत्प्रेक्षितसिद्धान्ते ऋषीणामभिप्रायस्य हठान्नीयमाने, वैदिकसिद्धान्तस्य जगतिप्रकाशाय श्रुतिसूत्राणामन्तर्ज्वरशमनायच श्रीभाष्यावतरणं जातम्।

यतिपुरन्दरेणभगवता श्रीभाष्यकृता रामानुजाचार्य्येण-सम्यगेव वैदिकः पन्थासुरक्षितः।

यथोक्तमभियुक्तैः—

गाथा ताथा गतानां गलति गमनिका कापिली क्वापिलीना,
क्षीणा काणादवाणी द्रुहिणहरगिरः सौरभं नारभन्ते,
क्षामाकौमारिलोक्तिर्जगति गुरुमतं गौरवादूरवान्तम्,
काशङ्का शंकरादेर्भजति यतिपतौ भद्रवेदिं त्रिवेदिम्॥

श्रीभगवदाचार्य्यपादशिष्यप्रशिष्याः वहवोहि वेदपारंगताः, श्रुतिमार्गस्थापनधुरीणास्समभवन्। ते च वरदाचार्य्यश्रुतप्रकाशिकाचार्य्य वेदान्ताचार्य्य महाचार्य्य प्रभृतयः। एतैर्महानुभावैः सुरक्षितोऽयं श्रीभाष्यसिद्धान्तोऽद्यापि लोकैः पूज्यमानो विद्योतते। श्रीभाष्यकारशिष्यैर्विरचितास्सन्ति नानासिद्धान्तग्रन्थाः, श्रीभाष्यगम्भीरार्थप्रकाशाय वैदिकमार्ग दूषकविद्रावणाय च।

श्रीदेशिकपादविरचित शतदूषणीग्रन्थस्याभिप्रायमज्ञानता,

अद्वैतसिद्धान्तान् परिष्कुर्वता, अप्पयदीक्षितेन यत्किञ्चिदप्युक्तं तत्तु शतदूषणीग्रन्थस्य चण्डमारुतीं टीकां कुर्वता तत्कालीनैरेव महाचार्य्यपादैः निरस्तम्। सद्विद्याविजयादिभिर्महानिबन्धैरव-शिष्टानपि सर्वान् वादान् निरस्य श्रुतिमार्गं स्थापितञ्च।

श्रीवादावलीकारैरपि बहुधाऽद्वैतमतं निरस्तं श्रीभाष्यमतं च प्रकाशितम्।

एवं ऋषिपरम्परापरिशुद्धं वैदिकजन मूर्धाभिषिक्तं श्रीभाष्यमतीर्थीकर्तुकामेन केनचिदद्वैतसम्प्रदायाभिमानिना, अनन्तकृष्ण शास्त्रिणा 'येन केन प्रकारेण प्रसिद्धः पुरुषोभवेदि'ति न्यायमनुसृत्य श्रीभाष्यसमालोचनात्मक वेदान्तरक्षामणिग्रन्थः निर्मितः।

तदीय वेदान्तरक्षामणिग्रन्थोत्तरप्रदाननिरतैः विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त निर्धारणधुरन्धरैः, अयोध्यास्थै पं० श्रीमुरलीधराचार्य्यैः वेदान्तरक्षामणिव्यामोहविद्रावणात्मक वेदान्तमार्तण्ड, इत्याख्य स्वप्रबन्धं निर्माय वेदान्तरक्षामणा उद्भाविता दोषाः शतधाः निरस्ता, श्रुतिस्मृतिन्याय प्रमाणादिभिः, अद्वैतवादाश्च खण्डिताः। श्रुति-स्मृतिप्रमाणपरिपूर्णोऽयं 'वेदान्तमार्तण्डः' वादिजनेभ्यः जिज्ञासुजनेभ्यश्च सन्तोषं प्रयच्छन्।

निर्मत्सराणां विदुषां प्रीतये सम्यग् भविष्यतीति विरमति।

भावत्कः

पं० श्रीरामदुलारे शास्त्री

व्याकरणवेदान्ताचार्य्यः

"विषयानुक्रमणिका"

विषय | पृष्ठाङ्काः

विषय

पृष्ठाङ्काः

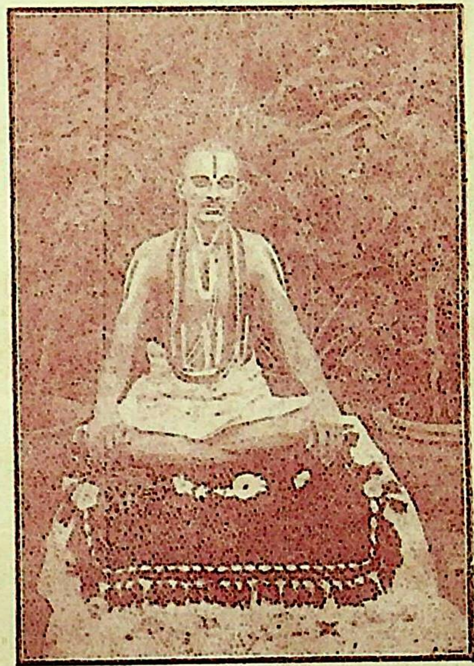
विषय	पृष्ठाङ्काः

विषय पृष्ठाङ्काः

विषय | पृष्ठाङ्काः

विषय • पृष्ठाङ्काः

विषय | पृष्ठाङ्काः



श्री १००८ श्री उत्तर अहोबिल झालरिया मठाधीश श्री वीर राघवाचार्य्य स्वामीजी महाराज

श्रीरमा वैकुण्ठमन्दिर, पुष्कर

विषय पृष्ठाङ्काः

"शुद्धाशुद्धिपत्रिका"

अशुद्धम्,	पृ०	पं०	शुद्धम्
यथो पक्षिप्तं	२	१३	यथाप्रतिक्षिप्तं
शैलपूरुष	३	८	शैलानन्तपूरुष
निराशेन	३	११	निरासेन
समालोचनात्मकः	३	१५	समालोचनात्मक
ग्रन्थः	३	१५	ग्रन्थरुपेण
निवद्धः	३	१५	निवद्धानि
विचारानन्तर्य्यं	४	१०	विचारानन्तरं
भामतीकारापि	७	१३	भामतीकारा अपि
अर्थोत्पादकत्वे	६	१	अर्थोत्पत्तौ
विस्तारः	१०	४	निस्तारः
श्री मद्रामानुज	१८	१०	श्रीमद्रामानुज
परिचायतं कत्व	३१	१२	परिचायकत्व
गोष्ठ्यां	४४	१०	गोष्ठी
स्पष्टश्चेदं	४४	१६	स्पष्टीकृतंचेदं
पुरुक्ति	५१	१७	पुनरुक्ति
पद्येत्	५२	३	पद्यंत
पुरुक्ति	५३	३	पुनरुक्ति
पूर्वमितिति	५२	१६	पूर्वमिति
क्षोदक्षमः	५४	२२	विप्रतिपत्तिः
वदतः	५६	१६	वदन्
ब्रह्मणोभूतत्वाभ्यां	५७	७	ब्रह्मणोभव्यत्व भू तत्वाभ्यां
ननु	५७	२२	ननु

अशुद्धम्,	पृ०	पं०	शुद्धम्
परत्व मुपक्षिप्तम्	५७	२१	परत्वप्रतिक्षिप्तम्
सति	६१	१३	सत्यां
कथनं	६१	१५	कथं न
नास्मरति	६१	१६	न स्मरति
नयायिकाः	६८	१६	नैयायिकाः
वातेचा	७६	१२	वा तेचा
निरस्यातताम्	८३	२०	निरस्यताम्
अहंप्रत्ययगोरत्वंतु	८८	४	अहंप्रत्ययगोचरत्वं तु
बन्धरादित्य	९०	८	बन्धराहित्यं
पुरुषार्थत्वा	९०	११	पुरुषार्थित्वा
सुखसम्वन्धमात्रमेव	९०	१२	सुखसम्वन्धितयैव
शरीणि	९२	६	शरीरिणि
द्रष्टव्यः	९६	१६	द्रष्टव्यः
तदंगाकर्तृणां	९२	५	तदङ्गीकर्तृणां
शरीणि	९२	६	शरीरिणि
चिदन्तरचिद	९५	१८	चिदन्तराचिद
विहात	९५	३	विरहात
तादवस्थेन	९६	२२	तादवस्थ्येन
वस्तुतत्तु	९८	१३	वस्तुतस्तु
दुष्टमूलत्व	१००	१७	दोषमूलत्व
सामकालिकत्व	१०१	६	समकालिकत्व
सामकालिकत्वे	१०१	१०	समकालिकत्वस्य
अन्यतरीय	१०१	१४	अन्यतर
अन्यतरीय	१०१	१७	अन्यतर
दुष्टमूलत्व	१०४	१४	दोषमूलत्व

अशुद्धम्	पृ०	पं०	शुद्धम्
कल्पिनापि	१०३	१८	कल्पनापि
व्यतिरेकिव्याप्ति	१०४	१८	अन्वयव्याप्ति
दुर्वारैव	१०४	१६	दुरुपपादैव
ब्रह्माज्ञानं	१०६	११	ब्रह्मज्ञानं
दिरूणमिति	११५	१	निरूपणमिति
अभिष्टाद्वैतिनां	१२१	१६	नाशोऽभिष्टोऽद्वैतिनां
विविक्तानं	१२६	१४	विविक्ताज्ञानं
पादनंमुम	१२८	६	पादनमुत
तात्पर्य्य	१२८	१०	तात्पर्य्यमिति
ज्ञानस्यानुत्पन्नत्वात	१३२	१७	ज्ञानस्यासिद्धत्वात्
प्रामाणिम्	१३२	१८	प्रामाणिकत्वम्
प्रतीति	१४१	१५	प्रतीतिः
सनिरुद्धः	१४२	१२	सन्निरुद्धः
विरोधा	१४३	४	विरोधो
जाति	१४६	३	याति
आत्मेति	१५५	१४	आत्मेति
मुख्यवृत्त्वमिति	१५७	११	मुख्यवृत्तमिति
मुख्या एव शवादि	१६०	५	मुख्यएव गवादि
व्यक्तिपर्यन्तताया	१६०	१३	व्यक्तिपर्य्यन्तताया
ब्रह्मपृथक्	१६३	४	ब्रह्मापृथक्
त्यमसीतिवोध	१६३	४	त्वमसीतिवोधः
जीवब्रह्मणः	१६३	१३	जीवब्रह्मणोः
जीवब्रह्मणः	१६४	८	जीवब्रह्मणोः
यच्छब्दाह	१६४	२२	यच्छब्द आह

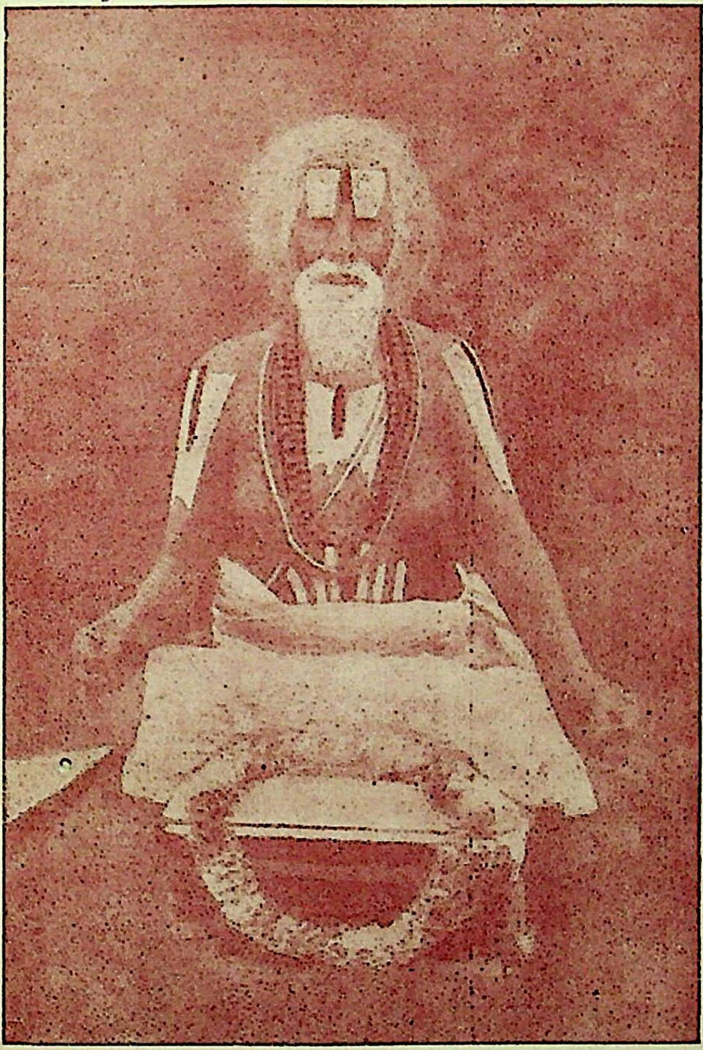
अशुद्धम्	पृ०	पं०	शुद्धम्
यथा च	१७१	३	यथा त्व न
खद्वायां	१७२	१३	खट्वायां
मृद्रूपं	१७४	१४	मृद्रूपं
अस्मिनपक्षे	१७६	३	अस्मिन्पक्षे
सार्थ्यक्य	१७६	८	सार्थक्य
तदपिपूर्वमेव	१७७	२	पूर्वमेव
त्याहिभिः	१७७	१८	त्यादिभिः
स्वरसिकापगतौ	१८०	१७	स्वरसिकावगतौ
निरूपिता	१८२	२	निरूपित
व्यावहारिकत्वं	१८६	७	व्यावहारिकं
पारमार्थिकत्वमिति	१८६	८	पारमार्थिकमिति
संकोचन	१८६	१०	संकोचेन
प्रत्यक्षा च	१९४	२१	प्रत्यक्षा
गन्धमपि	१९५	११	गन्धोऽपि
श्रुतिमप्यनुकूलं	१९७	१४	श्रुतिरप्यनुकूला
श्रुतिशरणानां	१९५	१	श्रुतिशरणैः
दोऽहम्	२००	१६	दोहम्
पदे न	२०६	४	पदेन
ब्रह्मवोधकत्वे न	२०७	१८	ब्रह्मवोधकत्वेन
प्रतिभटत्वात्	२०७	१९	प्रतिभटत्वस्य
कर्मरूपा निद्याच	२१२	१२	कर्मरूपाविद्याच
द्विधा	२१६	५	द्विधा
श्राकाः	२२८	६	श्लोकाः
महनायप्रज्ञः	२२८	१०	महनीयप्रज्ञैः

अशुद्धम्,	पृ०	पं०	शुद्धम्
कूर्वन्ति	२२६	१५	कुर्वन्ति
वशेशिक	२३०	४	वैशेषिक
इतिवाच्यमिति	२३३	१७	वाच्यमिति
हेतुत्वेन	२३३	२०	हेतुत्वं
मुच्यमे	२३८	११	मुच्यते
सम्यद्य	२३६	१	सम्पद्य
जीवेन	२५७	६	जीवे न
चेदमाचार्य्यः	२५६	४	चेदमाचार्य्यैः
पारमार्थिकत्व अपारमथिक त्वाभ्यां	२५६	१६	पारमार्थिकत्वापारमार्थिक त्वाभ्यां
वदिनां	२६०	१०	वादिनां
वक्तव्य	२६१	३	वक्तव्यं
प्राचुर्य्यांस्य	२६४	१६	प्राचुर्य्यांशस्य
निराशकानां	२८३	२	निरासकानां

गुणैकपक्षपातिभिः सुधिभिः स्खलिता अशुद्धय स्संशोध्यपठनीया ।

॥ शुभम् ॥

प्रथमोऽनन्तरूपश्च द्वितीयो लक्ष्मणस्तथा।
तृतीयो बलरामश्च कलौ रामानुजो मुनिः



श्री १००८ श्री उत्तर तोताद्रि मठाधीश श्री वलभद्राचार्य्य
(वालदेशिकाचार्य्य) स्वामीजी महाराज
श्री वेंङ्कटेश मन्दिर, विभीषणकुन्ड, अयोध्या

सर्वदेशदशा कालेष्वव्याहत पराक्रमा ।
रामानुजार्य्य दिव्याज्ञा वर्द्धतामभिवर्द्धताम् ॥
तस्मै रामानुजार्य्याय नमः परम योगिने ।
यः श्रुतिस्मृति सूत्राणामन्तर्ज्वरमशीशमत् ॥

अखिलभुवनजन्मस्थेमभङ्गादिलीले ।
विनतविविधभूत व्रातरक्षैकदीक्षे ।
श्रुतिशिरसि विदीप्ते ब्रह्मणि श्रीनिवासे ।
भवतु मम परस्मिन् शेमुषीभक्तिरूपा ॥

पाराशर्य्य वचस्सुधामुपनिषद्दुग्धाब्धि मध्योद्धृताम् ।
संसाराग्नि विदीपनव्यपगत प्राणात्मसंजीवनीम् ।
पूर्वाचार्य्य सुरक्षितामबहुमति व्याघातदूरस्थिता ।
मानीतान्तु निजाक्षरैस्सुमनसो भौमाः पिबन्त्वन्वहम् ॥

अरन्ध्रसद्वृत्त मणीमनन्त गुण गुम्फिताम् ।
अपूर्वमालां मन्येऽहं पूर्वाचार्य्यपरम्पराम् ॥

जयति सकलविद्या वाहिनी जन्मशैलो ।
जनिपथपरिवृत्ति श्रान्ति विश्रान्ति शाखी ।
निखिलकुमतिमायाशर्वरीबालसूर्य्यो ।
निगमजलधिवेलापूर्णचन्द्रोयतीन्द्रः ॥

यत्र मे लोक कल्याण कारिणी परमाकला
द्विज रूपेण भविता या तु सङ्कर्षणाभिधा

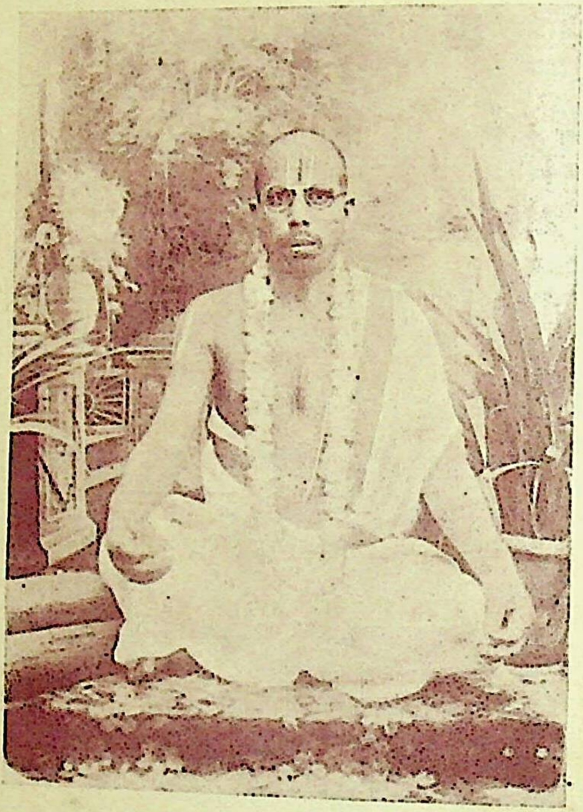
(वेदान्तरक्षामणिव्यामोहविद्रावणात्मकः)

(शांकरभाष्यसमालोचनात्मकश्च)

वेदान्तमार्त्तण्डः

द्वापरान्ते कलेरादौ पाखण्ड प्रचुरेजने
रामानुजेति भविता विष्णुधर्म प्रवर्तकः

ग्रन्थ कर्ता



श्रीमद्वेदमार्गप्रतिष्ठापनाचार्य्योभयवेदान्तप्रवर्तकाचार्य सर्वतन्त्र स्वतन्त्र जगद्गुरु
श्रीमद्भगवद्रामानुज विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तनिर्धारण सार्वभौम

श्री १००८ श्री स्वामी

पं० श्री मुरलीधराचार्य्य शास्त्री

दर्शन केशरी तर्कवाचस्पति व्याकरणाचार्य्य वेदान्त तीर्थ

श्रीकृष्णभवन

अयोध्या

॥ ❀ श्रीः ❀ ॥

श्री निवासपरब्रह्मणे नमः

॥ श्रीमते रामानुजाय नमः ॥

वेदान्तमार्तण्डः

(वेदान्तरक्षामणि व्यामोहविद्रावणात्मकः)

(शांकरभाष्य समालोचनात्मकश्च)

अशेष चिदचिद्वस्तुशेषिणे, शेषशायिने ।
निर्मलानन्त कल्याणनिधये विष्णवे नमः ॥१॥

कृत्वानवद्यं निगमान्तभाष्यं निराकृतं येन भयं श्रुतीनाम् ।
प्रतारितानामबहुश्रुतैस्तं रामानुजं योगिनमाश्रयामः ॥२॥

भगवत्पराशराद्यभिप्रेतं विशिष्टाद्वैतं तदभिप्रेतान् सिद्धान्त विशेषान् वेदान्तसूत्रद्वारा सम्यक् वर्णयन्ति बादरायणाचार्य्याः वृत्तिरूपेण प्रकाशयन्ति च बोधायन महर्षयः—

परन्तु कालक्रमादर्वाचीनैः व्याख्यातृभिराकुलीभूतस्यास्य सदर्थ प्रकाशनेन रक्षणायैव शेषापरावतारभूतानाम् श्री भगवद्रामानुजाचार्य्यपादानामाविर्भावः ।

आचार्य्यपादाःहि ब्रह्मसूत्रस्य व्याख्यानभूतं श्री-भाष्यग्रन्थं विधाय जगति यथोपकारं सम्पादितवन्तः न तथान्ये दर्शन प्रणेतारः,

अन्येषांहि आग्रह गृहीत व्याख्यातृत्वे—युष्मदस्मदोर्विषय विषयिणोः तमः प्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोः—

सूत्राणित्वेवं योजयितव्यानि—वेद सूत्रयोर्विरोधे सूत्राणि अन्यथा नेतव्यानित्यादिस्वोक्तानि वाक्यजातान्येव प्रमाणानि

श्रीभाष्यग्रन्थे न कुत्रापि व्याहत भाषिता ऋषिसम्प्रदाय विरुद्धता चोपलभ्यते यतः सूत्राक्षराणि व्याख्यास्यन्ते इति ग्रन्थारम्भे एव प्रतिज्ञोपलभ्यते ।

श्री भगवद्रामानुजाचार्य्यपादैर्हि ब्रह्मसूत्र व्याख्या-नात्मकं श्रीभाष्यग्रन्थं विधाय वेदान्त विरुद्धमतं प्रमाणैः, युक्त्यादिभिश्च यथोपक्षिप्तम् न तथान्यैः ।

श्रीभाष्य विषये (श्लाघनीयोसिमेरिपुः) इति महर्षि बाल्मीकि वाक्यमेवोदाहरणम्—

श्रीरामवीर्य्यं दृष्ट्वा यथा तद्विपरीतगामिनः रिपवोपि प्रशं-सन्ति तथैव श्रीभाष्ययुक्तिविशेषदर्शनेन प्रमाणादि समन्वय चातुर्य्य दर्शनेन विस्मिताः भवन्ति विपक्षिणोपि ।

किं पुनः प्रमाणतंत्राणां साधूनां वक्तव्यमिति यथा च प्रमाणतंत्राणां श्रीरामः साक्षात् परब्रह्म नारायण स्वरूपस्तथैव श्रीभाष्य ग्रन्थोपि वेदस्वरूप एव ॥

यद्यप्यर्वाचीनैर्वेदान्तविरुद्धवादिभिः स्वमत प्रतितिष्ठापयिषया हेत्वाभासात्मकैर्युक्तिविशेषैः,

श्रीभाष्यमुपलक्ष्य विविधाः आक्षेपाः कृताः परन्तु देवकल्पैः श्रीभाष्यानुयायिभिः श्रुतप्रकाशिकाचार्य्य वेदान्ताचार्य्य महाचार्य्य प्रभृतिभिः, वज्राघात सदृशैः-श्रुतप्रकाशिका शतदूषणी चण्डमारुत पाराशर्य्य विजयादि निबन्धैः शतशः तूलवन्निरस्ताः—अनन्तरं श्री वादावलीकाराः पण्डितमण्डली सार्वभौमाः श्री शैलपूरुष श्री आनन्दाल्वार श्री अनन्तार्य्य स्वामिपादाः

श्रीभाष्य परिष्कारेण अद्वैतसिद्धि प्रभृति ग्रन्थादि निराशेन चिरस्मरणीयाः श्री सम्प्रदायानुयायिनाम्—

महामहोपाध्यायोपनामकैः अनन्तकृष्ण शास्त्रिमहोदयैः पूर्वाद्वैतिभिः संगृहीतान्येव दूषणानि प्रकारान्तरेण संगृह्य श्रीभाष्य दुदूषयिषया अद्वैतमत प्रतितिष्ठापयिषया च श्रीभाष्य समालोचनात्मकः वेदान्तरक्षामणिर्ग्रन्थः निबद्धः—ग्रन्थदर्शनेन (प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहूरिव वामनः) इति महाकवि कालिदासस्योक्ति विषय एव भवति अनन्तकृष्णशास्त्रिमहोदयः-वेदान्तरक्षामणि ग्रन्थे बहवोहि अद्वैत सिद्धान्त विरुद्धता श्रीभाष्य पंक्त्यनभिज्ञता परस्पर व्याहत भाषितादि दोषास्समुपलभ्यन्ते

अस्माभिः सर्वस्य प्रदर्शनेन ग्रन्थ वाहुल्यं मत्वा वालैरपि समाधेयतया च केवलं चिरस्थायित्वेनाभिमतान्येव अद्वैत्युद्भावितानि श्रीभाष्य दूषणानि विदुषामामोदाय तदीया ज्ञान प्रकाशाय च विचार्य्य निरस्यन्ते ।

तत्र प्रथमं अथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्याद्यं वादरायण सूत्रमादाय विचारे प्रवृत्ताः भाष्यकाराः तत्र श्रीभाष्यकाराणां कीदृशाशयः, अद्वैतिनां च कथं विचार इति विवेकः प्रथमः श्रीभाष्यकाराहि आनन्तर्य्ये प्रसिद्धस्याथ शब्दस्य स्वरसप्राप्त कर्म विचारानन्तर्य्यार्थकतया, अत इति हेतु वाक्यस्योपोद्घलकतया–कर्म विचारानन्तर्य्यं तत एव हेतोर्ब्रह्म विचारः कर्तव्यः–कर्मफले क्षयित्वमल्पत्वादिकं दृष्ट्वा ब्रह्मज्ञाने अमृतत्व वहुत्वादिकं दृष्ट्वा ब्रह्मविचारःकर्तव्य इति सूत्राशयः । मोक्ष साधनं ब्रह्मज्ञानं च वाक्यार्थ ज्ञानादन्यदुपासनात्मकं तच्च दर्शन समानाकारं (आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इत्यनेनाभिधीयते—चिदचिदीश्वरतत्वस्य पारमार्थिकत्वात् सर्वेपि पदार्थाः सत्यभूता अविद्यानिवृत्तिरेवमोक्षः इति स्वीकुर्वन्ति,,

अद्वैतिनस्तु-स्वरसप्राप्त कर्म विचारस्यत्यागेन साधन चतुष्टय सम्पत्त्या नन्तर्य्य मेवाथ शब्दार्थः–पूर्वोत्तर मिमांशयोर्भेदः निर्विशेष ज्ञान मात्र ब्रह्मातिरिक्तं कृत्स्नं मिथ्या वाक्य जन्यं ज्ञानमेवाविद्यानिवर्तकमित्यादिकं वदन्ति ।

यथा चाद्वैतमतमसंगतमशास्त्रीयम् तथा पूर्णतया विविच्यते अविद्या निवृत्तिरेव मोक्षः साच ब्रह्मज्ञानादेवेति श्रीभाष्यकारा, अपि मन्यन्ते, इदमेवतु विवादास्पदं यदविद्येयं नापारमार्थिकीति श्रीभाष्यकाराः, अपारमार्थिकीत्वद्वैतिनः, तेषामाशयस्तुनिवर्त्यस्य सत्यत्वे प्रमाणतंत्र साक्षात्कार रूप ज्ञान निवर्त्यत्वं न वयमपि मन्यामहे किन्तु तत्सत्यत्वग्राहक प्रमाणाभावात्—मिथ्याभूतत्वाच्च भेदानाम् निर्विशेष ब्रह्म साक्षात्कारोपि पुरुष तन्त्रो दृष्ट विधयैव वन्धनिवर्तकः, नादृष्टद्वारा, मिथ्या सर्पदष्ट विषस्य ज्ञानमात्र निवर्त्यत्वस्य सर्वसम्मतत्वात् ब्रह्म साक्षात्कार रूप ब्रह्मज्ञानेन साक्षात्कर्मणामुपयोगः किन्तु विविदिषायामेवोपयोगः-अत्रेदं सर्वविदितम् ।

यदि वाक्य जन्य ज्ञानमपुरुष तन्त्रं ब्रह्म साक्षात्कार रूपं मोक्ष साधनं तर्हि अद्वैतमतं वेदान्तार्थः । यद्युपासनात्मकमेवतत् तर्हि श्री विशिष्टाद्वैतमतं वेदान्तार्थः,

तत्र श्रीभाष्यमते विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत, अनुविद्य विजानाति, ओमित्येवात्मानमनुध्यायीत, आत्मानमेवलोकमुपासीत, आत्मा वाअरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इत्यादि विधि वाक्यानि प्रमाणानि ।

अद्वैत मतेत्वेतेषां ज्ञानविधित्वाभाव इति भामती मतम् । विधित्वेपि द्रष्टव्य इत्यस्मिन्नंशे न विधित्वम् किन्तु श्रवणा-

दावेव, श्रवणादि जन्यं वाक्यार्थज्ञानं तु केवलं न फलम्— किन्तु साक्षात्कार रूपमेव। तत्र भामती मते—भावना प्रकर्ष सहकृतान्तःकरण रूपेन्द्रिय जन्यत्वात् आत्मज्ञानस्य साक्षात्कारत्वम्, द्वितीयमतेतु शाब्दापरोक्षवाद स्वीकारात् शब्द जन्यत्वे नैव। अयमपरोविशेष :-यत् श्रीभाष्यमते ध्यानस्यैव विधिः, श्रोतव्यो मन्तव्य इति नित्यानुवादः। ध्यानं चेदं ध्रुवानुस्मृतिरूपत्वात् दर्शन समानाकारतां प्राप्तं सद्द्रष्टव्य इति विधीयते। अद्वैत मतेतु ध्रुवानुस्मृतिरुपाया दर्शनत्वासंभवेन, दर्शनसमानाकारत्वे द्रष्टव्यपदगौणत्वापत्त्या च दर्शनमेव मननादिना वाक्यजन्यं मोक्षसाधनमविद्यानिवृत्ति द्वारेति मन्यन्ते.

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्यकर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

इत्यादि वाक्येनैकार्थ्यात्। नहि भावना प्रकर्षजत्वेन स्मृतेः साक्षात्कार रूपता दृष्टचरी, अन्यथा भावना प्रकर्षजत्वेन योगिप्रत्यक्षं श्रीभाष्यकाराणामपि स्वीकर्तव्यं स्यात्, इत्युत्तरत्र शास्त्रयोनित्वाधिकरणे तन्निराकरणमसङ्गतम् स्यात्–तथा च स्मृतिः प्रत्यक्षमिति च व्याहत भाषण मित्यादिना पण्डितमन्येनानन्तकृष्ण महोदयेन वेदान्त रक्षामणिग्रन्थे श्रीभाष्योपरि समालोचकता प्रदर्शितेति ॥

अत्रोच्यते, तत्र यदुक्तमविद्यानिवृत्तिरेव मोक्षः, साच ब्रह्मविज्ञानादेवेति, इदमेव तु विवादास्पदम् यदविद्येयं नापारमर्थिकीति श्रीभाष्यकाराः मन्यन्ते अपारमार्थिकीत्वद्वैतिन इति

तन्न, नह्यद्वैताभिमत मुक्तिस्वरूपे श्रीभाष्यकाराणां-तात्पर्यं किन्तु, अविद्यानिवृत्ति विशिष्टानन्दज्ञानेव मुक्त शब्दार्थः।

अविद्या, स्वरूपेऽपि, अविद्याकर्मसंज्ञान्या तृतीयाशक्ति रिष्यते, यया क्षेत्रज्ञ शक्तीसा वेष्टिता नृप सर्वगा, इति विष्णु-पुराण प्रतिपाद्या कर्मरूपाविद्या श्रीभाष्यकाराणाम्,

सकलप्रमाणादिरहिता केवलकपोलकाल्पनिकी अनिर्वचनीयपदेन व्यवहृयमाणा मूलादि संज्ञिता अविद्यामृषा-वादिनामत एव, अनिर्वाच्याविद्या द्वितयसचिवस्य प्रभवतो विवर्तायस्यैत इत्यादिना भामतीकारापि पठन्ति।

किमत्र वक्तव्यमविद्या निवृत्तिरेव मोक्ष इति भाष्यमादाय—स्वमतेहि अविद्या निवृत्तिर्नाम स्वाभाविक धीप्रसर प्रति-वन्धकस्य कर्मणोऽत्यन्तोच्छेदः, सच भावान्तररूपः; अविद्या-तन्निवृत्ति ब्रह्मतद्विज्ञानेषु तत्तत्प्रकार विशेषतो विमतिरस्त्येव, इत्यादिना तत्व टीकायां व्याख्यातं वेदान्ताचार्य्यैः, साच कर्म रूपाविद्या सत्यैवेति, यावता प्रमाणेन यस्य मिथ्यात्वं न साध्यते तावदुपलब्धं सत्यमेवेति सर्वदर्शन राधान्तः नहि सत्यत्वे

दावेव, श्रवणादि जन्यं वाक्यार्थज्ञानं तु केवलं न फलम्— किन्तु साक्षात्कार रूपमेव। तत्र भामती मते—भावना प्रकर्ष सहकृतान्तःकरण रूपेन्द्रिय जन्यत्वात् आत्मज्ञानस्य साक्षात्कारत्वम्, द्वितीयमतेतु शाब्दापरोक्षवाद स्वीकारात् शब्द जन्यत्वे नैव। अयमपरोविशेष :-यत् श्रीभाष्यमते ध्यानस्यैव विधिः, श्रोतव्यो मन्तव्य इति नित्यानुवादः। ध्यानं चेदं ध्रुवानुस्मृतिरूपत्वात् दर्शन समानाकारतां प्राप्तं सद्द्रष्टव्य इति विधीयते। अद्वैत मतेतु ध्रुवानुस्मृतिरुपाया दर्शनत्वा संभवेन, दर्शनसमानाकारत्वे द्रष्टव्यपदगौणत्वापत्त्या च दर्शनमेव मननादिना वाक्यजन्यं मोक्षसाधनमविद्यानिवृत्ति द्वारेति मन्यन्ते.

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्यकर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

इत्यादि वाक्येनैकार्थ्यात। नहि भावना प्रकर्षजत्वेन स्मृतेः साक्षात्कार रूपता दृष्टचरी, अन्यथा भावना प्रकर्षजत्वेन योगिप्रत्यक्षं श्रीभाष्यकाराणामपि स्वीकर्तव्यं स्यात्, इत्युत्तरत्र शास्त्रयोनित्वाधिकरणे तन्निराकरणमसङ्गतम् स्यात्-तथा' च स्मृतिः प्रत्यक्षमिति च व्याहत भाषण मित्यादिना पण्डितमन्येनानन्तकृष्ण महोदयेन वेदान्त रक्षामणिग्रन्थे श्रीभाष्योपरि समालोचकता प्रदर्शितेति॥

अत्रोच्यते, तत्र यदुक्तमविद्यानिवृत्तिरेव मोक्षः, साच ब्रह्मविज्ञानादेवेति, इदमेव तु विवादास्पदम् यदविद्येयं नापारमर्थिकीति श्रीभाष्यकाराः मन्यन्ते अपारमार्थिकीत्वद्वैति-न इति

तन्न, नह्यद्वैताभिमत मुक्तिस्वरूपे श्रीभाष्यकाराणां-तात्पर्यं किन्तु, अविद्यानिवृत्ति विशिष्टानन्दशानेव मुक्त शब्दार्थः।

अविद्या, स्वरूपेऽपि, अविद्याकर्मसंज्ञान्या तृतीयाशक्ति रिष्यते, यथा क्षेत्रज्ञ शक्तीसा वेष्टिता नृप सर्वगा, इति विष्णु-पुराण प्रतिपाद्या कर्मरूपाविद्या श्रीभाष्यकाराणाम्,

सकलप्रमाणादिरहिता केवलकपोलकाल्पनिकी अनि-र्वचनीयपदेन व्यवहृयमाणा मूलादि संज्ञिता अविद्यामृपा-वादिनामत एव, अनिर्वाच्याविद्या द्वितयसचिवस्य प्रभवतो विवर्तायस्यैत इत्यादिना भामतीकारापि पठन्ति।

किमत्र वक्तव्यमविद्या निवृत्तिरेव मोक्ष इति भाष्यमादाय-स्वमतेहि अविद्या निवृत्तिर्नाम स्वाभाविक धीप्रसर प्रति-वन्धकस्य कर्मणोऽत्यन्तोच्छेदः, सच भावान्तररूपः; अविद्या-तन्निवृत्ति ब्रह्मतद्विज्ञानेषु तत्तत्प्रकार विशेषतो विमतिरस्त्येव, इत्यादिना तत्व टीकायां व्याख्यातं वेदान्ताचार्य्यैः, साच कर्म रूपाविद्या सत्यैवेति, यावता प्रमाणेन यस्य मिथ्यात्वं न साध्यते तावदुपलब्धं सत्यमेवेति सर्वदर्शन राधान्तः—नहि सत्यत्वे

प्रमाणमन्वेषणीयम्—अपितु मिथ्यात्वे प्रमाणमन्वेषणीयम् ।

एतेन निवर्त्यस्य सत्यत्वे प्रमाण तन्त्र साक्षात्कार रूपज्ञान निवर्त्यत्वं न वयमपि मन्यामहे किन्तु तत्सत्यत्वग्राहक प्रमाणाभावादित्युक्तिरपि निरस्ता यतः अवाधितानां प्रमाणानां तत्सत्यत्व ग्राहकत्वं स्वभाव सिद्धम् । अतएव दोषजन्यत्वेन शुक्तौ जायमानस्येदं रजतमिति प्रत्यक्षस्योत्तर कालेनेदं रजतमिति बाधादेवाप्रमात्व निश्चयः । न तथा प्रत्यक्षेण गृह्यमाणस्य प्रपञ्चस्य प्रत्यक्षेण श्रुतिस्मृत्यादिभिर्वाबाधः कुत्राप्युपलभ्यते प्रत्युत सर्वस्य सत्यत्व ग्राहकाण्यनेकान्येव प्रमाणानि ॥

अचेतना परार्थाच नित्या सतत विक्रिया,
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्
वाचा रम्भणो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ।

पराशरोपि—

तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनि वराखिलम् ।
आविर्भाव तिरोभाव जन्मनाशविकल्पवत् ॥

इत्यादिभिः ॥ सत्यत्वमाह—

किञ्च स्वर्गं प्रति पुण्य रूपस्य कर्मणः नरकं प्रति पाप रूपस्य कर्मणो हेतुत्वं सर्वैरभ्युपगम्यते

श्रुतिस्मृति मीमांसादिषु च स्पष्टोयमर्थः, मिथ्यात्वे पुण्य पापादीनां स्वर्ग नरकाद्युत्पादने कथं चिदपि न हेतुत्व सम्भवः

नहि मिथ्याभूतस्य कुत्रचिदर्थोत्पादकत्वे हेतुत्वंदृष्टम् न, भवति खलुमिथ्यासर्पः विषोत्पादने कारणम् किन्तु सत्यएव सर्पः विषोत्पादने हेतुः। अतो न कथञ्चिदपि सत्यत्वे विवादः

किञ्चासत्यत्ववादिनं,

असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम्,
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥

इति वदन्तः श्री गीताचार्य्याः स्पष्टमेव तिरस्कुर्वन्ति।

यदि च मिथ्यात्वमेव सिद्धम्—तर्हि कथमद्वैतानुयायिनः मिथ्यात्वसाधने निरन्तरं रताः भवन्ति—कथं च नाद्वैतसिद्धि-प्रभृतिग्रन्थ प्रणेतारोऽज्ञानिनः।

अपरमपि महदाश्चर्य्यं सर्वस्यमिथ्यात्वं जानन्त एव भवन्तोपि मिथ्यात्वसाधने जीर्णानुमानं प्रदर्शयन्ति। अयं पटः एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव प्रतियोगी, अंशित्वात्, इतरांशिवत्। भवतु, इदमनुमानं मिथ्यात्व साधकम्—

परन्तु भवद्रीत्यामिथ्यात्वस्यस्वतः सिद्धत्वेन सिद्धसाधनाख्यं दूषणं विस्मृत्यैवोक्तम्—स्वरीत्यापि दोषस्य निवार्य्यत्वात्।

"अनुमानमिदं चित्सुखाचार्य्य प्रोक्तम्"—

तदप्यसंगतम्

विशिष्टाभावमुभयाभावं सम्बन्धान्तरावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावंचादाय सिद्धसाधनात्। वैशिष्ट्यव्यासज्यवृत्ति धर्मानवच्छिन्नत्वेमति तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नत्वस्य प्रतियोगितायां निवेशेपि न विस्तारः।

व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नेपि तदवच्छिन्नत्वस्य द्वित्वादिनाऽभावसत्वात् ,, व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नं यत्तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न भेदकूटवत्वस्य, असर्वज्ञ दुर्ज्ञेयत्वात्। व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेदनिवेशेऽपि. एतत्पट तत्पटोभयत्वावच्छिन्नप्रतियोगितायाः स्वभिन्नत्व व्यासज्यवृत्ति धर्मावच्छिन्नत्वोभयत्वावच्छिन्न भेदवत्वात्स्वभिन्नत्व विशिष्ट व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नत्वावच्छिन्नभेदवत्वाच्च तदव्यावृत्तेः।

न च स्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसम्बन्धेन व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नत्वविशिष्टभेदस्य प्रतियोगिताविशेषणत्वान्नानुपपत्तिः, निरुक्तोभयाद्यवच्छिन्न प्रतियोगिताच तादृशोभयत्वाद्यवच्छिन्नस्यैव संसर्गो नतु प्रत्येकं व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नत्व विशिष्टस्य, तद्धर्मपर्य्याप्तावच्छेदकताक प्रतियोगिता-तद्धर्मावच्छिन्नस्यसंसर्ग, इतिस्वीकारादुक्तभेदव्यावृत्तिरितिवाच्यम्—

एवमपि प्रतियोगितायाः प्रतियोगिस्वरूपत्वपक्षे बाधः, एतत्पटत्वावच्छिन्नैतत्पटात्मक प्रतियोगिताया एव वैशिष्ट्या-

ग्रवच्छिन्नत्वात् सम्बन्धान्तरावच्छिन्न प्रतियोगिताया अपि तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नत्वात् । प्रतियोगिताया अतिरिक्तत्वेपि यादृश प्रातिभासिक विशेषस्य वैशिष्ट्यव्यासज्यवृत्तिधर्माभ्यामेवभानं तादृश प्रातिभासिके व्यभिचारश्चेत्यादिना वादावलीकारस्वामिपादैर्निरस्तम् विस्तरस्तु—न्यायभास्करे द्रष्टव्यः ।

किञ्च—अयं पट एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी न एतत्तन्त्वारब्धत्वात् , व्यतिरेकेण पटान्तरवदित्यनेनसत्प्रतिपक्षोपि—तस्मात् चित्सुखानुमानंजीर्णमेव ।

एवञ्चोपासनात्मकज्ञानमेवभगवत्प्रसाद द्वारा भगवत्प्राप्ति प्रति हेतुः न वाक्य जन्यं ज्ञानं तस्य वाक्यादेव सिद्धत्वात् उपासनायांतु—ओमित्येवात्मानमनुध्यायीत, आत्मानमेवलोकमुपासीत् , आत्मा वा अरेः द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः, विज्ञायप्रज्ञां कुर्वीत, इत्यादि विधिवाक्यान्येव प्रमाणानि ।

यदप्युक्तम्—अद्वैतमतेत्वंतेषां ज्ञानविधित्वाभाव इति भामती मतम् , विधित्वेपि द्रष्टव्य इत्यस्मिन्नंशे न विधित्वम् किन्तु श्रवणादावेवेति, तदपिसंशयाक्रान्त हृदयत्वमावेदयति भवन्तम् एकत्र विधित्व स्वीकारः, अन्यत्र विधि निषेध इति कथनं नूनं भवतो भामतीकारस्य वा, अपाण्डित्यंस्पष्टयति ।

मयापि वाक्यार्थः विचार्य्यते—आत्मावाअरे द्रष्टव्यः

श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इत्यत्र तव्य प्रत्ययस्य सर्वत्र दर्शनेन श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इत्यत्र त्रिषु विधित्वस्वीकारः अथच द्रष्टव्यस्थले विधिभङ्गश्चाद्वैतिनां किन्निबन्धनः।

किं ज्ञानस्याभाव्यरूपत्वेन—अथाभावार्थत्वेन साक्षात्पुरुष व्यापारत्वाभावेनवेति पृच्छामः—

न तावत्प्रथमःकल्पः, नैयायिकानां नये, आत्मविशेषगुणस्यज्ञानस्य-अद्वैतमतेवृत्तिरूपस्यज्ञानस्य, अस्मन्मते ज्ञानस्य नित्यत्वेपि तत्तदवस्थाविशेषविशिष्टस्योत्पत्तिस्वीकारेण भाव्यत्वात्।

नापि द्वितीयः सर्वत्र भावार्थत्वस्यैव दर्शनात् निर्दिशति च पाणिनिः, ज्ञा, अवबोधने।

न तृतीयः तथाहि तत्र पुरुषपदेन आत्मनोग्रहणं शरीरस्यवेति प्रथमे सर्वानुमतायाः प्रक्षेपादेर्विधेयतायाः भंगप्रसंगः। द्वितीयेतुत्यागादेर्विधेयता न स्यात्

तस्मात् द्रष्टव्य इत्यत्र विधित्वस्वीकारः, आवश्यकः।

किञ्च यदि ज्ञानस्याविधेयत्वमंगीकृत्य, विधेर्ताडनम् तर्हि श्रवण मनन निदिध्यासनादीनामपि अविधेयत्वं किन्नेष्यते, एतेषामपिज्ञानस्वरूपत्वं सर्वाभ्युपगतम्।

किञ्च यदि ध्यानफलतया दर्शनमनुद्यते तर्हि श्रवणफल-

तया मननस्य, मननफलतया ध्यानस्यचानुवादः कुतोनाङ्गी क्रियते—अर्धजरतीयस्यानौचित्यात्

निदिध्यासितव्य इत्यत्र ध्यानं विधीयते तत्र ध्यानफलं किमित्याकांक्षायांतदर्थं दर्शनमनुद्यते इत्यपि वक्तुं न शक्यते (उपस्थितेऽतस्तद्वचनादिति सूत्रेणैव स्वरूपाविर्भाव पूर्वकानवधिकातिशय ब्रह्मानुभवस्य सिद्धत्वेन तेनैवाकांक्षायाः शाम्यत्वेन विधिविघातः जड़मतिभ्य एव स्वदते ,

अतो द्रष्टव्य इत्यत्र विधिनिराशकर्ता भामतीकारः— नात्र शोभते—केवलं कथैकशीलत्वात् भामतीकारस्य। इत्येवांगीकर्त्तव्यम्।

श्री भाष्यकारास्तु—स्वाध्यायस्यार्थ परत्वेन अधीत वेदः पुरुषः प्रयोजनवदर्थाववोधित्वदर्शनात्तन्निर्णयाय स्वयमेव श्रवणे प्रवर्तते—अर्थात् सांगसशिरस्क वेदाध्ययनेनापातप्रतीत्त्याजायमानस्यार्थनिर्णयाय, अधीतवेदः पुरुषः स्वयमेवश्रवणे प्रवर्तते, इति श्रवणस्यरागत एव प्राप्तत्वेन न तत्र विध्यपेक्षा— श्रुतस्यार्थस्य रक्षणं मननंविना न संभवतीति श्रवण प्रतिष्ठार्थत्वात् मननस्यापि रागत एव प्राप्तत्वेनानुवाद एव यतः,, अप्राप्त एव शास्त्रमर्थवद् भवतीति न्यायविदः। तस्माद्रागतः प्राप्तयोः श्रवण मननयोरिहानुवाद एव, आप्रयाणमहरहरनुवर्तनीयस्याभ्यासाधेयातिशयस्य तैलधारावदविच्छिन्नस्मृति-

सन्ततिरूपस्यध्यानस्याप्राप्तत्वाद्विधेयमेव, तस्मादेवंरूपस्यध्यानस्य अप्राप्तत्वात् निदिध्यासितव्य इति विधिः ।

एतावतानिदिध्यासितव्यो द्रष्टव्य इत्युभयोर्विधित्वस्य स्वारसिक प्राप्तौ किं पृथग्विधित्व स्वीकारः—

आहोस्वित विशिष्टविधिः–इति विचारः, तत्र क्वचिद् ध्रुवास्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः, इति ध्रुवा-स्मृतिरेव मोक्षसाधनम् , स्मृतिलम्भे, इति सप्तम्याः श्रूयते

क्वचित्तु—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः ,
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

सप्तम्या एव तस्मिन् दृष्टे परावरे, इत्यनेन दर्शनस्य मोक्षंप्रति पृथक्कारणत्वं श्रूयते–

एवञ्च सिद्धसाध्यसमभिव्याहारस्थले यस्य यदपेक्षया प्राक्कालीनत्व रूपसिद्धत्वं प्रतीयते–असतिबाधके तस्य तद्धे-तुत्व नियमेन—उद्देश्यतावच्छेदक विधेययोः कार्य्यकारणभावस्यच (पाथसिपीते तृष्णाशाम्यति, धनवान् सुखीत्यादौक्लृप्तत्वेन, तेनैवन्यायेन ध्रुवानुस्मृतेर्दर्शनस्य च मोक्षं प्रतिकारणत्वस्य च प्राप्तत्वेन न तावदेक फलं प्रतिवैकल्पिकानुष्ठानम् गुरुलघु-विकल्पायोगात्–नापिसाध्य साधनभावः–सप्तम्याः प्रयोज्य-प्रयोजक भावस्यस्पष्टोक्तत्वात्–नापिसमुच्चयः, यौगपद्यस्या-संभवात्—

अतः सामान्यशब्दानां विशेषे पर्य्यवसानस्य सर्वराधान्त सिद्धत्वेन तेनैवन्यायेन ध्रुवानुस्मृतेर्दर्शनरूपत्वाश्रयणेन विशिष्ट-विधिविधायकतया यथा न विकल्पादि दोषावसरः ।

तथैवात्रापि निदिध्यासितव्य इत्यनेन ध्रुवास्मृतिरुच्यते-एवंस्थिते सति निदिध्यासितव्य द्रष्टव्ययोर्कस्य मुख्यत्वं गौणत्वंकस्येति विचारे—दर्शनशब्दस्य श्रावणज्ञानादिष्वप्रयुज्य-मानस्य चाक्षुषज्ञानमेव मुख्यम्–(तत्तु-न चक्षुषागृह्यते नापि वाचा मनसा तु विशुद्धेन) इत्यादिना निरस्तम् । अतो ज्ञान-विशेषे दर्शनशब्दस्य लक्षणावाच्या–तथा च मोक्ष साधनतया श्रूयमाणस्य ध्रुवास्मृतिरूपस्यध्यानस्य वैशद्यद्योतकतयानिदि-ध्यासितव्य इत्यत्र दर्शनं विधीयते ।

दर्शनं प्रतितुध्रुवानुस्मृतिरूपस्यध्यानस्योपचारेनातिशय-सिद्धिः-अतो दर्शनस्यैवध्यानं प्रतिवैशद्यद्योतकतयोपचारः । तस्माद् मुख्यतया विधीयमानं ध्यानं प्रत्येव द्रष्टव्य इति विधीयते—

अतो मोक्षसाधनतया विधीयमानंध्यानंप्रीतिरूपतापन्न दर्शन समानाकारध्रुवानुस्मृतिरूपमितिफलितम् । प्रीतिरूप-त्वंचात्रानुकूलत्वप्रकारत्वम्—अनुकूलत्वम् , यद्धर्मावच्छिन्न-विषयता, इतरेच्छानधीनेच्छाजनकतावच्छेदिका तादृश धर्म-रूपंवैजात्यम्–दर्शन समानाकारत्वंच प्रत्यक्षत्वव्यंजकविषयिता-वत्वमेव—स्मृतेर्दर्शन समानाकारत्वंहि (वृक्षे वृक्षे च पश्यामि चीरकृष्णाजिनाम्बरमित्यादौसुव्यक्तम् ॥

एवं रूपध्यानमेव भक्त्युपासनादिपदैः र्व्यवहृयते—

यथोक्तं शतदूषण्यां-(वेदनंध्यानविश्रान्तं ध्यानंश्रान्तं ध्रुवास्मृतौ। साच दृष्टित्वमभ्येति, दृष्टिर्भक्तित्वमृच्छति॥ एवं रूपायाःभक्तेर्मोक्षंप्रत्युपायत्वं वेदान्ते दृष्टचरम्—सैव भक्ती गीताप्रतिपाद्यामुक्तिसाधनी भूता।

भक्त्यास्त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोर्ऽजुन।
ज्ञातुंद्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥
तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीति पूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं, येनमामुपयान्ति ते॥
नाहं वेदैर्नतपसा न दानेन नचेज्यया।
शक्य एवं विधोद्रष्टुं दृष्ट्वानसि मां यथा॥

वेदे गीतायां च भक्तेर्मुक्त्युपायत्व कथनेन-उपबृंहणोपबृंहणीययोरविराधोपि विशिष्टाद्वैतिनाम्। यतः वेदव्याख्यानभूत गीतायामपि भक्तेःर्मुक्त्युपायत्व कथनेन भक्तेर्मुक्ति साधनत्व प्रतिपादक व्याख्येय वेदेनसहाविरोधोऽस्माकम्।

अद्वैतिनांतु वाक्यार्थज्ञानमेव मुक्ति साधनम् वेदे, तद्विपरीता भक्तिरेवमोक्षसाधनीभूतेति गीतायां, तथा च व्याख्यान व्याख्येययोः परस्परं विरोधो दुर्वच एव।

एतेन भक्त्या साक्षात्कारः ततोलभ्यस्तथा च भक्त्यास्त्वनन्ययाशक्य अहमेवं विधोर्जुन, इति गीतावाक्येन न विरोधः—

भक्त्यामामभिजानाति यावान् यश्चास्मितत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

इति गीतावाक्यमप्यनुकूलमित्युक्तिरपि परास्ता —

भक्त्यास्त्वनन्ययाशक्य अहमेवं विधोऽर्जुन,
ज्ञातुंद्रष्टुंच तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ।

इत्यत्र भक्त्याः प्रवेष्टुं शक्यते इत्यन्वयेन प्राप्तेरपि भक्ति-साध्यत्वस्यस्पष्टोक्तत्वात्–पुरुषः स परः पार्थभक्त्यालभ्यस्त्व-नन्यया इति गीता विरोधाच्च ।

भक्त्यामामभि जानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतोज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

अत्रापि ततो मां विशत -इति तच्छब्द परामृष्टाया, भक्ते रेव प्राप्त्युपायत्वमवगम्यते तत इति भक्तिपरामर्शाभावे तद-नन्तरमित्यनेन पौनरुक्त्य प्रसंगात्–अतश्च भक्तिरेवाव्यवहितो-पायः, इत्यादिभिः, श्रुतप्रकाशिकाचार्य्यैरेवाद्वैतमतं निरस्तम् । पौनरुक्त्य परिहारेऽसमर्थाएवाद्वैतिनः भवतापिनोत्तरं किमपिदत्तं कथा मात्रेणैवसन्तुष्यते । तस्मात्सिद्धं श्री भग-वद्रामानुजाचार्य्याभिमताभक्तिरेव मोक्षसाधनी भूता–सैव वेद-गीतादिसम्मतेति ॥

भक्तिर्मुक्तेरुपायः श्रुतिशतविहितः साच धीः प्रीतिरूपा-तन्निष्पत्त्यै फलेच्छाद्युपधिविरहितं कर्मवर्णाश्रमादेः । ज्ञान-

ध्यानादिवाचां समफलविषया सैव युक्ता प्रतिष्ठा सामान्योक्तिः
समान प्रकरणपठिता पर्यवस्येद्विशेषे ॥१॥

ध्यानाद्युक्त्याध्रुवानुस्मृतिरिहविहिता ग्रन्थिमोक्षाय सैव-
स्पष्टादृष्टिस्तथैव श्रुतफल विषया सेवनत्वादुपास्तिः ।

क्वाप्यैकं विद्युपास्त्योःव्यतिकरितगिराभक्तिमेवाहगीता—
सर्वतद्वित्तिमात्रे फलवति विफलं तेन सैवं विशिष्टा ॥२॥

इत्यादिभिः श्रीवेदान्ताचार्य्यैः तत्त्वमुक्ताकलापे सकल-
शास्त्रसमन्वयपूर्वकं भक्तेर्मुक्त्युपायत्वं सम्यग्वर्णितम्—निर-
स्तश्च शांकरादिमतमिति, तस्माद् वेदस्मृतिपुराणादि सम्मतोयं
श्रीमद्रामानुज सिद्धान्त एव निःश्रेयस्करः। न खलु वेदाद्य-
संमतोऽद्वैत सिद्धान्तः लोकोज्जीवनाय समर्थः ।

नहि भावना प्रकर्षजत्वेनस्मृतेः साक्षात्काररूपता दृष्टचरी,
अन्यथा भावना प्रकर्षजत्वेन योगिप्रत्यक्षं श्रीभाष्यकाराणामपि-
स्वीकर्तव्यं स्यात्—

इत्युत्तरत्र शास्त्रयोनित्वाधिकरणे तन्निराकरणमसंगतंस्यात्
तथा च स्मृतिः प्रत्यक्षमिति च व्याहतमिदम्, इति भव-
त्संपादितः श्रीभाष्यानुवादोऽत्यन्तायथार्थ एव श्रीभाष्यश्रुत-
प्रकाशिकाद्यनवलोकन निबन्धनोयं दोषः—अथवा सर्वतः
कृष्णस्वभावस्य भवत एव वैपरीत्यज्ञानम् ।

नहि श्रीभाष्यकारैः श्रीभगवद्रामानुजाचार्य्यपादैःस्मृतेः
प्रत्यक्षत्वं कुत्राप्युक्तम्-किन्तु सेयंस्मृतिर्दर्शनरूपा प्रतिपादिता ;

दर्शनरूपता च प्रत्यक्षतापत्तिः। एवं प्रत्यक्षतापन्नामपवर्ग-साधनभूतां स्मृतिं विशिनष्टि—नायमात्मा प्रवचनेनलभ्यो न मेधया न बहुनाश्रुतेन, इत्येवाचार्य्यग्रन्थः, प्रत्यक्षतापत्ति-रित्यस्य—प्रत्यक्षसमानाकारतापत्तिः। प्रत्यक्षतापन्नामित्यस्य-सामान्यविशेषन्यायेन प्रत्यक्षतापन्नामित्यर्थः, इति श्रीश्रुत-प्रकाशिकाचार्य्याः। भावनाप्रकर्षबलजप्रत्यक्षमपि परोक्तमेव निषिद्धम् शास्त्रयोन्यधिकरणे-स्पष्टंचेदंशतदूषण्यादिषु—

रहस्यं च प्रकाशं च यद्वृत्तं तस्य धीमतः।
तत्सर्वं धर्मवीर्येण यथावत्संप्रपश्यति ॥१॥
दीव्यं ददामि ते चक्षुः पश्यमे योगमैश्वरम्।
मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।

इत्यादिभिः प्रमाणैर्सिद्धस्य प्रत्यक्षस्य न निषेधः श्री-भाष्यसिद्धान्ते ॥ तथा च स्मृतेः प्रत्यक्षसमानाकारत्वमेव श्री-भाष्यकारैः सिद्धान्तितम्-तत्स्वरूपादिकंतु पूर्वमेव विवेचितम्—अस्मिन् प्रसंगे--श्रीभाष्यकारा उपासनात्मकमेव ब्रह्मज्ञानं भग-वत्प्रसादद्वारा पारमार्थिकभेद दर्शनस्य विरोधि, नतुवाक्यजन्य-मात्रं ब्रह्मसाक्षात्काररूपं वस्तुतन्त्रं भेददर्शनस्य विरोधि ॥

इति भवल्लेखोऽत्यन्तायोग्य एव--नहि श्रीभगवद्रामानु-जाचार्य्यपादाः, पारमार्थिकभेदनिवृत्तिं वदन्ति—भोगमात्रसाम्य लिङ्गाच्च, जगद्व्यापारवर्ज्यप्रकरणादसन्निहितत्वाच्च-इत्या-

दिभिः, बादरायण सूत्रैस्स्पष्टीकृतः, जीवब्रह्मणोर्मुक्तानां च परस्परं भेदः। यथा च विशिष्टाद्वैतसिद्धान्ते न पारमार्थिक-भेदनिवृत्तिः, तथा नापरोक्षंविपश्चिताम्—वृथैव श्रीभाष्यसमालोचने प्रवृत्तिर्भवतः, सुप्रसिद्धविषयेपि स्वयमेव विमुह्य लोकान्वञ्चयति—एवंविधाऽयोग्यार्थाः बहवोहिवादाःसन्ति वेदान्तरक्षामणौ तेसर्वेपि अनन्तकृष्णस्यस्वरूपप्रख्यापनाय पर्याप्ताः।

भक्त्यास्त्वनन्ययालभ्य अहमेवं विधोऽर्जुन इति गीता वाक्यतः भक्तेर्मुक्त्युपायत्वंस्पष्टमवगम्यते तद्विरुद्ध साक्षात्कारा-न्वेषणमद्वैतिनां न केवलं शास्त्र विरुद्धं किन्तु विचार-शून्यमपि—

तथाहि किमविद्यमानमिथ्याभूतार्थप्रतिबन्धप्रध्वंसनमभि-प्रेत्य, अपरोक्षान्वेषणम्—आहोस्वित्‌विद्यमान प्रतिबन्धप्रध्वं-सनमंगीकृत्यापरोक्षान्वेषणम्—

उत—मिथ्याभूतप्रतिबन्धज्ञानप्रध्वंसनमभिप्रेत्य अपरोक्षा-न्वेषणम्—

न तावदाद्यः—नह्यविद्यमानस्यप्रध्वंसनं भवति श्रूयते वा क्वचित्—यथोक्तमभियुक्तैः

> प्रध्वंसोहिस्वरूपस्य प्रच्युतिः प्रतिपाद्यते।
> स्वरूप सत्यताभावेकस्य प्रच्युतिरुच्यते ॥१॥

नापिद्वितीयः—नहिमिथ्याभूतार्थस्य अपरोक्षेणैव प्रध्वंसनं

भवति—अन्यथाबाधकज्ञानात्पूर्वंसुषुप्ते द्रष्टरिपुरुषे शुक्तिरजताद्य-वस्थितिप्रसंगः ॥

न तृतीयः-अपरोक्षबाधकज्ञानाभावेपिस्वरसवाहिविनाश-हेतुबलादेवाशुतरविनाशित्वात्, अन्यथानुदित बाधकज्ञानस्य-भ्रांतस्य सुषुप्त्याद्यभावप्रसंगादित्यादिना पूर्वाचार्य्यैरेव निर-स्तम्। महदिदमाश्चर्य्यं यदद्वैतिनोमिथ्याभूताया अविद्यायाः निराशाय, अपरोक्षान्वेषणं कुर्वन्ति—

परन्तु त एव मिथ्याभूतज्वरकाचकामलादिनिवृत्त्यर्थं भेषजं जोषमासते नपुनः, तत्राप्यपरोक्षप्रीतिजुषः भवन्ति-परिहसन्ति च दार्शनिकाः।

मायावादिमतस्थाश्च महारोगेण पीडिताः।
मञ्चेशयानाः दृश्यन्ते किञ्च भेषजकांक्षिणः ॥

एवमुपासनाया मोक्षसाधनत्वेप्रमाणिके तदुत्पत्त्यर्थं याव-ज्जीवंसर्वाण्याश्रमकर्माण्यनुष्ठेयानि—तत्र कर्मणां वेदनाङ्गत्व-मुत, विविदिषाङ्गत्वमितिविचारद्वयावश्यकः (तमेतं वेदानु-वचनेन ब्राह्मणाविविदिषन्ति-यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन) इति श्रुतौ विविदिषन्तीति श्रवणेन कर्मणां साक्षात् विविदिषा-ङ्गत्वमितिशंकरभगवत्पादाः—

श्री भगवद्रामानुजाचार्य्यपादास्तु—-क्रियावानेषब्रह्म-विदांवरिष्ठ इतिसन् रहित श्रुतिवाक्यात् कर्मणांज्ञानाङ्गत्वस्य

दिभिः, बादरायण सूत्रैस्स्पष्टीकृतः, जीवब्रह्मणोर्मुक्तानां च परस्परं भेदः। यथा च विशिष्टाद्वैतसिद्धान्ते न पारमार्थिक-भेदनिवृत्तिः, तथा नापरोक्षंविपश्चिताम्—वृथैव श्रीभाष्यसमा-लोचने प्रवृत्तिर्भवतः, सुप्रसिद्धविषयेपि स्वयमेव विमुह्य लोकान्वञ्चयति—एवंविधाऽयोग्यार्थाः बहवोहिवादाःसन्ति वेदान्तरक्षामणौ तेसर्वेपि अनन्तकृष्णस्यस्वरूपप्रख्यापनाय पर्याप्ताः।

भक्त्यास्त्वनन्ययालभ्य अहमेवं विधोर्जुन इति गीता वाक्यतः भक्तेर्मुक्त्युपायत्वंस्पष्टमवगम्यते तद्विरुद्ध साक्षात्कारा-न्वेषणमद्वैतिनां न केवलं शास्त्र विरुद्धं किन्तु विचार-शून्यमपि—

तथाहि किमविद्यमानमिथ्याभूतार्थप्रतिबन्धप्रध्वंसनमभि-प्रेत्य, अपरोक्षान्वेषणम्—आहोस्वित्विद्यमान प्रतिबन्धप्रध्वं-सनमंगीकृत्यापरोक्षान्वेषणम्—

उत—मिथ्याभूतप्रतिबन्धज्ञानप्रध्वंसनमभिप्रेत्य अपरोक्षा-न्वेषणम्—

न तावदाद्यः—नह्यविद्यमानस्यप्रध्वंसनं भवति श्रूयते वा क्वचित्—यथोक्तमभियुक्तैः

> प्रध्वंसोहिस्वरूपस्य प्रच्युतिः प्रतिपाद्यते।
> स्वरूप सत्यताभावेकस्य प्रच्युतिरुच्यते ॥१॥

नापिद्वितीयः—नहिमिथ्याभूतार्थस्य अपरोक्षेणैव प्रध्वंसनं

भवति—अन्यथावाधकज्ञानात्पूर्वंसुषुप्ते द्रष्टरिपुरुषे शुक्तिरजताद्य-वस्थितिप्रसंगः ॥

न तृतीयः-अपरोक्षबाधकज्ञानाभावेपिस्वरसवाहिविनाश-हेतुबलादेवाशुतरविनाशित्वात्, अन्यथानुदित बाधकज्ञानस्य-भ्रांतस्य सुषुप्त्याद्यभावप्रसंगादित्यादिना पूर्वाचार्य्यैरेव निर-स्तम्। महदिदमाश्चर्य्यं यदद्वैतिनोमिथ्याभूताया अविद्यायाः निराशाय, अपरोक्षान्वेषणं कुर्वन्ति—

परन्तु त एव मिथ्याभूतज्वरकाचकामलादिनिवृत्त्यर्थं भेषजं जोषमासते नपुनः, तत्राप्यपरोक्षप्रीतिजुषः भवन्ति-परिहसन्ति च दार्शनिका।

मायावादिमतस्थाश्च महारोगेण पीडिताः।
मञ्चेशयानाः दृश्यन्ते किञ्च भेषजकांक्षिणः॥

एवमुपासनाया मोक्षसाधनत्वेप्रमाणिके तदुत्पत्त्यर्थं याव-ज्जीवंसर्वाण्याश्रमकर्माण्यनुष्ठेयानि—तत्र कर्मणां वेदनाङ्गत्व-मुत, विविदिषाङ्गत्वमितिविचारद्वयावश्यकः (तमेतं वेदानु-वचनेन ब्राह्मणाविविदिषन्ति-यज्ञेन दानेन तपसाऽनासकेन) इति श्रुतौ विविदिषन्तीति श्रवणेन कर्मणां साक्षात् विविदिषा-ङ्गत्वमितिशंकरभगवत्पादाः—

श्री भगवद्रामानुजाचार्य्यपादास्तु——क्रियावानेपब्रह्म-विदांवरिष्ठ इतिसन् रहित श्रुतिवाक्यात् कर्मणांज्ञानाङ्गत्वस्य

साक्षात् दर्शनेन न विविदिषा साधनत्वं कर्मणामपितु वेदन-साधनत्वमेवेति–

(अग्निहोत्रादितु तत्कार्य्यायैव तद्दर्शनात्)
(सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्)
(विहितत्वाच्चाश्रम कर्मापि)

कषाये कर्मभिः पक्वे ततोज्ञानं प्रवर्तते ।
कषायपक्तिः कर्माणिज्ञानं तु परमागतिः ॥
कर्मणैवहि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।

इत्यादि बादरायण सूत्राणिस्मृतिवाक्यानि च समन्वितानि भवन्ति–तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाविविदिषन्तीति श्रुति-वाक्येपि यज्ञेन दानेनेत्यादि तृतीयायाः प्रकृत्यर्थेज्ञानेऽन्वयस्य योग्यत्वेन वेदनाङ्गत्वमेव कर्मणाम्। लोकेपि–असिनाजिघांसति, अश्वेन जिगमिषतीत्यादिस्थले तृतीयायाःप्रकृत्यर्थेऽन्वयस्य दर्शनेन विविदिषन्तीत्यत्रापिधात्वर्थेऽन्वयस्यार्जवतयाकर्मणां वेदनांगत्वमेव युक्तमिति ।

एतेन वेदनपदवाच्योपासना साधनत्वं कर्मणां किं दृष्ट-विधयोतादृष्टविधया–आद्ये यदि शमादिद्वारेति विवक्ष्यते तर्हि विविदिषार्थत्वमेव नतु साक्षात् वेदनार्थत्वमित्यनन्त-ध्वान्तोक्तिरप्यपास्ता–कर्मणां वेदनांगत्वस्यश्रुतिस्मृतिसूत्रैः-स्पष्टोक्तत्वात्। अदृष्टद्वारा कर्मणामुपकारकत्वस्वीकारे भवत् कुचोद्यानामनवताराच्चेति ।

वाक्यार्थज्ञानस्याविद्यानिराशकत्वमस्ति न वेति विचारे श्रीभगवद्रामानुजार्य्यपादैः श्रीभाष्ये–विपुलैः प्रमाणैस्तन्मतं विविच्यवाक्यार्थज्ञानस्याविद्यानिवर्तकत्वंनास्तीत्येवनिर्धारितम् ।

आधुनिकाद्वैतिनस्तु श्रीभाष्यमार्गात् पलायनंकृत्वा अत्यन्तदूषितमार्गावलम्बनेनैवस्वात्मानं संतोषयन्ति ।

अहं ब्रह्मास्मीति साक्षात्काररूपं ज्ञानं श्रवणादिनाऽसंभावनाविपरीतवासनानिवृत्तौतत्त्वमस्यादिवाक्येनाविद्यानिवर्तकमुत्पद्यते ।

श्रवणमात्रेण तु नोक्तरूपं ब्रह्मसाक्षात्काररूपं ज्ञानं सर्वस्य समुदेति । मननादिनाभेदवासनायां निरस्तायामेव ब्रह्मसाक्षात्कारः, नतु ततः पूर्वम् , विपरीतवासनायाः ज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धकत्वात् । अपरोक्षभेदवासनाह्यपरोक्षसाक्षात्कारेणैव निवर्तते नतुपरोक्षविवेकेनेत्यद्वैताशयः । श्रीभाष्यकृद्दूषण प्रकारस्त्वन्यविध एवेत्युक्तिरपि श्रीभाष्याद्यनवलोकन निबन्धनैव शांकरभाष्यानुयायिनामिति ।

वाक्यार्थज्ञानस्याविद्यानिवर्तकत्वपक्षे शास्त्रविरोधः प्रत्यक्षविरोधश्चेतिदूषणद्वयमुक्तं श्रीभाष्यकृता । बुद्धेः क्षेमप्रापणंतत्तच्छास्त्रैर्विप्रतिपिद्धम् । बुद्धेश्चेदिहैव न दुःखमुपलभेत । एतेन परं व्याख्यातम् । इत्यादिभिः सूत्रैर्भगवता आपस्तम्भेन वाक्यार्थज्ञानस्याविद्यानिवर्तकत्वं प्रतिपिद्धमितिशास्त्र विरोधः ।

तत्त्वमसीत्यादिवाक्यानि रटन्तोप्यद्वैतिनः वादशीलाः, अविद्योपहिताश्चेति दर्शनेन प्रत्यक्षविरोधोपि स्पष्टएव ।

उक्तञ्च—

तत्त्वमस्यादिवाक्यानां शतशः श्रवणेपिहि ।
जायतेत्वमहंपूर्वो विवादो ब्रह्मवादिनाम् ॥

तथा च तादृश विरोधपरिहाराय तत्त्वमस्यादि वाक्येन जायमानंज्ञानं द्विविधं, परोक्षरूपमपरोक्षरूपञ्च । व्युत्पत्तिमन्तं पुरुषंप्रतिपरोक्षरूपमेवज्ञानं जायते । अपरोक्षरूपंज्ञानमपि यद्यपिसामग्र्यैवोत्पद्यते तत्र सामग्रीकुक्षौप्रतिबन्धकाभावोप्यपेक्षितः । भेदवासनाया एव साक्षात्काररूपज्ञानोत्पत्तिप्रति प्रतिबन्धकत्वस्वीकारः तथा च न विरोध इत्यद्वैतिनांमतम् ।

यद्यपीदमपिनिरस्तप्रायमेव तथापितदीयाहंकारापनोदनाय पुनरप्युच्यते । भेदवासनायाअपरोक्षज्ञानं, प्रत्येवप्रतिबन्धकत्वं न परोक्षज्ञानंप्रति, किमियंराजाज्ञा—तत्र यदि मिथ्याभूतायाः, अपरोक्षभेदवासनायाः, वाक्यजन्यापरोक्षसाक्षात्कारेण निवृत्तिरिष्यते । नतर्हि भेदवासनायाः प्रतिबन्धकत्व संभवः । येन यस्य निवृत्तिर्भवति नहि निवर्तकोत्पत्तिप्रतिरुन्ध्यात् निवर्त्यः । नहि दीपेन विनाश्यन्तमः दीपोत्पत्तौ प्रतिबन्धकम् । नापि नेदंरजतमितिज्ञानेन विनाश्यमिदंरजतमितिज्ञानमुत्तरज्ञानोत्पत्तौप्रतिबन्धकम् । तस्मान्नभेदवासनायाः, अपरोक्षज्ञानोत्पत्तौप्रतिबन्धकत्वसम्भवः ।

यदि च वाक्यजन्यंज्ञानं पूर्वं परोक्षरूपं तेनभेदवासनायाः निराशः, ततोसाक्षात्कारात्मकंज्ञानं तेनाविद्यानिरोध इति मन्यसे, तर्हितेनैवपरोक्षज्ञानेन, अविद्यायाः, अपि निवृत्तिः कुतोनेष्यते वैपरीत्ये प्रमाणाभावात्। नच किञ्चिद्विनिगमकमुपलभ्यते। केवलं स्वात्मसन्तोषमात्रमेवाद्वैतिनाम्। अङ्गीकारे च शास्त्रप्रत्यक्ष विरोधस्य। जागरूकतयापुनरपिघट्टकुट्टीप्रभातायितम्।

कुत्रचित्, अपरोक्षभेदवासना, अपरोक्ष साक्षात्कारेणैव निवर्तते। कुत्रचित्, भेदवासनायाः श्रवणमनन निदिध्यासन् सहकृतेन तत्त्वमस्यादि वाक्यजन्य ज्ञानेन, इतिपरस्पर विरुद्ध भवल्लेख एव भवन्तं मर्दयति कुत्रचित् परोक्षज्ञानेन भेदवासनायाः, अन्यत्र अपरोक्षेणेतिव्याहत भाषणं भवत एव शोभते तत्त्वमसि वाक्येन जायमानंज्ञानमपरोक्षरूपमिदं वचनं विद्वद्सन्निधावुपहास्यास्पदम्।

नहि शब्देनजायमानंज्ञानं प्रत्यक्षरूपमिदं दृष्टंश्रुतंवा, प्रत्यक्षस्येन्द्रियैकान्तत्वात्—अद्वैतिनोऽपि नहि शपथपूर्वकं वक्तुं शक्नुवन्ति।

प्रत्यक्षात्मकंशाब्दज्ञानं किञ्चिदस्तीति॥

किञ्च,

परोक्षत्वं तत्त्वमस्यादि वाक्यजन्यज्ञानवृत्ति,
परोक्षनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वात्, ज्ञानत्ववत्।
तत्त्वमस्यादिवाक्यं, नापरोक्षजनकं,

वाक्यत्वात्, ज्योतिष्टोमादि वाक्यवत्। विगीताधीः न स्वविषये प्रत्यक्षा,

वाक्यजन्यत्वेसति वाक्येतरविषयत्वात्
स्वर्गयागादि सम्बन्धबुद्धिवत्। इत्यादि प्रमाणैः शाब्दापरोक्षवादः सम्यग्खण्डितः सकलशास्त्रनिर्धारण धूरीणैः श्रीमद्वेदान्ताचार्य्यैः॥

किञ्च भेदवासनायाः निवर्तकं श्रवणमननिदिध्यासन सहकृतं तत्त्वमसीत्यादिवाक्यजन्यं परोक्षरूपंज्ञानम्। यच्चाविद्यानिवर्तकमपरोक्षरूपंज्ञानम्। एतदुभयं किं भिन्नविषयमेकविषयंवेति, आद्य—अन्यसिद्धान्तज्ञानवत् कथं तेन भेदवासना निरसनद्वारेणोपकारकत्वम्॥

द्वितीये, किमन्यूनानतिरिक्तविषयं प्रकारादिवैशिष्ठ्यं वा, न प्रथमः, यथाभेदवासनायाः विनाशः परोक्षज्ञानेन तथा, अविद्यायाऽपि तेनैव विनाशः कुतोनेष्यते, यदिनानेन ज्ञानेनाविद्यायाः, विनाशस्तर्हि तदुत्तराऽपरोक्षेणापि कथं विनाशः, अविशेषात्॥

प्रकारादिविशिष्टविषयत्वेतु—ब्रह्मणःसविशेषत्वप्रसंगेनाद्वैत-सिद्धान्तभङ्गः, अपसिद्धान्तप्रसङ्गश्च, भेदवासनायाः, अपरोक्ष-ज्ञानं प्रत्येवप्रतिबन्धकम् न परोक्षज्ञानंप्रतीत्यस्याद्वैतिनोपिवर्ण-यितुंनार्हन्ति। अतोभेदवासनायाः प्रतिबन्धकत्वेस्थितेपरोक्ष-ज्ञानसंपादनमेवाद्वैतिनांदुर्घटमिति।

एतेन—भेदवासनानांबहुत्वेपि तद्विरोधि भावनया स्वल्प-यापिनिवृत्तिरपिव्याख्याता। तन्मूलभूतविद्यामात्रनिवर्तकत्वेन सर्वनिवर्तकत्वोपपत्तेरिति वेदान्तरक्षामणि प्रलापोपि निरस्तः॥ अविद्यानिवर्तकत्वासंभवस्यासकृदावेदितत्वात्। शास्त्रप्रत्यक्ष-विरोधस्यानिवार्य्यत्वाच्च। किंच यदि मूलाविद्याकार्य्यभूतायाः, भेदवासनायाः कारणनिवृत्त्यैवनिवृत्तिरिष्यते तर्हिकारणनाशादि नाश्यत्वेनसत्यत्वप्रसङ्गः। कारणनाशनाश्यानां सत्यत्वमेवाङ्गीकृतं नैयायिकैः। स्वतः नाशस्वीकारे, अकारणकार्य्योत्पत्तिप्रसङ्गेन चार्वाक्मतप्रवेशः॥

अन्यज्ञानेननिवृत्तिस्वीकारे तेनैवाविद्याया अपि निवृत्ति-सम्भवे, अपरोक्षान्वेषणमुन्मत्तप्रलाप एव न शाब्दापरोक्षवादः, सकलदर्शनविरुद्धः किन्तु न शाब्दापरोक्षवादे भगवतः शंकरा-चार्य्यस्य तावानाग्रह इति मण्डनमिश्र वचनेन भगवत्पाद शंक-राचार्य्यानभिमतोपिशाब्दापरोक्षवादः,—युक्तमेव यदयोग्येऽर्थे न प्रामाणिकानांप्रवृत्तिः—

याच मूलाविद्यानिवृत्तिरुच्यते–सा किं सती–अथवा, असती, सदसदात्मिका, तद्विलक्षणावेति । नतावदाद्यः, द्वित्वप्रसङ्गात्. नाप्यसती, अस्वीकारात् न सदसदात्मिका-व्याघात प्रसंगात्. नापितद्विलक्षणा–तस्यादृष्टत्वात् ।

तस्मात् , न वाक्यजन्यंज्ञानमविद्यानिवर्तकम्–किन्तूपासनात्मकज्ञानमेवेत्यर्थमभिदधतां श्रीभाष्यकाराणां श्रीभगवद्रामानुजाचार्य्यपादानामुक्तिरेव समीचीना ।

न खलु विचारकक्षाविरहिता, आग्रहैकनिबन्धना शंकरानुयायिनामुक्तिः, आदरणीया–शंकराचार्य्यस्यापि नैवंविधेऽप्रामाणिकेऽर्थेतात्पर्य्यं किन्तुपूर्वपक्षवैभव प्रतिपादने, तात्पर्य्यमिति निश्चिनुमः । यतो सर्वत्रभजगोविन्दं भजगोविन्दमिति–उपासन पर्य्यायं भक्तिरूपज्ञानमेव पुरस्कुर्वन्ति । येतु-वाक्यार्थज्ञानमेवाऽविद्यानिवर्तकमित्युक्त्वा–अयमेवसिद्धान्तः, शंकराचार्य्याणामिति, नूनं ते भगवन्तं शंकरपादमधिक्षिपन्ति ॥

॥ अथ शास्त्रैक्यवादः ॥

अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति सूत्रार्थविचाराय शास्त्रैक्यमादौ परीक्षणीयम्—यतः, जैमिनिबादरायणप्रणीतयोः, वेदव्याख्यानभूतपूर्वोत्तरमीमांसयोरैकशास्त्र्यमिति श्रीभाष्यकाराः । तादृश-

व्याख्यानभूतयोः पूर्वोत्तरमीमांसयोः, भिन्नशास्त्रत्वमित्यद्वैतिनः।

युक्तायुक्तत्वपरीक्षायां प्रमाणान्तरावष्टम्भनमिव, अथातो-ब्रह्मजिज्ञासेति सूत्रघटकाथशब्दार्थनिर्णयोप्यावश्यकः, श्रीभाष्य-काराणांनये कर्मविचारान्तर्य्यमथ शब्दार्थः।

नित्यानित्यवस्तुविवेकः, शमदमादिसाधनसंपत्, इहामूत्र-फलभोगविरागः, मुमुक्षत्वञ्चेतिसाधन चतुष्टयानन्तर्य्यमथ शब्दार्थइत्यद्वैतिनः। यद्यार्जवेनशास्त्रैक्यं तर्हि श्रीभाष्यव्याख्या-नमेव सर्वतोवरम्, भिन्नशास्त्रत्वे बहुदोषयुक्तमप्यद्वैतमतं कथंचित्सोढव्यमेव।

तत्र पूर्वोत्तरभागद्वयात्मकैकवेदस्य व्याख्यानभूत-पूर्वोत्तरभागात्मक मीमांसा शास्त्रम्, किं भिन्नोद्देशेन प्रवृत्त-त्वात्परस्परं भिन्न माहोस्वित्, अधिकारिभेदात्, प्रयोजन भेदात्, अर्थभेदाद्वेतिपरीक्षणीयम्। यतः, एत एव शास्त्र-भेदक हेतवः, तेषामत्रसम्भवो नवेतिसप्रमाणं विवेचनीयम्॥

स्वाध्यायोऽध्येतव्यःअष्टवर्षंब्राह्मणमुपनयीततमध्यापयेत्, इत्याभ्यां श्रुतिवाक्याभ्यामष्टवर्षानन्तरमखण्ड वेदाध्ययनं पुरुषार्थ इति निश्चीयते। नचोपनिषन्मात्राध्ययनं पुरुषार्थः, नवामंत्रभागमात्राध्ययनम्, स्वाध्यायोऽध्येतव्य इत्ययं विधिः, संकोचमन्तरेणप्रवर्तते नच संकोचकंकिञ्चित्प्रमाणमुपलभामहे,

तस्मादखण्डवेदाध्ययनविधिबोधकवाक्यमिदमित्यकामेनाद्वैतिनापि स्वीकर्तव्यम् , ।

तथा च, अङ्गेन सह वेदाध्यायिनआपातप्रतीतिमतः सोपवीतस्य पुरुषस्य सामान्येन वेदार्थनिर्णयः कर्तव्य इत्येवबुद्धिर्जायते नतु वेदैकदेशस्य तदर्धस्य ततोऽधिकस्यवेति बुद्धिः प्रामाणिकी यतःकृत्स्न-वेदाध्यायिनः कृत्स्नापातप्रतीतिमतः कृत्स्न वेदार्थनिर्णयः कर्तव्य इत्येव बुद्धिस्स्वारसिकी, एवं च विचार कर्तव्यता बुद्धिमत्पुरुषानुजिघृक्षया प्रवृत्तस्य मीमांसाशास्त्रस्यापि सामान्येन वेदार्थविचारोद्देशेनैकप्रवृत्तेर्वाच्यतया प्रयोजनार्थोद्दश्यादिनामेकरूपत्वेन सिद्धंशास्त्रैक्यमिति ॥

गुरु सन्निधौ येन शिष्येण वेदोऽधीतः, अर्थस्तु न ज्ञातः तस्य कथं मया वेदार्थज्ञानंकर्तव्यमित्याकांक्षा जायते—तदीयाकांक्षा शान्त्यर्थं गुरोरपि तथैवाचरणस्य लोकसिद्धत्वेन गुरुशिष्ययोर्जैमिनिबादरायणयोरपि तथैव वक्तव्यत्वेन परस्पर सम्मत्या गुरुशिष्यौ पूर्वोत्तरभागौप्रणीतवन्तौ—

नह्येकैकदेश व्याचिख्ययाप्रवृत्तावाचार्य्यौ, किन्तु, इष्टतावच्छेदकावच्छिन्नोद्देशेनैव—अतएव सर्व दर्शन समुच्चये

चतुर्दशसु विद्यासु मीमांसैकागरीयसी ।
विंशत्यध्याय संयुक्ता प्रतिपाद्यार्थतो द्विधा ॥

इत्यादिना विंशत्यध्याय संयुक्तायाः मीमांसायाः, मीमांसैकेतिपदेनैकविद्याख्यानत्वं परिगणयन्तः भिन्नशास्त्रत्ववादिनामद्वैतिनां मतमुत्क्षिपन्तः शंकराचार्य्या एव शास्त्रैक्यमनुमोदन्त इति।

अत्रहि मीमांसैका, इत्येकशब्देन उभय मीमांसायाः एक प्रबन्धत्वंस्पष्टतयोच्यते—तर्हि पूर्वमीमांसोत्तरमीमांसेति भिन्न व्यवहारः किन्निबन्धन इत्यत्र आह, प्रतिपाद्यार्थतोद्विधेति।

अयम्भावः, प्रयोजनोद्देश्यादीनामेक रूपत्वेनैक शास्त्रत्वं यद्यपि स्वरससिद्धम्, तथापि कर्मत्वरूपावान्तर भेदं ब्रह्मविचारत्व रूपावान्तर भेदं चादायैव भेद व्यवहारः सचाप्रधानएव भेदः, नच तस्य शास्त्रभेदापादकत्वं, किन्तु पूर्वोत्तरत्वादिपरिचायकं त्वमात्रमेव।

यद्यवान्तरविषयस्यैकवाक्यतापर्य्यवसन्नमेकग्रन्थत्वरूपं यदेकशास्त्रत्वं तस्य यदि भेदापादकत्वमिष्यते तर्हि कर्ममीमांसायामपि, एकत्वव्यपदेशो न स्यात्। तत्रापि अध्यायभेदादयो बहवोसमुपलभ्यन्त एव, अध्यायभेदस्य, चार्थभेद निबन्धनत्वात्, अतोवान्तरभेदस्य न प्रधानैकत्वविरोधिता, किं बहुना पूर्वोत्तरव्यवहारोप्यत्रैकशास्त्रत्वमेवावगमयति—

पूर्वोत्तर भागात्मिकायाः सिद्धान्तकौमुद्याः, एकत्वव्यवहारो यथा सर्व सम्मतः, तथैव पूर्वोत्तरभागेन विभक्तस्यापि मीमांसा शास्त्रस्यैकत्वव्यवहारोयुक्त एव—यथा सिद्धान्त

कौमुद्या, एकत्वव्यवहारो नोपाधिनिबन्धनः, किन्तु मुख्य एव।

तदीयव्याख्यानभूतयोः पूर्वोत्तरवृत्त्योरप्येकत्व व्यवहारः, यथामुख्यः, तथैव वेदार्थविशदीकरणोद्देशेन प्रणीतयो जैमिनि बादरायण ग्रन्थयोः शास्त्रैक्यवादः युक्तएव—यथा, अध्याय भेदस्य न प्रधानैकत्व विरोधिता तथा कर्मत्वादि भेदस्यापि नशास्त्रैक्ये किञ्चिद्बाधकम्।

किञ्च तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति, यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेनेति श्रुतिरेव शास्त्रैक्येप्रमाणम्। यतः श्रुतिरियंज्ञानकर्मणोरङ्गाङ्गिभावं निर्वक्ति, अङ्गेनसहाङ्गिनः, ऐक्यस्य सर्वसिद्धत्वेन कर्मरूपाङ्गप्रतिपादकेन जैमिनीय मीमांसाशास्त्रेणज्ञानरूपाङ्गि प्रतिपादकेन बादरायणीयमीमांसा शास्त्रेण च सहैकप्रबन्धत्वे न किञ्चिद्बाधकम्। भवतिचात्रानुमान प्रयोगः—

कर्मकाण्डः, ब्रह्मकाण्डनिरूपित शास्त्रैक्यवान् तत्प्रतिपाद्यप्रधानार्थाङ्गप्रतिपादकत्वात्, यो यत्प्रतिपाद्यप्रधानार्थाङ्गप्रतिपादकः स तन्निरूपितशास्त्रैक्यवान्, यथा प्रयाजादि रूपाङ्ग प्रतिपादकंशास्त्रं, तदङ्गिप्रतिपादकेन, एकशास्त्रतापन्नम्। नच ज्ञानकर्मणोऽङ्गाङ्गीभावोऽसिद्धः, तमेतंवेदानुवचनेन ब्राह्मणाविविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन, क्रियावानेष ब्रह्मविदांवरिष्ठ इत्यादिभिः, श्रुतिभिः, अङ्गाङ्गीभावस्योक्तत्वात्।

किञ्च—उत्तरभागः पूर्वभागनिरूपितशास्त्र्यैक्यवान्, पूर्व-

भागप्रतिपाद्यार्थसंगतार्थप्रतिपादकत्वात् , यत्यत्प्रतिपाद्यार्थ-संगतार्थप्रतिपादकम् तत्तनैकवाक्यतारूपं, यदेकशास्त्रत्वं तद्वत् , जिज्ञासाधिकरणप्रतिपाद्यार्थसंगतार्थप्रतिपादकं यथाजन्माद्यधि-करणम् , इत्यपरमप्यनुमानं शास्त्रैक्येप्रमाणम् ॥

किञ्च, संहितमेतच्छारीरकंजैमिनीयेन षोडशलक्षणेनेति-बोधायनेन महर्षिणास्पष्टमेवशास्त्रैक्यमभिहितम् , नास्माद-परंप्रमाणमन्वेषणीयम् यतोऋषिवाक्यस्य, आस्तिकाग्रेसराणांपर-मादरणीयत्वात् ॥

किमत्रबहुवक्तव्यं पूर्वोत्तरशास्त्रत्वव्यवहारोप्येक शास्त्रत्वं द्रढयति, नहिव्याकरणशास्त्रापेक्षयान्यायशास्त्रस्योत्तरशास्त्रत्व-व्यवहारः, नवा,न्यायाद्यपेक्षया व्याकरणादीनां पूर्वशास्त्रत्वव्यव-हारः, शिष्ट सम्मतः, पूर्व मीमांसायाः नियतपूर्वशास्त्रत्व-व्यवहारः उत्तरमीमांसाया- नियमेनोत्तरशास्त्रत्वभावः, अतः-प्रामाणिकानां शास्त्रैक्यवादे न कथंचिद् विवादः ॥

नात्रशास्त्रैक्ये बहुप्रमाणोपन्यासः क्रियते तत्तद्ग्रन्थेषु, आचार्य्यैरेव कुमतिमतमर्द्दन पुरस्सरः समर्थितोऽयंशास्त्रैक्य-वादः ॥

यदिकश्चिद्वदेत्शास्त्रैक्यं स्वतः सिद्धम् , भिन्नशास्त्रत्वे किं प्रमाणंभवद्भिरुपस्थाप्यते, तदामूकीभावातिरिक्तं नकिञ्चि-दुत्तरमद्वैतिनां, कर्मब्रह्मभेदात् भेदः, वारंवारमिदमेवरटन्त्यद्वै-तिनः-ते प्रष्टव्यास्तर्हिकर्ममीमांसायामपि प्रयाजानुयाजयो

र्नाम भेदात् कुतो न भेदः, यदि प्रबन्धैक्यादैक्यमुच्यते. तर्हि प्रतिपाद्यैकत्वनिबन्धनं शास्त्रैक्यमत्राप्यस्तीति। शास्त्रैक्यवादे दूषणोद्धारस्तु, अनन्तरम्,

मध्येऽथशब्दार्थविचारोऽद्वैतिनांप्रमाणपदमर्हति नवेति विविच्यते–नित्यानित्यवस्तुविवेकः, शमदमादिसाधनसंपत्, इहामूत्रफलभोग विरागः, मुमुक्षुत्वञ्चेत्येतत्साधनचतुष्टयंविना ब्रह्मजिज्ञासा, न संभवति, अतोऽथ शब्दार्थतया. अस्यैव साधन चतुष्टयस्य आनन्तर्य्यं सूत्र कृदभिप्रेतमिति शंकराचार्य्याः।

तन्न—तत्र कथंभूतोनित्यानित्यवस्तुविवेकः, इदंवस्तुनित्यमिदमनित्यमित्येवमात्मा—अथवा नित्यानित्ययोर्वसतीति नित्यानित्यवस्तूतद्धर्माः हेयत्वोपादेयत्व इत्यर्थः।

न तावत्प्रथमः कल्पः, इदं वस्तुनित्यमिदमनित्यमित्येवं ज्ञानं वेदान्त श्रवणं विना न सम्भवति वेदान्ते, एव आत्मादीनां नित्यत्वं तदितरस्यानित्यत्वं प्रतिपादितम्।

तथाच वेदान्त श्रवणेन नित्यानित्यवस्तु विवेकः नित्यानित्यवस्तु विवेकेन वेदान्तश्रवणमित्यन्योन्याश्रयः दुर्वार एव, अन्योन्याश्रयघटितस्यसाधनचतुष्टयस्य पूर्ववृत्तत्ववादोनितरामसम्भवः।

यदि च शास्त्रान्तरेण नित्यानित्यवस्तुविवेकः, ततो वेदान्तश्रवणं तथा च नान्योन्याश्रयावकाश इत्यभिप्रायस्तर्हि

तेनैवशास्त्रान्तरेण विपरीतज्ञानं कुतोन वहवोह्यर्थास्तत्र वेदान्त विरुद्धतयांसन्ति प्रतिपादिताः,

यथा परमाणुकारणत्व, आकाशनित्यत्व, अब्रह्मात्मक-प्रधानकारणत्व, केवलनिमित्तेश्वरकारणत्वादयस्तथा च, कथं वेदान्तश्रवणौपयिकनित्यानित्य विवेक सम्भवः कथंमेत अर्थाः, विरुद्धाः, अन्येचाविरुद्धा इत्यादिज्ञानं वेदान्त श्रवणात्पूर्वंसिद्ध्यति ।

किञ्च, अष्टवर्षंब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयेत् , स्वाध्यायोऽध्येतव्य इत्यादि विधिपरवशतया—अष्टवर्षानन्तरंस्वाध्यायाध्ययने प्रवर्तते—अनन्तरम्—

स्थाणुरयं भारवाहः किलाभूत् ,
अधीत्यवेदं न विजानाति योऽर्थमिति ॥

वेदार्थज्ञानशून्यस्य निन्दावचन दर्शनेन, वेदार्थविचारे प्रवर्तते—नहिमध्ये शास्त्रान्तराध्ययनेऽवकाशः—उपनयनात्प्राक् न शास्त्रान्तर श्रवणेऽस्तियोग्यता, अतोनित्यानित्यवस्तुविवेकस्य वेदान्तश्रवणाधीनत्वेपुनरप्यन्योन्याश्रयस्तदवस्थः,

उक्तश्चाभियुक्तैः,

वेदान्त श्रवणेसिद्धे नित्यानित्य विवेकधीः ,
नित्यानित्य विवेकेन वेदान्त श्रवणन्त्विति ॥

एतेन द्वितीयोपिकल्पोनिरस्तः, नहि प्रमाणेन नित्यानित्य पदार्थज्ञानंविना तद्गत हेयोपादेयत्वज्ञानसंभवः, प्रमाणान्वेषणे तु जागरूकतया पूर्वोक्तदोषस्तदवस्थएव ॥

तस्माद्वेदान्त विचार प्रवर्तक नित्यानित्यवस्तु विवेकः, शास्त्रान्तरेणासम्भवएव ।

वेदान्त विचारेण नित्यानित्य विवेकस्य सिद्धत्वेपि विचार शास्त्रंप्रति तस्यपूर्वतनत्वायोगः, तिष्ठत्येवेति, शमदमादीनामपि, तस्मादेवंविच्छान्तोदान्तउपरतः तितिक्षुःसमाहितोभूत्वाऽत्मन्येवात्मानं पश्येदिति श्रुति प्रामाण्यादुपासनाङ्गत्वमेव सिद्धम्,

तेषां स्वरूपस्तु शमदमाद्युपेतस्यादित्यादिभिः, तृतीयाध्याये निरुपितः, तृतीयाध्याय सिद्धस्यार्थस्य कथं विचार शास्त्रंप्रति पूर्वत्वसंभवः, यावत् तृतीयाध्यायाध्ययनं न सिद्धम् तावत् शमदमादीनां स्वरूप ज्ञानस्यासिद्धत्वेन तस्य ब्रह्मजिज्ञासां प्रति, अथ शब्दार्थ प्रतियोगितया ग्रहणं केवलमाशामोदक मात्रमेव, वेदान्त विचारेण शमदमादि स्वरूप सिद्धिः

शमदमादिना वेदान्त श्रवणमित्यन्योन्याश्रयोपि उपासनांगत्वेन विहितस्य विचारपूर्वत्वोक्तिः प्रमाण विरुद्धाचेति ।

तस्मात्साधन चतुष्टयस्य पूर्व वृत्तत्वं वदन्तः, शंकराचार्य्याः परास्ताएव,

यदपि नित्यानित्य वस्तु विवेकादेः पूर्व वृत्तत्ववादे बहुदूषणं दृष्ट्वा, सोऽद्वैत्यभिमतस्य तत्पदार्थस्य सामान्यतो नित्य-

मस्तीतिज्ञानसहकृतस्य विशेषतोऽनित्यमिदमिति निश्चयाभ्यास रूपस्य विज्ञाने नान्योन्याश्रयादिदोषः। शमदमादीनांच स्वरूपत एव ब्रह्मविचारोपयोगित्वस्यस्वीकारात्, धर्मार्थ कामानां प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेव, अनित्यत्वावगमात्, न श्री-भाष्योक्त दोषावकाश इति २८ पृ०—वेदान्तरक्षामणि समाधानमपि विवेचक सन्निधावुपहासास्पदम्।

नहि सामान्यतो नित्यानित्य विवेकः, ब्रह्मभाग विचारं प्रत्यसाधारणं कारणं भवितुमर्हति पूर्वभाग विचारं प्रत्यपितस्य कारणत्वात्, श्रूयतेहि तत्रापि नित्यफलम् अक्षय्यं ह, वै चातुर्मास्य याजिनः सुकृतंभवति, अपामसोम्यममृता अभूम, इत्यादिभिस्तथा च न पूर्व भागातिलंघने कारणं पश्यामः, अत-उभयभागसाधारणस्य नोत्तरभागं प्रत्यसाधारण कारणत्वम्, यदि साधारणस्यापि कारणत्वमङ्गीक्रियते, तर्हि कर्ममीमांसायां-कुतः कोपोऽद्वैतिनां कर्मविचारस्यापि पूर्ववृत्तत्वं प्राप्तमेव।

किञ्च सामान्यतो नित्यानित्यविवेकः, किं शास्त्रान्तरेण, प्रत्यक्षानुमानादिना, गुरूपदिष्टेन वेति,—

नाद्यः, विपरीतार्थस्यापि सद्भावात्, तदुल्लंघने कारणाभावात्।

नद्वितीयः, नहिनित्यानित्यनिश्चयः प्रत्यक्षेण कर्त्तुं शक्यते, यस्यकचित् न्नित्यविवेकस्तत्रैवान्यस्यानित्यत्वनिश्चयः अनित्येष्वेव नित्यविवेकस्य च दर्शनेन न ब्रह्मज्ञानोपयुक्त विवेक सम्भवः।

नाप्यनुमानेनानित्यत्व ज्ञानसम्भवः, तथाहि यत्किञ्चिद्-घटपटाद्यनित्यत्व मात्रेण न वेदान्तविचारे प्रवृत्तिसंभवः, किन्तु प्रत्यक्षागोचरस्वर्गादीनामनित्यत्वबोधनद्वारैव, अन्यथा, इहामूत्र फलभोग विरागस्यैवासिद्धत्वेन भवतां ब्रह्मविचारस्यैव दुर्लभत्व मापद्येत, तथा च स्वर्गादिसुखमनित्यं सुखत्वात् , इत्याद्यनुमानैः स्वर्गसुखादीनामनित्यत्वंज्ञायतेतत्तु—अपामसोम्यममृतामभूम, अक्षय्यं हवै चातुर्मास्ययाजिन इत्यादि श्रुतिबाधितम् ॥

अन्यथेष्टस्यापि मोक्षसुखस्य मुक्तसुखमनित्यम् , सुखत्वादित्याद्यनुमानैस्त्याज्यत्व प्रसंगः। यद्यप्यमृतत्वादि श्रुतीनामन्यपरत्वं तथापि विचारशास्त्रं विनादुरवगाह्यत्वात् ॥

न तृतीयः—ततः निर्विशेषब्रह्मज्ञानमपि साध्यताम् , वृथैव मीमांसाविचारे प्रवृत्तिर्भवताम् , नच मीमांसाश्रवणे विधिः—श्रवणस्यवैधत्वेपिनैकभागस्य, अपितूभयभागस्यैव। प्रत्यक्षानुमानाभ्यांधर्मार्थकामानामनित्यत्वोक्तिर्भवतामसामर्थ्यं सूचयतिनानुमानादिप्रदर्शनं कृतम् ॥ केवलप्रतिज्ञामात्रमेव भवताम्—नहि केवल वचनमात्रेण श्रीभाष्यसमालोचकता युक्ता-यद्यनुमान प्रदर्शनं करिष्यते तर्हिसहस्त्रधानिरसिष्यते,

यदपि शमदमादीनां स्वरूपतएव ब्रह्मविचारोपयोगित्वमुक्तं, भवता तदपि पूर्वमेव निरस्तम् ॥

पुनरपि भवत्संतोषार्थमुच्यते—शमदमादीनांस्वरूपत एव ब्रह्मविचारोपयोगित्वमित्यस्यकोऽभिप्रायः, किं श्रवणौपयिक

तादात्विकावधानरूपा, शमदमादि साधनसंपत्, अहोस्वित् वाह्यान्तः करणादिनिरोधरूपावेति पृच्छामः-

न तावत्प्रथमः, सर्वशास्त्रसाधारण्यात्, तादात्विकावधानं विना न कस्यापि शास्त्रस्य श्रवणसिद्धिः, एकाग्रचित्तैरेवशिष्यैः, गुरूपदिष्टाः व्याकरणन्यायसांख्याद्यर्थाः, गृह्यन्त, अतो सर्व-शास्त्र साधारणस्य विशेषशास्त्रे विशेषतो वक्तुमशक्यत्वात्। यदि साधारणस्यापि विवक्षा तर्हि स्वोक्रियताम्, नहि तत्र दोषापादनं क्रियते, कर्मवृत्तत्ववादिभिरस्माभिरपि श्रवणंप्रति तादात्विकावधानंस्वीक्रियते-परन्तु तस्य गौणत्वमेव कर्मविचार-स्यैवमुख्यत्वम् ॥

यदिसाधारणस्यापि पूर्ववृत्तत्वमङ्गीक्रियते तर्हि क्षुन्निवृत्ति, अरूण, मक्षिकाभाव, रुचि, प्रीति, इत्यादीनामपि पूर्ववृत्तत्वं कुतोनेष्यते। एतेषामपि श्रवणं प्रत्युपकारकत्वात्।

भवान् खलु नूतनाद्वैती, स्वगुरूनप्युल्लंध्य नूतनं सिद्धान्तं पोषयति। शंकराचार्य्यास्तु साधनचतुष्टयस्यैव पूर्ववृत्तत्वं मन्यन्ते, भवान्, तु साधनचतुष्टयमुल्लंध्य अन्यमपि कल्पयति परन्तु तदपि न चिरजीवितम्। नूतनमपिभवन्मतंनिरस्तंमया। शांकरमतंतु पूर्वमेव निरस्तं। श्रीभाष्यकारैः प्रदर्शितानां दोषाणामुत्तरदानेऽसमर्था पूर्वाद्वैतिनस्तर्हिकागतिः, भवादृशा-णामतएव, भवतापि तूष्णीम्भावेन नूतनमतमेव कल्पितम्,

परन्तु विस्मृतं भवता यतोहि शमदमाद्यनन्तरमिहामूत्र फलभोग विराग इति तृतीय कक्षायाः प्रवेशः, नहि तादात्विकावधान रूपशमदमादेरनन्तरमैहलौकिक सुखे स्वर्गादिसुखे च कदाचित विरक्तिसम्भवः-

भवद्वाक्यंभवत्सिद्धान्तमेव कृणत्ति—नह्यद्वैतिन इहामूत्र फलभोग विरागात्पूर्वं विद्यमानस्य शमदमादिसाधनस्य स्वरूपतः, हेतुत्वमभिमन्यन्ते,

वाह्यान्तःकरणादि निरोधरूपद्वितीयः पक्षोपि न युक्तः, वाह्यान्तःकरणादि निरोधरूपशमदमादि विवेकस्योत्तर मीमांसागत :तृतीयाध्यायैकावसेयत्वात् , शमदमाद्युपेतःस्यादिति-सूत्रेण तथाविधविवेकस्तत्रैव साध्यते—तथा च तृतीयाध्याय-निष्पाद्यस्य कथं विचारशास्त्रं प्रति पूर्ववृत्तत्वसंभवः ।

शमदमादिना ब्रह्मविचारः, ब्रह्मविचारेण शमदमादिसाधनत्वविवेक, इत्यन्योन्याश्रयोपि, शान्तोदान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितोभूत्वाऽत्मानंपश्येदित्युक्तदिशोपासनांगत्वेन विधीयमानशमदमादेः, विचारपूर्वत्वकथनं वेद विरुद्धमपि ॥ अतो साधनचतुष्टयस्य पूर्ववृत्तवादोऽनेकदोषयुक्ततयाविद्वद्भिर्हेयः ॥

तस्मात्साधूक्तं श्रीभाष्यकारैः, भगवद्रामानुजाचार्य्यपादैः,

अपि च नित्यानित्यवस्तुविवेकादयश्च, मीमांसाश्रवणमन्तरेण न संपत्स्यन्ते, फलकरणेतिकर्तव्यताधिकारिविशेषनिश्चयादृते, कर्मस्वरूप तत्फल तत्स्थिरत्वास्थिरत्वात्मनित्यत्वादीनां दुरव-

बोधत्वात। एषां साधनत्वंच विनियोगावसेयम्। विनियोगश्च श्रुतिलिङ्गादिभ्यः सच तार्तीय इत्यादिना, तस्मादथ शब्दार्थतया कर्मविचारस्यैवानन्तर्य्यंसूत्रकृदभिप्रेतं प्रामाणिकञ्चेति ॥

तथा च नायंनित्यानित्य विवेकादेः पूर्ववृत्तत्ववादोबहुप्रमाणविरोधादुपेक्षणीय, अपितु मीमांसासन्दर्भ विरुद्धत्वादपि,

तथाहि प्रभाकरैः, नहिब्रह्मविचारस्यसामान्यतः कर्तव्यत्वाभावः साधितः किन्तु ब्रह्मविचारः, कर्मविचार समाप्त्यनन्तरकालीन कर्तव्यत्वाभाववान्, कार्य्यान्वितार्थकत्वात्, यागादिविचारवत्–इत्याद्यनुमानैः कर्मविचारसमाप्त्यनन्तरकालीनकर्तव्यत्वाभाव एव ब्रह्मविचारस्य साधितः ॥ तदीयपक्षनिराशाय, सिद्धेव्युत्पत्ति, समर्थन मुखेन (ब्रह्मविचारः कर्मविचार समाप्त्यनन्तर कालीन कर्तव्यतावान्, कर्मविचार हेतुकत्वात्,

यो यद्धेतुकः स, तदनन्तर कर्तव्यताक इत्यादिसरण्या कर्म विचारानन्तरं ब्रह्मविचारस्य कर्तव्यत्वव्यवस्थापकं श्रीभगवद्रामानुजाचार्य्यकृत. वादरायणसूत्र व्याख्यानमेवयुक्तम्,

कर्म विचारानन्तर कर्तव्यत्वाभावस्य पूर्वपक्षे, साधनचतुष्टयानन्तर्य्य विशिष्ट कर्तव्यत्वस्योत्तरन्त्वद्वैतिनाम्, आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे, इतिन्यायानुसरणमेवेति नापरोक्षं विपश्चिताम् ॥

एवंसाधनचतुष्टयस्य पूर्ववृत्तत्वं निरस्तमिति । अथ शास्त्रैक्य वादेऽद्वैत्युद्भावितानांदोषाणांसम्भवोनवेतिविचार्य्यते ॥

(तत्र वेदान्तरक्षामणिः पृ० २०, २१)

अत्राद्वैतिनः, अधिकार भेदात्, प्रयोजनभेदाद्, विषयभेदाच्च भिन्नशास्त्रत्वमेव, नहि जैमिनिमतनिरसन पूर्वकं प्रवृत्तस्य ब्रह्ममीमांसा शास्त्रस्य जैमिनीयेनैकत्वम, भिन्नकर्तृकयोर्विरुद्धसिद्धान्त परयोश्च शास्त्रयोरेकत्वेहि न किमप्युदाहरणं प्रदर्शयितुं शक्यते। सर्वथा जैमिनीय दृष्ट्या न पूर्वोत्तरमीमांसयोरेकशास्त्रत्वम्, अन्यथा एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याविशेषात, इति पूर्व तंत्रसूत्रेणैवगतार्थत्वात्, सर्व वेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषादिति सूत्रम, पूर्वतंत्रगतेन वेदापौरुषेयत्वाधिकरणेनैवेष्टसिद्ध्या अत एव च नित्यत्वमितिसूत्रम, पूर्व तंत्रगतापशूद्राधिकरणेनैव कृतार्थत्वादपशूद्राधिकरणान्तरम्, वलावलाधिकरणेनैवाभीष्टलाभात् श्रुत्यादिवलीयस्त्वाच्च न बाध इति सूत्रम्, शास्त्रयोनित्वाधिकरणं च बहुवितथं स्यात्, अतोभिन्नशास्त्रत्वमेवयुक्तमिति वदन्ति ॥

(अत्र श्रीभाष्यानुयायिनः)

प्रथमंयत्तावत्, अधिकारिप्रयोजन विषयभेदाच्छास्त्र भेद इति यदुक्तं तदसङ्गतम्, उभयमीमांसायां वेदार्थस्य, आराधनविशिष्ट ब्रह्मणोर्वाविषयत्वात्। अधीत वेदस्य पुरुषस्य वेदार्थ निर्णयः कर्तव्य इतीच्छोदयात्, वेदार्थनिर्णयत्वस्यैवेष्टतावच्छेदकत्वात्, तदनुग्रहार्थशास्त्रस्यापि, तदिष्टतावच्छेदकावच्छिन्नोद्देशेन प्रवृत्तेर्युक्तत्वात्,

अत एकेष्टतावच्छेदकावच्छिन्नोपकारजननार्हत्वेन प्रवृत्तायाः मीमांसायाः, शास्त्रैक्ये न किञ्चिद्बाधकम् ॥

अतएव–चतुर्दशसुविद्यासुमीमांसैकागरीयसी, पुराणन्याय-मीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः, वेदास्थानानिविद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश, इत्यादिभिः मीमांसाया एकत्वं परिगणितम्॥ अतो वेदार्थ निर्णयार्थं प्रवृत्तस्याधिकारिणो वेदार्थनिर्णय रूप प्रयोजनस्य वेदार्थस्य च विषयत्वेनैकरूपत्वात्–न शास्त्रभेदः॥

एतेन यदिवेदव्याख्यानत्वेनैकशास्त्र्यमुच्यते तर्हि कल्प-सूत्र गृह्यसूत्रादीनामप्यैकशास्त्रत्वापत्तिरितिमन्दाशंकापि परास्ता। नहि वयं वेदव्याख्यानत्वमात्रेण शास्त्रैक्यं ब्रूम अपि तु वेदव्याख्यानत्वविशिष्टैकोपकार जननार्हत्वेन, न कुत्रापि कल्पसूत्रादीनामेकत्वंपरिगणितम्. महर्षिभिः, नापि सङ्गति विशेषउपलभ्यते नापि तत्रैकत्वे किञ्चित्प्रमाणम् शास्त्रैक्यवादे तु वहुप्रमाणोपपत्त्यादिकं वर्णितमेव।

यदपि, भिन्न कर्तृकयोर्विरुद्धसिद्धान्त परयोश्च शास्त्रयोरेकत्वे न किमप्युदाहरणमित्युक्तं तदप्यसारम्। केवल भिन्नकर्तृकत्वस्य न शास्त्रैक्यभेदापादकत्वम्। कादम्वर्यादिषु भिन्न-कर्तृकत्वेपि शास्त्रैक्यदर्शनेन व्यभिचारात्,

विरुद्धसिद्धान्तकथनन्तु जैमिनिवादरायण सिद्धान्ताज्ञान निवन्धनम्। यतःसाक्षादप्यविरोधंजैमिनिः, संपत्तेरितिजैमि-निस्तथाहिदर्शयति, इत्यादि सूत्रैः, भगवताव्यासेनस्वाभि-मतार्थ सिद्धये जैमिनिस्स्वनाम्नैवोपात्तः॥

औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्यज्ञान मुपदेशो-

व्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षितत्वात्, इत्यनेन जैमिनीस्स्वाभीष्टार्थ सिद्धये स्वगुरूं बादरायणमेव पुरस्करोति ॥

किञ्च, सुमन्तुंजैमिनिंवैल्वं वैशम्पायनमेवचेति महाभारत प्रमाणेन भगवतः व्यासस्य साक्षाच्छिष्य एव महर्षि जैमिनिः। स, चात्यन्तगुरुपरवशः, अस्तिकाग्रेसरः। अतएव सर्वत्र जैमिनिस्स्वगुरूं बादरायणं, बादरायणस्स्वशिष्यं, जैमिनिं स्वाभिमतार्थसिद्धये पुरस्करोति। जैमिनेर्व्यास विरुद्धाचरण कथनं रूपान्तरेण ऋषिमुनीनां निन्दाकथनमेव एवंविधानां वाक्यानामस्थान एवविद्वद्गोष्ठ्याम् ॥

यत्रक्वापि—शेषत्वात्पुरुषार्थवादोयथाऽन्येष्वित्यादिना विमतमिवोपलभ्यते तदपि पूर्वोपदर्शितानेक प्रमाणसिद्धशास्त्रैक्यस्य न बाधकम्, अत्यल्पतराप्रधानार्थ विवादस्य शास्त्रभेदकत्वाभावात्, यथा पूर्वकृत प्रासादखण्ड विषमांशापनयनेन शेषनिर्माणे पूर्वकृत प्रासादेनसह तदैक्यं तद्वदेव पूर्वोत्तर मीमांसायामपिशास्त्रैक्यमेव, स्पष्टञ्चेदंशास्त्रैक्यवादे श्रीमद्वेदान्ताचार्य्यैः। अधिकन्तु ततएवावगन्तव्यमिति।

वस्तुतस्सर्वत्राविरोध एव-संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्तितु. अक्षरधियान्त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम्, प्रदानवदेवतदुक्तमित्यादिसूत्रैः जैमिनि परिग्रहातिशयदर्शनेन जैमिने-

व्यासशिष्यत्वावगमेन वैभवोक्तेषु तत्वभ्रमोमन्दधियांमाभूदित्येतदर्थं जैमिनेरन्वारुह्यवादस्यानुवाद प्रतिक्षेपाविति तत्त्वविदः ॥

एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याविशेषात् , श्रुत्यादिवलीयस्त्वाच्च, न वाध इति सूत्राणां वैपरीत्यतयानिदर्शनमपि भवन्तमेव निर्दहति। यत, एतैरेवसूत्रैः शास्त्रैक्यं सिद्ध्यति–भिन्नशास्त्रत्वे, सर्ववेदान्त प्रत्ययंचोदनाद्यविशेषात् . श्रुत्यादिवलीयस्त्वाच्च न वाध इत्यादिष्वादिपदग्राह्यं किमद्वैतिनाम् ॥

आदि पदेन पूर्वतन्त्रोक्तस्यैवग्रहणं सर्व सम्मतम् , भिन्नशास्त्रत्वेतु–आदि पदेन जैमिनीयन्यायग्रहणं दुर्लभमेवभवेत्—नहि शास्त्रान्तरीयसूत्रस्यादिपदस्याकांक्षापूरणं शास्त्रान्तरीय सूत्रेण दृष्टं श्रुतं वा, जैमिनीयेन सहैकत्वादेवापूर्णं सूत्रं विधायोचरितं व्यासार्य्यैः–भिन्न शास्त्रवादिनामयंविरोधोदुर्वार एव ॥ एतेनापशूद्राधिकरणवैयर्थ्योक्तिरपि दूरीकृता, तादृशाधिकरणस्य पूर्वपक्षोत्तरप्रदानरूपत्वेन चारितार्थ्यात् . यदि कश्चन पूर्वपक्षी प्रब्रूयात् पूर्व मीमांसातोब्रह्ममीमांसायाः भिन्नत्वेन पूर्वमीमांसोक्तापशूद्राधिकरणेनागतार्थत्वेन ब्रह्ममीमांसायां शूद्राणामधिकारः कुतोनेति तन्मुखपिधानायैवापशूद्राधिकरणम् ॥

वस्तुतः, संवर्गविद्यायामाजहारेमाश्शूद्रः नानेन मुखेनालापयिष्यथा, इत्यत्र शूद्र शब्द दर्शनेन रथकाराधिकरणन्यायेनशूद्रस्य संवर्ग विद्यायां प्राप्ताधिकार निराशार्थमपशूद्राधिकरणम् ॥

यथा चापशूद्राधिकरणस्याद्वैतमते वैयर्थ्यं तथोद्भाव्यते, तथापि निर्विशेष ब्रह्मातिरिक्त कृत्स्न मिथ्यावादिनामद्वैतिनां मतेऽपशूद्राधिकरणं वैयर्थ्यमेव, नच शूद्रादेः ब्रह्मज्ञानेऽनधिकार-सम्पादनार्थं सार्थक्यमनूपनीतस्यानधीत वेदस्याश्रुत वेदान्त वाक्यस्यापि शूद्रस्य निर्विशेषचिन्मात्रं ब्रह्मैव सत्यमन्यत्सर्वं तस्मिन्कल्पितं मिथ्याभूतमित्याप्तवाक्यादेव वस्तुयाथात्म्य ज्ञानोत्पतेस्सम्भवात्, नच तत्त्वमस्यादिवाक्येनैव ज्ञानोत्पत्ति-कार्य्येति नियमार्थमपशूद्राधिकरणम्, ज्ञानस्यापुरुषतन्त्रत्वात्। सत्यांसामग्र्यामनिच्छतोपिज्ञानोत्पत्तेः॥

एवं च यथा चापशूद्राधिकरणमद्वैतमतेवैयर्थ्यं तथा पूर्ण-तया विवेचितं श्रीभाष्यकारैरपि॥

"अतएव च नित्यत्वमिति सूत्रवैयर्थ्योद्भावनन्तु श्रीभाष्य-शांकरभाष्याद्यनवलोकन निबन्धनमेव अनन्तकृष्ण महो-दयस्य। यतः—तत्तदद्भाष्यकारैरेवपौनरुक्त्यमाशंक्य, पूर्व मीमांसोक्तार्थाविरोधेनैव व्याख्यातं सूत्रम्।

अस्यसूत्रस्यवैयर्थ्योद्भावनं नूनमपाण्डित्यमावेदयति—भवद्भाष्यकारेण पुनरुक्तिरुद्भाव्यते, किंभिन्न शास्त्रेपि पुन-रुक्तिदोषप्रसरः। यथाचेदमपि सूत्रंशास्त्रैक्यसाधकन्तथाग्रे विवेचयिष्यते॥ पूर्वतंत्रेसाध्यधर्मस्यैवलक्षणत्वेन न शास्त्र-योनित्वाधिकरणवैयर्थ्यमपि॥

(रक्षामणिः—२५ —पृ०—) नहि श्रीभाष्यसिद्धान्ते देवतानामपि जैमिनीय कर्मविचारानन्तरमेव ब्रह्मविचार इति कल्पना सम्भवति, यथा च देवतानां न स्वाध्यायाध्ययनाधिकारिता ब्राह्मण्याद्यभावात् तथाऽन्यत्र व्यक्तमिति ।।

अत्र समाधीयते—

तदुपर्य्यपिबादरायणस्सम्भवादित्यादिभिस्सूत्रैः भगवता वेदाचार्य्येण देवादीनां ब्रह्मोपासनायामधिकार एव समर्थितः नतु मीमांसाशास्त्राध्ययनेऽधिकारस्समर्थितः । ये खलु शारीरकसूत्राध्ययनेन ब्रह्मविचारंकुर्वन्ति तेपां कर्मविचारापेक्षाऽस्त्येव—यतः-शारीरक सूत्राध्ययनेन ब्रह्मविचार कारणंप्रस्तुतम् । येहि ब्रह्ममीमांसायामधिकारिणः तेपामुभय मीमांसा श्रवणे न कापि विप्रतिपत्तिः । देवा, अपि शारीरक सूत्रेणैव ब्रह्मविचारंकुर्वन्तीतिनोपलब्धं कुत्रापि—

बादरायण सूत्रेणैवार्थ निश्चयस्यावश्यकत्वे—एतत्सूत्रार्थपरिज्ञानायावश्यापेक्षित पूर्वमीमांसाध्ययनं पूर्वं कर्तव्यमेव । वेदार्थनिर्णयायखलुमीमांसाशास्त्रम् । अत्युत्कटतपःशीलानां सम्प्राप्तशक्तिविशेषाणां स्वयं प्रभात वेदवेदार्थानां देवानां न वेदार्थ विचाराय ब्रह्मसूत्रापेक्षा ।

आवश्यकत्वे पूर्वमीमांसातः प्रवृत्तिः केनवार्य्यते नहि बादरायणेन विचारशास्त्रेऽधिकार उक्तः—येन कर्म विचारेऽनधिकारिणोदेवा इति, किन्तूपासनायामेवाधिकारस्साधितः । भव-

न्मतेऽनूपनीतानां देवानां वेदान्ताध्ययनाभावेन वेदान्त विचारोऽयुक्त एव साधनचतुष्टयमध्येशमदमादिषूपरति शब्देनसंन्यासस्यैव ग्रहणेनदेवादिषूपनयनाभावनिबन्धन मन्न्यासाभावात्साधनचतुष्टयस्यैवासिद्ध्या शंकराचार्य्यसिद्धान्ते देवताधिकरणवैयर्थ्यमपरिहरणीयमेवेति—

एतेन—(वेदान्तरक्षामणि—६—पृष्ठे)

(ब्रह्मजिज्ञासापद सूचित निर्विशेष ब्रह्मज्ञाने विधुरसन्न्यासि देवता गृहस्थादि साधारण्यस्य साधन चतुष्टय संपत्तावेवसम्भवादिति अनन्तकृष्णप्रलापोपि निरस्तः ।

अत्र श्रीभाष्यानुयायिनः

साधनचतुष्टयमध्ये उपरतिशब्दस्य (उपरतिः सन्न्यासः) इति शांकरव्याख्यादर्शनेन उपरतिः—नित्यनैमित्तिककाम्यनिषिद्धक्रियात्यागः सन्न्यास इति यावत्—इतिवार्तिक व्याख्यादर्शनेन उपरतिः सन्न्यास इति प्रदीप दर्शनेन च विधुर गृहस्थदेवादीनां सन्न्यासाभावनिबन्धन साधनचतुष्टयसम्पत्त्यभावेन ब्रह्ममीमांसायामनधिकारात् , विधुराधिकरण देवताधिकरणानां च वैयर्थ्यमेवाद्वैतसिद्धान्ते उपरतिशब्दस्यस्पष्टमेव सन्न्यास परत्वं व्याख्यातमद्वैतानुयायिभिः, तथाचाद्वैतग्रन्थैरेवाद्वैतमतंन्निर्मूलमिति ॥

श्रीभाष्यानुयायिनान्तु न विधुराधिकरणस्य न वा देवताधिकरणस्यवैयर्थ्यम् ।

देवादीनामुपासनायामेवाधिकारस्य बादरायणाचार्य्यैः प्रतिपाद-नात् निरपेक्ष्य विचारशास्त्रं स्वयमेव विचारे समर्थाः देवादयः, मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्येति समर्थितंपूर्वमीमांसायाम् ।

अथ शब्दार्थपूर्ववृत्तं न विद्यापूर्ववृत्तं किन्तु ब्रह्मविचारशास्त्र प्रवृत्ति पूर्ववृत्तम् । विधुराणामाश्रमकर्माभावान्न विद्याधिकारः । अनाश्रमिणामपिविद्यादर्शनेन, अस्त्यधिकारः, नचाश्रमधर्मैरेव-विद्यानुग्रहः किन्तु जपोपवासादिभिः वर्णधर्मैरपि विद्यानुग्रहः, तथा च यज्ञादिरूपकर्माभावेपि वर्णधर्मैरपि विधुराणां विद्योत्पत्ति सम्भवेन न विधुराधिकरणं वैयर्थ्यम् । नवा शास्त्रप्रवृत्तौ बाधकं किञ्चित्पश्याम इति ॥

(वेदान्त रक्षामणिः)

(यदपि—१३—१४—१५—पृष्ठे रक्षामणौ)

अथातो ब्रह्मजिज्ञा, इत्यारभ्य, अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्, इत्यन्तं चतुर्लक्षणं ब्रह्ममीमांसाशास्त्रम् । अथातोधर्मजिज्ञासा, इत्या-रभ्य प्रवृत्तायाः कर्मदेवता मीमांसायाः पृथग्भूतम्, न तयोरैक्यमिति शंकरभगवत्पादानां राधान्तः । तदुक्तंभाष्ये— एवं च सति अथातो धर्मजिज्ञासा, इत्येवारब्धत्वाद् न पृथक् शास्त्रमारभ्येत, आरभ्यमाणं चैवमारभ्येत, अथातः परिशिष्टधर्मजिज्ञासा, अथातः क्रत्वर्थ पुरुषार्थ-योर्जिज्ञासेति ॥ सत्यप्येवंस्वाध्यायानन्तर्यंतुसमानम् इतिभाष्यान्तर्णीत पूर्वपक्ष भाष्यभामत्यादि ग्रन्थेन शंकरभगवत्पादानामपि पूर्वोत्तर-मीमांसयोरैकशास्त्र्यमितियदैकशास्त्र्यमीमांसायाम्—

प्रतिवादिभयंकरोपनामक श्रीमदनन्ताचार्य्यस्वामिनोऽभिमन्यन्ते, तदिदं न केवलंसत्संप्रदायसंदर्भादि विरुद्धम्, किन्त्वसम्भवदुक्ति-

कमपीत्यनन्तकृष्ण इति, तदप्यसंगतम् शास्त्रैक्यवादस्य बहुधा समर्थितत्वात् ॥

(अथ श्रीभाष्यानुयायिनः)

शंकरभगवत्पादानां शास्त्रैक्यं सम्मतं न वेति विचारणीयम् ॥

वयन्तुवदामः, शास्त्रैक्यमेव सम्मतं शंकरभगवत्पादानामपि, तथाहि—अतएव च नित्यत्वमिति सूत्रंविवृण्वता भगवताशंकराचार्येण—पूर्वमीमांसोक्तापौरुषेयत्वाधिकरणेनैव गतार्थत्वात्पुनरुक्तमिदं सूत्रमितित्याशंक्य स्वतन्त्रस्य कर्त्तुरस्मरणादितिस्थिते वेदस्य नित्यत्वे देवादिव्यक्ति प्रभवाभ्युपगमेन तस्य विरोधमाशंक्यनित्यत्वं साधयति, इत्यादिना प्रकारान्तरेण सूत्रसार्थक्यमापादितम् ॥

इयमत्र भामती—ननु प्राच्यामेव मीमांसायां वेदस्य नित्यत्त्वं सिद्धं तत्किंपुनः साध्यत इत्यत आह—स्वतन्त्रस्येति, रत्नप्रभाकारोपि, पूर्वतंत्रवृत्तानुवादपूर्वकं सूत्रं व्याचष्टेस्वतन्त्रस्यकर्तुरित्यादिना ।

न्यायनिर्णयकर्ता आनन्दगिरिरपि—पूर्वमीमांसायामेव वेदनित्यत्वस्यसिद्धत्वादिहतन्नित्यत्व साधनस्याकिञ्चित्करत्वादित्याशंक्य सूत्रतात्पर्य्यमाह—कर्तुरिति पूर्वतंत्र सिद्धमेववेदनित्यत्वं देवादिजगदुत्पत्तौ वाचक शब्दस्यापि तद्भावादयुक्तमिति शंकिते शब्दादेवनित्याकृतिमतस्तज्जन्मेतिसमाहितमिति ॥

अयमेवात्रप्रष्टव्यांशः—यदिशंकराचार्य्यस्य शास्त्रैक्यं नानु-मतंचेत्तर्हि-पूर्वमीमांसायाः ब्रह्ममीमांसापेक्षया सर्वथा भिन्नत्वेन पूर्वतंत्रोक्तापौरुषेयत्वाधिकरणेन सह अतएव च नित्यत्वमिति ब्रह्मसूत्रस्यागतार्थत्वात्, भिन्नेऽस्मिन् शास्त्रे स्वतंत्र वेदप्रामाण्य प्रतिपादनस्ययुक्तत्वात्, पुनरुक्तिशंकायाऽवसर एवनास्तीतिवक्त-व्यत्वे पुनरुक्तिशंकोद्भावनेन प्रकारान्तरेण सार्थकतावादेन च शंकराचार्य्यस्यशास्त्रैक्यमभिष्टमेव, वाचस्पतिप्रभृति टीका-काराणामपि—

अनुक्तमप्रतिषिद्धमितिन्यायात् शास्त्रैक्यं सम्मतमेव नहि-भिन्न शास्त्रत्वे पुनरुक्तिशंकाया अवसरः—नच पाणिनीयादि तन्त्रे शास्त्रान्तरापेक्षया पुनरुक्ति शंकायाः-प्रादुर्भाव उपलभ्यते, तस्मादत एव च नित्यत्वमिति सूत्रस्य शाङ्करभाष्य दर्शनेन भगवतः शङ्कराचार्यस्य शास्त्रैक्यं सम्प्रतिपन्नमेव ॥

एवं भेदान्नेतिचेन्नैकस्यामपि इति सूत्रे—इहापि किञ्चि-द्विशेषमाशंक्य परिहरतीति शाङ्करभाष्यम् । अनेन भाष्येण स्पष्ट-मेव शास्त्रैक्यं वक्ति शङ्कराचार्य्यः । तदीय व्याख्यात्रिभिरपि—शाखान्तरन्न्यायेनैव कर्मैक्यवद्विद्यैकसिद्धेः पुरुक्तिरित्यत आह—इहापीति-पञ्चाग्नीन् वेद इत्याद्युपासनोत्पत्तिविधिस्थ पञ्चाग्न्यादि रूपभेदादुपासनाभेदः स्यात् । अमीक्षावाजिनरूप भेदात् कर्म भेदवदित्यधिकाशंका निराशार्थत्वात् न पौनरुक्त्यमस्याधि-करणस्येति । अनेन मूलटीकादि पर्यवेक्षणेन शङ्कराचार्यस्य

शास्त्रैक्यवादोऽभिष्ट एव, भिन्नशास्त्रत्वे पुनरुक्तिलेशस्याप्यभावेन पुनरुक्ति दोषस्य प्रकारान्तरेण सार्थकतावादस्य चोन्मत्तप्रलपितत्वमेवापद्येत् ,

किञ्च (एक आत्मनः शरीरेभावात् ,) इति सूत्रभाष्येपिशास्त्रैक्यमुक्तम् शंकराचार्येण—

तत्रेत्थं शांकरभाष्यम्—ननुशास्त्रप्रमुख एव प्रथमेपादे शास्त्रफलोपभोगयोग्यस्य देहव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽस्तित्व मुक्तम्, पुनरिह विवेकोऽनवसरएवेति चेन्न तत्र भगवताभाष्यकृता शबरस्वामिना उक्तम् नतु जैमिनिना येन पुनरुक्त्यादिदोषावकाशःस्यात् , इहतु स्वयमेव सूत्रकृता आक्षेपपुरस्सरं प्रतिष्ठापितम् । इत एव चाकृष्याचार्य्येण शबरस्वामिना प्रमाणलक्षणेवर्णितम् , अतएव च भगवतोपवर्षेण प्रथमे तन्त्रे, आत्मास्तित्वाभिधानप्रसक्तौ शारीरकेवक्ष्याम इत्युद्धारः कृतः ॥

अत्रस्पष्टमेव शंकराचार्य्याः शास्त्रैक्यमनुमन्यन्ते—भगवता शबरस्वामिनोक्तम्, नतु जैमिनिना, अनेन शास्त्रैक्ये, एव पुनरुक्तिदोषोनतुशास्त्रभेदे, इत्यपिस्पष्टमेव सूच्यते ।

एतेन नहि अथातोधर्मजिज्ञासेत्यादि द्वादश लक्षण्यादिप्रणयमानन्तरमेव वादरायणेन ब्रह्ममीमांसाप्रणीता, नतु ततः पूर्वमितिति श्रीभाष्यानुसारिणो वर्णयितु महन्ति येन अथातो धर्मजिज्ञासा इति प्रथम प्रतिज्ञास्यादिति, २४—पृ० चतुर्विंशति पृष्ठे अनन्तकृष्णकुचोद्यमपि दूरीकृतम् ॥

यदि पूर्वमीमांसा पूर्वं न प्रणीतास्यात्तदाकथं पुनरुक्ति दोषप्रसरः—अद्वैतभाष्यकारास्तद्व्याख्यातारश्चोन्मूलयन्ति भवन्तम्। यतो बहुभिस्सूत्रैः पुनरुक्तिमुद्भावयन्ति शंकराचार्य्याः समर्थयन्ति च तद्व्याख्यातारः ॥

किञ्च—सर्व वेदान्त प्रत्ययंचोदनाद्यविशेषात् श्रुत्यादि-बलीयस्त्वाच्च न बाध, इत्यादि व्याससूत्रप्रमाणानि, अत्रादिपदैः एकं वासंयागरूपचोदनाख्या विशेषात्, श्रुतिलिङ्ग वाक्य प्रकारणस्थान समाख्यानांपारदौर्बल्यमर्थ विप्रकर्षादित्यादि जैमिनि सूत्राणामेव ग्रहणं सर्वसम्मतम्—

भिन्न शास्त्रत्वे जैमिनि सूत्रस्यापूर्वत्वे च कथं व्यास-सूत्राणां समन्वयः कथं न शांकरभाष्यस्य पराजयः वस्तुत उपजीव्योपजीवक भावनिबन्धन एव पूर्वत्व परत्वे वेदप्रामाण्यस्य पूर्वतंत्रे, एवकृतत्वात् ।

उत्तरमीमांसायाः पूर्वप्रणीतत्वे वेदप्रामाण्याप्रतिपादन निबन्धनोदोषो भगवतः व्यासस्यानिवार्य्य एव अनन्तकृष्णोक्तदिशा अतो स्वात्मानं रक्षतु भवान् गुरुद्रोहात् ।

अत्रामी संगतिविशेषाः, अभिप्रेताः पाठक्रमश्चेतनानां त्रिवर्गे प्रथमप्रावण्य सम्भव रूपोऽर्थस्वभावः, औपनिषदेष्वङ्गाङ्गी भावप्रतिपादकवाक्येषु यज्ञादिकर्मणः पदार्थत्वेन सम्बन्धः,

व्याख्यानभूत मीमांसायांच, उत्तरभागस्य पूर्वभागोक्तन्याय सापेक्षत्वञ्च—

कर्मविज्ञानयोर्हेतु हेतुमद्भाव सम्मतेः,
प्राग्भावः कर्मणः सिद्ध्येत् पश्चाद्भावः परस्य च,

इत्यादिना श्रीश्रुतप्रकाशिकान्यायसुदर्शनादिषु स्पष्टएव कर्मणः पूर्वभावः, उत्तरस्योत्तरभावोवर्णितः ॥

(यदपि शास्त्रैक्यवादे रक्षामणिः—२१—पृ०)

यानि पुनः एक आत्मनः शरीरेभावात् इति पौनरुक्त्य शंका पराणिवाक्यानि ततो ज्ञायते यथोत्तरमीमांसायाः कुत्रचन पूर्वमीमांसापेक्षाः एवं पूर्वमीमांसाया अपि समस्ति, देहातिरिक्तात्मस्वरूप निर्णयार्थ मुत्तरमीमांसापेक्षेति, तत्र कानिच न पूर्वोत्तर तन्त्र शेषाणि-यथा वेदनित्यत्वादीनि, कानिचन तत्तदसाधारणानि तत्तदसाधारणानां तन्त्रान्तर निर्णीतानां, सम्भवति ततोप्यनुसन्धानम्, अनुक्तमविरुद्धमन्यतो ग्राह्यमिति न्यायात्। ततश्चस्वाविरुद्धानां तन्त्रान्तर निर्दिष्टानां व्यर्थं स्वस्मिन्नपिसंकलनमित्यभिप्रेत्यैव, एक आत्मनः शरीरे भावात्। इत्यादौ पौनरुक्त्यमाशंक्यते, नतु तदेक प्रवन्धत्वमभिप्रेत्य, इति वदन्ति शांकरमतानुयायिनः, अनन्तकृष्णादयः। इति

(अत्र श्री भाष्यानुयायिनः)

तथाहि शास्त्रैक्ये बहुप्रमाणानि प्रदर्शितानि—तानि सर्वाण्यनन्यथासिद्धानि, नोत्तरदाने समर्था अद्वैतिनः, तथा च शांकरभाष्यादि ग्रन्थपर्य्यवेक्षणे सर्वेषामद्वैतिनांशास्त्रैक्यवादे न क्षोदक्षमः,

पुनरुक्तिदोषस्यैकस्मिन्नेवतंत्रे सर्वराधान्तसिद्धत्वेन, भवन्तं विहाय कोह्यनुन्मत्तः यथोत्तरमीमांसायाः पूर्वमीमांसापेक्षा, एवं पूर्वमीमांसाया अपि इति पुनरुक्ति पदस्यार्थकरणे समर्थः प्रभवेदपि यदि भवद्व्याख्यानमेवाद्वैतिनां चमत्कारजनकन्तर्हि नमस्तेभ्यः विदुषांनोत्तरंवाच्यमिति

अनुक्तमविरुद्धमन्यतोग्राह्यमित्यस्यार्थमेव न जानन्ति भवन्तः केवलं महामहोपाध्यायपदमेवालंकुर्वन्ति यतोहि स्वाविरुद्धानां तंत्रान्तर निर्दिष्टानां व्यर्थं स्वस्मिन् संकलनमितिन्यायार्थं वदन्ति भवन्तः एवं विधार्थ करणेद्विर्बद्धंसुबद्धंभवति, इति न्यायस्य, ब्राह्मणवशिष्ठन्यायस्य च लोकेऽनिस्तार एव भवद्रीत्या ।

प्रायेण तादृशार्थकरणकाले न्यायस्वरूपमबुद्ध्वैवोक्तंभवता गुणस्वरूपस्यन्यायस्य दोषतैव प्रतिपादिता,

न्यायार्थस्तु—सतिप्रयोजने स्वानभिहितमप्यर्थजातमविरुद्धं तन्त्रान्तरोक्तं चेत्ततोग्राह्यमिति तस्य च गुणत्वमेव, नहि दोष प्रदानार्थमुक्तेप्यर्थे तन्त्रान्तरेणाविरुद्ध ग्रहणे न्यायाभ्यनुज्ञा, अन्यथा, अनुक्त पदंवैयर्थ्यमेवस्यात् ,

नहि न्यायव्याकरणसांख्यादिषुस्वोक्तार्थेषु, अनेनन्यायेन तंत्रान्तरेण दोषं सम्पाद्य तस्योद्धाराय प्रयतमानास्समुपलभ्यन्ते, अनेन न्यायेनावर्तमानमपि दोषं सम्पाद्य, उत्तरप्रदानंहि-प्रक्षालनाद्धिपङ्कस्यदूरादस्पर्शनं वरमितिन्यायग्रस्तमेव—

अनुक्तमिति न्यायस्य, व्यर्थस्वस्मिन्नपि संकलन मित्यर्थः

केन पदेन लभ्यते केवलं निरुद्धकपोल कल्पनामात्रमेव–भवतः। तत्रशवरस्वामिना उक्तन्नतु जैमिनिना, इदंभाष्यं किंभवन्तं न ताडयति, जैमिनि प्रोक्तत्वे, एवपुनरुक्तिः न शवर स्वामिप्रोक्तत्वे, इत्यनेन स्पष्टमेव जैमिनीयेन सहैकत्वं बादरायण सूत्रस्य—

एतेन ग्रन्थेनोपवर्षस्यशवरस्वामिनश्च शास्त्रैक्यंद्योत्यते, अतएव भगवतोपवर्षेण प्रथमेतंत्रेऽऽत्मास्तित्वाभिधान प्रसक्तौ शारीरकेवक्ष्याम इत्युद्धारः कृत इतिशंकरोक्तिरेव तत्र प्रमाणम्। उपवर्षश्च बोधायन इति सर्वप्रसिद्धः॥

तंत्रान्तर निर्दिष्टानां व्यर्थं स्वस्मिन् संकलनमितिभवत्कल्पितेऽर्थेयद्यभिप्रायस्तर्हि किं शंकराचार्य्य दृष्ट्या अन्ये दार्शनिकाः आत्मतत्त्वज्ञाः ब्रह्मविचार परायणाः ऋषयः किं न सन्ति, व्याससूत्रयोग्याः गौतमादि तन्त्रेऽर्थाः किं न सन्ति–यतः सर्वत्र जैमिनीयेनैवपुनरुक्तिमुद्भावयन्ति नान्येभ्यऋपिग्रन्थेभ्यः—

अतोऽन्यत्र व्याससूत्रयोग्यार्थाःस्सन्तुनाम, परन्तु जैमिनीयेन सहास्यशास्त्रैक्याज्जैमिनीय तंत्रे विद्यमानानामर्थानां ब्रह्ममीमांसायां निरूपणेसति पुनरुक्ति दोषः जागरूकएव तत्र शवरस्वामिना कृतम् न जैमिनिना, इति वदतः शंकराचार्य्यः पूर्वोक्तार्थंस्पष्टयति—अन्यथा शवरस्वामिना किमपराद्धम् शंकरस्य, अतोयुक्तंशास्त्रैक्यंशंकराचार्यस्येति

तथा च तथ्यमुक्तं प्रतिवादिभयंकरोपनामक श्रीमदनन्ताचार्यस्वामिमहोदयैः शास्त्रैक्य मीमांसायां यत्भगवत् शंकरपादानामपि शास्त्रैक्यं सम्मतमेव—

अद्वैतमतविवेचन पुरस्सरस्थापितोयमर्थःपूर्वत्रास्माभिः।
तत्रशांकरभाष्यभामत्यादिभिरेव शास्त्रैक्यवादः स्पष्टीकृतः॥

एतेन यदुक्तं रक्षामणौ-१९ पृ०-

कर्म ब्रह्मणोभूतत्वाभ्यां वैलक्षण्यमस्तु वा-मा-वा। धर्मशब्दोब्रह्मापिबोधयितुं शक्नोत्येव तत्पद शक्यतावच्छेदकस्यालोकिक श्रेयः साधनत्वस्योभयसाधारण्यादित्याद्यनन्ताचार्योक्तमपि परास्तम्—अस्याद्वैतसिद्धान्त विरुद्धत्वात्—

अद्वैतमतेहि निर्गुणमेवब्रह्म—अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति मुख्यजिज्ञासतया विवक्षितम्—ननु सगुणं ब्रह्मेति अथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्यत्र धर्म शब्देन ब्रह्मणो न ग्रहणं भगवत्पादसिद्धान्त दृष्ट्येति-अतोनाद्वैतिसम्मतमिदंयत् पूर्वोत्तरमीमांसयोरैकशास्त्र्यं नामेति—

तदप्यसंगतम्—स्वाध्यायानन्तर्यं तु समानमिति शांकरभाष्यमादाय धर्म शब्दस्य वेदार्थमात्रोपलक्षणतया धर्मवद् ब्रह्मणोपि वेदार्थत्वाऽविशेषेण वेदाध्ययनानन्तर्य्योपदेशसाम्यादिति वदता भामतीकारेणस्पष्टमेव धर्म शब्देन ब्रह्मणोर्ग्रहण मुक्तम्—

नचेदं पूर्वपक्षभाष्यं किन्तु सिद्धान्तभाष्यम्-अनेन अथ शब्दस्य वैयर्थ्यभियास्वाध्यायानन्तर्य्य परत्वमुपक्षिप्तम्।

भामतीवाक्यं व्याकुर्वद्भिः कल्पतरुकारैश्च धर्मजिज्ञासासूत्रे ब्रह्मानुपादानान्नतेन गतार्थता तत्राह, धर्म शब्दस्येत्यादिना-स्पष्टमेव धर्म पदेन ब्रह्मणोग्रहणमुच्यते । अतो धर्मपदेन ब्रह्मणो न ग्रहणमद्वैत सिद्धान्ते, इदं वचनं साहसमात्रमेवानन्तकृष्णस्य-भामतीकारास्तद्व्याख्यातारश्चस्पष्टमेव धर्म पदेन ब्रह्मणोग्रहणं-स्वीकुर्वन्ति धर्मशब्देन यथा च ब्रह्मणोग्रहणं तथा सन्ति प्रमाणानि ।

येच वेदविदोविप्राः येचाध्यात्मविदोजनाः ते वदन्ति महात्मानं कृष्णं धर्म सनातनम् । रामो विग्रहवान्धर्म-इत्यादिः ॥

निर्गुण ब्रह्मणः जिज्ञास्यत्ववचनमुपहास्यमेव--सविशेषस्यैव जिज्ञासा सर्वप्रमाण सिद्धानिर्विशेषेका जिज्ञासा ॥

यथा च सर्वाद्वैत सम्मतं शास्त्रैक्यं तथा पूर्वमेव विवेचितम् , प्रमाण समन्वय चतुराणां वेदज्ञपुरुषाणामनन्ताचार्य्य-स्वामिपादानां ॥

भावोतिगम्भीरएव न भवद्विधाः पुरुषाःज्ञातुं समर्थाः ।

पूर्व तंत्रे नोभयभागासाधारणी जैमिनिना प्रतिज्ञाकृतेत्येव शंकर हृदयम्--अतो न परिशिष्ट जिज्ञासेति कुचोद्या-नामवकाशः शास्त्रैक्यमेव सर्वत्राङ्गीकरोति भगवत् शंकरः ।

अतएव न चैवं कर्मब्रह्म विचारयोरैकशास्त्र्याभ्युपगमे ब्रह्म-जिज्ञासा सूत्रगतस्याथशब्दस्य कर्म विचारानन्तर्य्यमर्थः स्यादिति

वाच्यम् , भाष्योक्तरीत्या ब्रह्मविचारे कर्मानुष्ठानानियमस्याभावेन तदप्रसक्तेः, इति परिमलोक्तिरपि संगच्छते—

अनेन परिमल ग्रन्थेनस्पष्टमेव शास्त्रैक्यं गम्यते शंकराचार्य्यस्य शास्त्रैक्ये नियमेन न कर्मणोऽपेक्षा, इत्येवाशय इत्यपि परिमलग्रन्थेनद्योत्यते-- भामत्यां-स्पष्टोयमर्थः–

एवंचाननुष्ठित कर्मापि प्राग्भवीयकर्मवशात् यो विशुद्धसत्वः संसारासारतादर्शनेन निष्पन्नवैराग्यः कृतं तस्य कर्मानुष्ठानेन वैराग्योत्पादोपयोगिना, प्राग्भवीयकर्मानुष्ठानादेव तत्सिद्धेः–इति भामती—

अतः कदाचित्कर्मणोऽनपेक्षेत्येव तात्पर्य्यं शंकराचार्य्यस्य तथा च पूर्वापरभाष्यभामत्यादि ग्रन्थदर्शनेनाद्वैतिनामपि शास्त्रैक्यं सम्मतमेवेति सर्वमवदातम् ॥

(यदपि—२१—२२—पृ० वेदान्तरक्षामणौ)

अथेदानिमवशिष्यते समालोचयितुं–यत् श्रीभाष्यमतानुसारेण पूर्वोत्तरमीमांसयोरैकशास्त्र्यं साम्प्रत मुतासाम्प्रतमिति । अत्र च–

उपदेशादथोक्तादिस्वारस्याद्धर्मयोगतः ।
पूर्णोपदेशतश्चैक्यंपूर्वभागोपजीवनात् ॥

इति प्राचां संग्रहकारिकैकैक समालोचनमर्हति ।

संहितमेतच्छारीरकं जैमिनीयेन षोडश लक्षणेन इति सत्यमस्ति बोधायनाचार्य्याणामुपदेशः, परन्तु अनुपपन्न उपदेशो न वस्तुसाधनायालम् , अत्र प्रथमं जैमिनीयेन षोडश लक्षणेन इति जैमिनीयत्वं

षोडशंलक्षणस्य यदुल्लिखितम् , तदिदं कर्म देवता ब्रह्मगोचरासोद्भवौ त्रिधा सूत्रकारतः । जैमिनेर्मुनेः काशकृत्स्नतो बादरायणादित्यतः क्रमात् इति तत्त्वटीकोद्धृत तत्त्वरत्नाकर वचन विरुद्धम् ॥ तथा च कोवाऽयं बोधायन इति न जानीम-इत्यनन्तकृष्णशास्त्रिणः प्रश्नः-सोपि श्रीभाष्याद्यर्थानवलोकनेन निर्मूलः ॥

(अत्र श्रीभाष्यानुयायिनः)

सर्वस्यापि षोडश लक्षणात्मक मीमांसाशास्त्रस्य वक्ता जैमिनिरेव-अतएव संहितमेतच्छारीरकं जैमिनीयेन षोडश लक्षणेनेति वचनं संगच्छते—

श्रीभाष्यकारैरपि-प्रभुत्वादार्त्विज्यमित्यन्ते न सूत्रकलापेन ससंकर्षणकृतः, इत्यनेन सर्वस्यापि षोडशभागस्य वक्ता जैमिनिः, काशकृत्स्नस्तु देवता काण्डस्योपकारक इति स्पष्ट उक्तः ॥

वेदान्ताचार्य्यैरपि-अधिकरण सारावल्याम्—

वृत्तिग्रन्थे तु जैमिन्युपरचिततयाषोडशाध्याय्युपात्ता ।
संकर्षः काशकृत्स्नप्रभव इतिकथं तत्त्वरत्नाकरोक्तिः ॥
अत्र ब्रूमः सदुक्तौ न वयमिह मुधाबाधितुंकश्चिदर्हा ।
निर्वाहस्तूपचारात्तदिहघटते ह्येकतात्पर्य्ययोगः ॥

इत्यादिना देवताकाण्डस्य काशकृत्स्नप्रभवत्वमाशंक्योत्तरितम् ।

सर्व वेदान्त सिद्धान्त संग्रहे–

चतुर्दशसु विद्यासुमीमांसैका गरीयसी।
विंशत्यध्याययुक्ता, सा प्रतिपाद्यार्थतोद्विधा ॥

इति विंशत्यध्याय युक्ताया मीमांसाया एकत्वं वदन् शंकराचार्य्योऽपि कर्मकाण्ड देवताकाण्डयोरैक्यतात्पर्य्यमवधारयति ॥ देवता काण्डस्य द्वादश लक्षणीतः भिन्नत्वे–प्रतिपाद्यार्थतोत्रिधेति वक्तव्यंस्यात् ॥

अतोषोडशलक्षणात्मक पूर्वमीमांसाशास्त्रस्यवक्ताभगवान् महर्षि जैमिनिरेव काशकृत्स्नमहर्षिस्तुदेवताभागस्य लेखक इत्येवाशयः तत्वरत्नाकरस्य–

किञ्च, संहितमेतच्छारीरकं जैमिनीयेन षोडशलक्षणेनेति महर्षि बोधायन वाक्ये–जैमिनीयेनेत्यस्य--ऐक्यतात्पर्य्ययोगेन प्रोक्तत्वेन - भूयस्त्वव्यपदेशेनेत्यादि बहुधाऽर्थावगतौसति-महर्षे रभिप्रायमजानन्--अनन्तकृष्णमहोदयः कोऽयं बोधायनः-अनुपपन्नोपदेशकर्ताचेति वदन् कथनं स्वात्मानं निन्दति—भूयसांस्याद्बलीयस्त्वमितिन्यायमपि नास्मरति--पण्डितग्राम इति पतञ्जलिवाक्यमपि नावगच्छति—न दोषः सूर्य्यस्य यदेनमन्धोनपश्यति, तथाच युक्तमुक्तं श्रीभगवद्यामुनाचार्य्यस्वामिपादैः,

अभिनिवेशवशीकृत चेतसाम् ,
मतिमतामपि सम्भवतिभ्रमः ।।

इति अतो जैमिनीयत्वं षोडशलक्षणस्य यदुक्तंतत्तुसमीचीनमेव ।।

भवतोच्यते कोऽयंबोधायन इति--अत्याश्चर्य्यमिदं वचनम् । उपवर्ष एवबोधायनः-यः शंकराचार्य्येण अतएव भगवतोपवर्षेणेत्यादिनोपवर्ष पदेनस्मर्यते ।। तत्वटीकायां श्रीमद् वेदान्ताचार्य्यस्वामिपादाः—बोधायनस्यैवोपवर्ष इति नामान्तरमिति वदन्ति ।।

अथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्यत्राथशब्दस्य-स्वपूर्ववाक्यस्थधातु तात्पर्य्य विषयतावच्छेदकत्वोपलक्षितधर्मावच्छिन्न क्रियानन्तर्य्ये शक्तिःसर्व प्रतिपन्नेति, अनुगतमपीदंलक्षणम्--स्वीकृतं चेदं लक्षणं गदाधरप्रभृतिभिरपि ।

तथा च न साधन चतुष्टयस्य पूर्ववृत्तत्वसम्भवः किन्तु कर्मज्ञानस्यैव ।।

अतो जैमिनीय दृष्ट्या बादरायणरीत्या श्रीभाष्यदिशा शंकरदृष्ट्या च शास्त्रैक्ये न किञ्चिद्बाधकम् , प्रबन्धैक्ये सिद्धेः स्वरसप्राप्तकर्म विचारस्यैवानन्तर्य्यमङ्गीकरणीयम् ।

तस्मात् श्रीभाष्योक्तमेवयुक्तं न शांकराद्यभिहितमिति ।।

॥ अथ महासिद्धान्त विचारारम्भः ॥

तत्र प्रथमं महासिद्धान्तोपक्रमे भगवदाचार्य्यपादैः श्रीभाष्यकारैः, अद्वैताभिमत निर्विशेषवस्तुनः शशशृङ्गमिवाप्रामाणिकत्वं व्यवस्थापितम् ,

तथाहि निर्विशेषवस्तुवादिभिर्निर्विशेषे वस्तुनीदं प्रमाण मिति न शक्यते वक्तुम्, सविशेषवस्तुविषयत्वात्सर्वप्रमाणानाम् , यस्तुस्वानुभव सिद्धम् , इति स्वगोष्ठीनिष्ठः समयः सोप्यात्मसाक्षिकसविशेषानुभवादेव निरस्तः, इदमहमदर्शमिति केनचिद्विशेषेण विशिष्ट विषयत्वात्सर्वेषामानुभवानाम् । सविशेषोप्यनुभूयमानोनुभवः केनचित्युक्त्याभासेन निर्विशेष इति निष्कृष्यमाणः सत्तातिरेकिभिः स्वासाधारणैः स्वभावविशेषैर्निष्कृष्टव्यविषय इतिनिष्कर्षहेतुभूतैः सत्तातिरेकिभिः स्वासाधारणैः स्वभावविशेषैः सविशेष एवावतिष्ठते । अतः कैश्चिद्विशेषैर्विशिष्टस्यैववस्तुनोन्ये विशेषा निरस्यन्त इति न कचिन्निर्विशेषवस्तु सिद्धिः । शब्दस्यतु विशेषेण सविशेष एव वस्तुन्यभिधान सामर्थ्यम् , पदवाक्यरूपेण प्रवृत्तेः । प्रकृतिप्रत्यययोगे नहि पदत्वम् । प्रकृतिप्रत्यययोरर्थभेदेन पदस्यैव विशिष्टार्थप्रतिपादनमवर्जनीयम् । पदभेदश्चार्थभेद निबन्धनः । पदसंघातरूपस्य वाक्यस्यानेकपदार्थ संसर्गविशेषाभिधायित्वेन

निर्विशेषवस्तुप्रतिपादनासामर्थ्यान्न निर्विशेषवस्तुनि शब्दः प्रमाणम्। प्रत्यक्षस्य निर्विकल्पकसविकल्पकभेदभिन्नस्य न निर्विशेप वस्तुनिप्रमाणभावः। सविकल्पकं जात्याद्यनेकपदार्थ विशिष्ट विषयत्वादेव सविशेष विषयम्। निर्विकल्पकमपि सविशेषविपयमेव, सविकल्पकेस्वस्मिन्ननुभूतपदार्थ विशिष्ट-प्रतिसन्धान हेतुत्वात्। निर्विकल्पकं नाम केनचिद्विशेषेण वि-युक्तस्य ग्रहणं, न सर्वविशेषरहितस्य, तथा भूतस्य कदाचिदपि ग्रहणादर्शनात्,

अनुपपत्तेश्च,– केनचिद्विशेषेणेदमित्थमितिहि सर्वाप्रतीति-रुपजायते, त्रिकोणसास्नादिसंस्थान विशेषेण विना कस्यचिदपि पदार्थस्यग्रहणायोगात्, अतो निर्विकल्पकमेकजातीय द्रव्येषु प्रथमपिण्डग्रहणम्, द्वितीयादिपिण्डग्रहणं सविकल्पकमित्युच्यते,

तत्र प्रथमपिण्डग्रहणे गोत्वादेरनुवृत्ताकारता न प्रतीयते द्वितीयादि पिण्डग्रहणेष्वेवानुवृत्तिप्रतीतिः, प्रथमप्रतीत्यनुसं-हितवस्तुसंस्थानरूपगोत्वादेरनुवृत्तिधर्मविशिष्टत्वं द्वितीयादि-पिण्डग्रहणावसेयम्—इति द्वितीयादिग्रहणस्य सविकल्पकत्वम्। सास्नादिवस्तुसंस्थान रूपगोत्वादेरनुवृत्तिर्न प्रथमपिण्डग्रहणे गृह्यते, इति, प्रथमपिण्डग्रहणस्य निर्विकल्पकत्वम्, न पुनः संस्थानरूपजात्यादेरग्रहणात्, संस्थानरूपजात्यादेरप्यैन्द्रियकत्वा-विशेषात्, संस्थानेनविना संस्थानिनः प्रतीत्यनुपपत्तेश्चेति श्रीभाष्यकाराः।

एतावता प्रबन्धेन निर्विशेषवस्तुनि न शब्दः प्रमाणम्, नापि निर्विकल्पकसविकल्पकभेदभिन्नं द्विविधमपि प्रत्यक्षम् तत्रप्रमाणमतो प्रमाण शून्यं निर्विशेषंवस्तु इति श्रीभाष्य-काराशयः ॥

(वेदान्तरक्षामणिः पृ० ३०, ३१)

अत्र पूर्वपक्षः—इदमत्राद्वैतिनोमन्यन्ते—यत्र संस्थान-संस्थानिनो-रेकप्रमाणविषयत्वम् तत्र तत्तत्प्रमायाः सविशेषविषयकत्वमास्ताम्, यत्र तु संस्थानसंस्थानिनोर्भिन्नप्रमाणविषयत्वं, तत्र संस्थानिविषयकेणप्रमा-णेन संस्थानज्ञानमपिजन्यत इति नेदं सम्भवति। तथा च शाब्दापरोक्ष-वादिनामस्माकं तात्पर्य्यवृत्त्या स्वरूपमात्र पराणां वाक्यानां विशिष्य चास्थूलादिवाक्यानां विशेषसामान्यनिषेधपराणां कथं न निर्विशेष प्रत्यक्षजनकत्वम्। तथा च प्रत्यक्षस्य शाब्दस्य निर्विशेषवस्तुनि प्रामाण्यं न शक्यापह्नवम्, ऐन्द्रियकत्वमेव प्रत्यक्षस्येति मतेपि संस्थानि सन्निकर्षदशायां संस्थानसन्निकर्षोपि न नियत इति स्वीकर्तुं शक्यते, अन्यथारूपी घट इति रूपप्रत्यक्षतादशायां तत्परिमाणादेरपि प्रत्य-क्षत्वमापद्येत।

तथाचैकेन्द्रियग्राह्यत्वाविशेषेपि यथा रूपप्रत्यक्षता दशायां न परिमाणप्रत्यक्षनियमः, एवं संस्थानि प्रत्यक्षता दशायां न संस्थान-प्रत्यक्षनियमः, इति न प्रत्यक्षस्य सविशेषवस्तु विषयत्वनियमः, तथा च तत्त्वमस्यादि वाक्यानि यदि तात्पर्य्यानुपपत्त्या स्वरूपचैतन्यमात्रं लक्षणया बोधयन्ति तर्हि कथं नाम तेषां न निर्विशेष वस्तुविषय-कत्वम्, वस्तुतस्तु प्रकारताविशेष्यताद्यनवगाहित्वेनैव ज्ञानानां निर्वि-कल्पकत्वम्, इतिहिसर्वदर्शन सिद्धान्तः, नतुधर्मानुवृत्त्यभावमात्रेण प्रथम पिण्डग्रहणेन। अयंहि श्रीभाष्यकाराणां स्वसिद्धान्तानुगुण्यार्थ

कल्पना विशेषः, सच सर्व दर्शन विरुद्धः, निर्गुणवाक्यानां यथा च विशिष्टाद्वैतसिद्धान्ते वैयर्थ्यं तथा स्वावसरे विशदमुपपादयिष्यामः, अतो निर्विशेष वस्तुनः प्रामाणिकत्वे न क्षोदक्षमः इति॥

(अत्र श्रीभाष्यानुयायिनः—)

प्रतियोगितासम्बन्धावच्छिन्नविशेषत्वावच्छिन्नविषयता-निरूपिताऽभावविषयतानिरूपिताधिकरणविषयतैवया-निर्विशेषविषयताऽद्वैतिसम्मता सा प्रमाणशून्यैव, तादृशी निर्विशेषविषयता, न शब्दगोचरा, नवा प्रत्यक्षगोचरा, नाप्यनुमानादि गम्या, प्रकृतिप्रत्यययोगेन बोधकत्वस्यपदस्यविशिष्टार्थाभिधायित्वेन न निर्विशेष बोधकत्वम् ,

पदसंघातरुपस्य वाक्यस्यतुवह्वर्थ बोधकत्वेन सुतरां न निर्विशेषे प्रामाण्यसम्भवः, सविकल्पकनिर्विकल्पक भेदेन द्विविधप्रत्यक्षयोर्मध्ये सविकल्पकस्य विशिष्टार्थाभिधायित्वं सर्व प्रसिद्धम् , प्रथमाक्षसन्निपातजस्य निर्विकल्पकस्यापि न सर्व विशेषशून्यत्वम् , किन्तुकतिपय विशेषशून्यत्वेनैव निर्विकल्पकवादः,

यतः समानेन्द्रियग्राह्यायाः जातेरपि ग्रहणं निर्विकल्पके भवत्येव, संस्थानसंस्थानिनोरुभयोरप्येकसामग्रीवेद्यत्वात् । अतः सविकल्पकप्रत्यक्षं विशिष्ट विषयम् , निर्विकल्पकमेकविषयमित्यद्वैतिनां वादोऽयुक्त एव प्रमाणविरोधादनुभवादि विरोधाच्चेति—

अथसाक्षसन्निपातजंज्ञानम्, सविशेषविषयम्, ज्ञानत्वात्, सम्प्रतिपन्नज्ञानवदित्यनुमानविरोधाच्च अतोनिर्विकल्पकमपि न निर्विशेषे प्रमाणम्,

प्रत्यक्षवस्तु विषयत्वादनुमानस्य विशिष्टवस्तुविषयत्वेतु विवाद एव नास्ति, अतोनकथंचिदपिनिर्विशेषवस्तुनः प्रामाणिकत्वम्।

यत्र संस्थान संस्थानिनोर्भिन्नप्रमाणविषयत्वं तत्र संस्थानिविषयकेन प्रमाणेन संस्थानज्ञानमपि जन्यत् इतिनेदं सम्भवतीत्यद्वैतकल्पनं तदा योग्यं यदि संस्थानिनिषयकं संस्थाना विषयकं किञ्चिदपि प्रमाणादिकमुपलभेत, केवलं प्रतिज्ञामात्रमेवाद्वैतिनाम, नाद्यावधिकिञ्चिदपि संस्थानिविषयकं प्रमाणमुपस्थापितमद्वैतिभिः, शाब्दापरोक्षवादस्तु परोक्ष एव, अद्वैतिनां कल्पनामात्रमेव, निरस्तोऽयंवादः पूर्वमेवास्माभिः, नायं शाब्दापरोक्षवादः, सर्वप्रमाणविरुद्धः किन्तु सर्वदर्शनविरुद्धोपि—

संस्थानिसन्निकर्षदशायां संस्थानसन्निकर्षोपि न नियतः, अन्यथारूपीघट इत्यत्र रूपप्रत्यक्षतादशायां तत्परिमाणादेरपिप्रत्यक्षत्वमापद्येत, इति यदुक्तं तदप्यसंगतम्, संस्थानि सन्निकर्ष दशायां संस्थानसन्निकर्षो न नियत इत्यत्र किं कारणम्? नहि संस्थान्यपेक्षया संस्थानस्य पृथक् सिद्धत्वसम्भवः, एकसामग्रीवेद्यानां सहैवग्रहणस्य सर्व सिद्धान्त सिद्धत्वात्,

रूपी घट इत्यस्य दृष्टान्ततयोपादानमप्यज्ञान. कृत्यम्, एकसामग्रीयोग्यत्वाविशेषात् घटघटत्व परिमाणादीनामेकदैव ग्रहणं जायत एव स्वीकृतश्च सर्वैरपि दार्शनिकैः,

नहिशुक्तिरुप्यादिस्थलेऽधिष्ठानान्याविषयकज्ञानस्यैव बाधकत्वमितिसम्भवति, इयंशुक्तिरित्यसमूहालम्बनस्यापि चाक्षुषस्य शुक्तित्व तत्समानाधिकरण संख्या परिमाणादि विषयकत्वेनाबाधप्रसंगादिति। अतोरुपीघट इत्यस्योपादानमसिद्धस्यासिद्धेन साधनमेवाद्वैतिनाम्।

रूपप्रत्यक्षतादशायां कथं न परिमाणस्य प्रत्यक्षत्वमितिप्रश्ने न किञ्चित्तत्रकारणमित्येवोत्तरमद्वैतिनामिति।

तत्त्वमस्यादिवाक्यानि यदि तात्पर्य्यानुपपत्त्यास्वरूप चैतन्यमात्रंलक्षणयाबोधयन्ति तर्हि कथंनामतेषां न निर्विशेषवस्तुबोधकत्वमित्यप्यसत्,

स्वरूपचैतन्येतात्पर्य्यस्यैवासिद्धत्वात्, मुख्येबोधकत्वसम्भवे चैतन्यमात्रपरत्वेलक्षणैवदोषः। तात्पर्य्यानुपपत्तौलक्षणा—लक्षणाशक्यसम्बन्धस्तात्पर्य्यानुपपत्तितः, इति नयायिकाः, तथा च यथा गंगायां घोष इत्यत्र भगीरथखातावच्छिन्नप्रवाहे शक्तिः, गंगापदस्य, तीरत्वावच्छिन्नतीरे तीरपदस्यशक्तिः, तत्र तीरस्य सम्प्रतिपन्नत्वेन तात्पर्य्यानुपपत्त्या गंगापदस्यतीरेलक्षणा, केवल चैतन्यस्य प्रमाणाद्यविषयतया तत्र तात्पर्य्यकल्पनमेवासिद्धम्,

बालमूकादि विज्ञानान्यपि विशिष्टविषयाण्येव यथोक्तमभियुक्तैः, प्रवृत्तिभिर्विशिष्टार्थबालमूकादिभिरपि,

एतेन प्रामाणिकविशेषविशिष्टमेव, वस्त्विति नेदं वस्तुलक्षणम्, विशेषाणां विशेषान्तरकल्पनेनानवस्थापातात् किन्तु प्रामाणिकत्वमबाधितस्वरूपत्वं वेति वस्तुलक्षणमित्युक्तिरपि दूरोत्सारिता।

निगमनभाष्यमेतत्—नहि वस्तुलक्षणं श्रीभाष्य कृतोक्तम्। प्रामाणिक विशेषैर्विशिष्टमेव वस्तु भवतीति श्रीभाष्याशयः, तथैव घटपटादिषु दर्शनात्, विशेषाणां स्वत एव व्यावर्तकत्वस्य सर्वदर्शनसिद्धत्वेनानवस्थाकथनमप्यसंगतम्,

प्रामाणिकत्वस्याबाधितस्वरूपमात्रस्य वा न वस्तुलक्षणं पर्याप्तम्, घटादीनां प्रामाणिकत्वेपि पटादिव्यावर्तकतया विशेषरूपधर्मस्वीकारस्यावश्यकत्वेन श्रीभाष्यमेवशरणंभवतामपि निर्गुणश्रुतिविचारस्तुस्वावसरेपूर्णतया विवेचयिष्यते,

अतः, सिद्धं न कथंचिदपि निर्विशेषवस्तुनः प्रामाणिकत्वमिति ॥

अथ प्रत्यक्षस्य सन्मात्र विषयत्व निराशः।

तत्र (वेदान्तरक्षामणिः पृ०—३३—३४—)

यदप्युक्तं शास्त्रप्रत्यक्षयोर्विरोधाभावाय सन्मात्रग्राह्येव प्रत्यक्षम, न भेद विषयं प्रत्यक्षविषयंवा भेदोहिदुर्निरूपत्वात्, अनिर्वचनीयत्वेन मिथ्यात्वाच्च, अधिष्ठानसम्बन्धितयैव प्रतीयते, तथाहि किं स्वरूप

भेदयोः सद्घटयोः द्वयोरपिग्राहकं प्रत्यक्षमन्यतरग्राहिवा–उभयग्राहिपक्षे किं युगपद्ग्राहकंमुतक्रमेण वा, नाद्यः, भेदग्रहणस्याश्रयप्रतियोग्यादिज्ञानकृतविलम्बेनोपस्थितत्वात्, प्रतियोग्यादिनिरपेक्षस्वरूपग्रहणस्य झटित्युत्पत्तेः प्रत्यक्षेण तस्यैव ग्रहणं न भेदस्येति न यौगपद्यसम्भवः,

अन्यतरग्राहि पक्षेपि प्रत्यक्षज्ञानस्यैकक्षणवर्तित्वेन निरपेक्षस्वरूपमवलम्ब्य विलीनस्य भेदग्रहणायक्षणान्तरस्थित्ययोगात्,

तस्मादिदंरजतमितिवदबाधितस्येदमंशस्य यथा प्रत्यक्षत्वम्, रजताद्यंशस्यारोपितत्वेन भ्रान्त्याज्ञानंमिथ्यात्वञ्च तद्वदेव भेदस्येति, एतेन सन्मात्र विषयकत्वे प्रत्यक्षस्य घटोऽस्ति पटोऽस्ति, इति विशिष्टविषया प्रतीतिर्विरुद्ध्यते, अश्वार्थिनः महिषदर्शने निवृत्तिश्चेति श्रीभाष्यमपिदत्तोत्तरं भ्रान्तिगृहीताश्व महिषादिभेदस्याद्वैतिभिः स्वीकारेण सर्वदोषपरिहारादिति शांकरानुयायिभिःस्तदप्युन्मत्तप्रलापमात्रमेवेति ॥

अत्र प्रतिवदामः

तथाहि पूर्वं यदुक्तं न प्रत्यक्षेण भेदग्रहणं क्रमयौगपद्याद्यसंभवादिति तत्रैकक्षणवृत्तित्वेपि प्रत्यक्षज्ञानस्य तस्मिन्नेवक्षणे वस्तुभेदरूपतत्संस्थान घटत्वादेरपि सहोपलम्भादेव यौगपद्येन ग्रहणमिति,

एकसामग्रीवेद्यानां तत्तद्योग्यानामर्थानां सहैवोपलभ्यमानतया ग्रहणे न बाधकं किञ्चित्पश्यामः। नच तत्तत्संस्थानरूप घटत्वाद्यतिरिक्तं भेदमङ्गीकुर्मः। तत्र भेदत्वेनरूपेण प्रतियोग्याद्यपेक्षत्वेपि न घटत्वेन रूपेण प्रतियोग्याद्यपेक्षा तथैवलोकप्रतीते दाराः कलत्रमित्यादि शब्दस्वभावायत्तत्वात्।

अतः प्रतियोगिनिरपेक्ष घटत्वादिरूपभेदस्यापिस्वरूप-ग्रहणकालेऽग्रहणमिति प्रत्यक्षज्ञानस्यैकक्षणवृत्तित्वेपि भेदग्रहणे न क्षोदक्षमः ।

किञ्च स्फुटप्रतीतंकार्य्यं न कारणनिरूपणायापह्नवमर्हतीति-नैयायिकादिसर्वदर्शन सिद्धस्यभेदस्य युष्मदस्मदोर्विषयविष-यिणोरित्यादि शांकरभाष्यदर्शनेनाद्वैतरीत्यापि भेदस्यचोपलभ्ये-नावश्यमेव कारणंकल्पनीयम् , तथा च प्रतियोग्यादिकृत विल-म्बेपिद्विक्षणवृत्तित्वमेवज्ञानस्यकल्पनीयम् नह्य कक्षणवृत्तित्वमेव ज्ञानस्येति नियमः, वस्तुतः क्षणैकवृत्तित्वेपि न दोष इति पूर्व-मेवोक्तः ।

तथा च सन्मात्रग्राह्य व प्रत्यक्षमित्यद्वैतिनां प्रतिज्ञापि न स्वार्थसाधिका भ्रान्तिगृहीतमहिषास्वादिभेदस्यस्वीकारेण प्रतीति वैलक्षण्योपपादनमपिधूलीप्रक्षेपणमात्रमेव,

अद्वैतदृष्ट्याहिसन्मात्रब्रह्मातिरिक्तस्यकस्यचिदपि वस्तुनः पारमार्थिकस्याभावेन व्यवहारावस्थायामेव विचारादेः सत्वेन व्यवहारावस्थायां यदि सर्वत्र सन्मात्रमेवानुवर्तते तर्हि कथं न घटोऽस्ति पटोऽस्तीत्यादिभिन्नविषय प्रतीतिविरोधः कथमस्वा-र्थिनोनमहिषदर्शने निवृत्तिः ।

व्यवहारावस्थायामेव सर्वत्रसन्मात्रमुपलभ्यते परमार्थावस्था-यांतु न केपि पदार्थाः न विचारशीलाः पुरुषाः किन्तुसन्मात्रमेव ब्रह्मखल्वद्वैतिनांमतमिति एवंस्थिते व्यवहारावस्थायामेव यदि भेद उपलभ्यते तर्हि कथं न भेदग्रहणम्—

किञ्च भ्रान्त्यापि कथंभेद ग्रहणं यथैव युक्त्याभेदनिराशः क्रियतेभवद्भिस्तयैव प्रड़ाल्या भ्रान्त्यापिभेदग्रहणं दुर्वारमेव।

व्यवहारावस्थायामुपलभ्यमानस्य भेदस्यभ्रमत्वे सन्मात्रस्यैवपारमार्थ्येच घटोस्ति पटोस्तीत्यादिप्रतिपत्तिविरोधः अश्वार्थिनः महिषदर्शनेन निवृत्तिरितिव्यवहारविरोधश्चेत्यादि श्रीभाष्यदूषणमद्वैतिनां तिष्ठत्येवेति।

किञ्चप्रत्यक्षमपिसन्मात्रविषयमितिवदन् वादी प्रष्टव्यः स्सच्छब्दार्थः स्वरूपम्, घटादिशब्दार्थस्तुभेद इति कथमवगतम्, घटःसन् पटःसन्, इति घटपटादिष्वनुवृत्तेः सति घटादेश्च मिथोव्यावृत्तिमात्रेणेतिचेत्तर्हि—

घटादेःसदनुवृत्तेः सत्त्वस्यचासतोघटाद्व्यावृत्तेर्विपरीतं किन्नस्यात् 'नहिसन्घटादिरित्यादिनाघटादीनामसत्त्वमेवाङ्गीकृतमद्वैतिभिः,

यदिचानुवृत्तिमात्रेण सच्छब्दार्थःस्वरूपमितीष्यते तर्हि घटोनास्ति पटोनास्ति कुण्ड्यंनास्तीत्यादिष्वसदित्यनुवृत्त्या, असत्वस्यापिस्वरूपाङ्गीकारः कुतो न, सति तद्व्यावृत्तिमात्रेणेतिचेत्, असतिसतोपि व्यावृत्तेःसम्भवेन समान एव।

तथाच सच्छब्दार्थएव भेदः घटादि शब्दार्थएव स्वरूपमिति प्रतिवचने विलीनप्रायोऽद्वैतसिद्धान्तः। अतः घटो महान पटोमहान् घटश्चलति पटश्चलति, इत्यादिस्थलेक्रियागुणादिवत्, सत्त्वादिकमपितत्तद्वस्तुधर्म एव न तस्य ब्रह्मस्वरूपत्वमिति,

ब्रह्मतु निखिलजगदुद्भवस्थितिलयैक कारणभूतं सर्वज्ञसर्वशक्तित्वाद्यपरिमितोदारगुणसागरं सर्वाधारं सर्वान्तर्यामिस्वरूपमिति, सच श्रीमन्नारायण एव 'अन्तर्बहिश्चतत्सर्वंव्याप्यनारायण-स्थितः, एकोहवैनारायण आसीत् , नारायणः परंब्रह्म, इत्यादि श्रुतिशतप्रमाणैकसमधिगम्यः ।

किञ्च सन्मात्रप्रत्यक्षवादो न केवलं सर्वदर्शन विरुद्धः किन्तु नचक्षुषापश्यतिरूपमस्य, मनसातुविशुद्धेन यत्तदद्रेश्य-मग्राह्यमगोत्रमवर्णमित्यादि श्रुतिशत विरुद्धोपि, तस्मात्सन्मात्र प्रत्यक्षब्रह्मवादोऽद्वैतिनामज्ञान कल्पनमात्रमेवेति ।

सन्मात्रब्रह्मणः प्रत्यक्षप्राप्तौ तद्विषयागमस्यानुवादकत्वरूपं-दूषणमुक्तं श्रीभाष्यकारैः,

सर्वप्रत्ययवेद्योऽस्मिन् ब्रह्मरूपेऽव्यवस्थिते ,
प्रपञ्चस्यप्रविलयः शब्देनप्रतिपाद्यते ।
प्रविलीन प्रपञ्चेन तद्रूपेण न गोचरः ,
मानान्तरस्येति मतमाम्नायैकनिबन्धनम् ॥

इतिवदन्नद्वैतसिद्धिकारोप्यपास्तः ।

समस्तविशेषशून्यंब्रह्म यदिप्रत्यक्षवेद्यं तर्हिकथंनानुवादकत्वं तद्विषयागमस्य, नच प्रत्यक्षसिद्धाकाराच्छास्त्रसिद्धेब्रह्मणि-विशेषोऽभ्युपगम्यते, अभ्युपगमेत्वद्वैत सिद्धान्त एवभग्नः । वेदान्त शास्त्रस्यमिथ्यापरत्ववर्णनन्तु, आत्मसन्तोषमात्रमेव,

ब्रह्मविचार एव वेदान्तशास्त्रे सर्वप्रसिद्धः नतुव्यामोहनार्थप्रवृत्तं वेदान्तशास्त्रम् ।

सन्मात्रब्रह्मणः प्रत्यक्षवादे—

असन्निकृष्ट वाचाच द्वयमत्र जिहासितम्,
ताद्रूप्येण च परिच्छित्तिस्तद्विपर्य्ययतोपिवा ॥

इति सर्वाभ्युपगत शास्त्रविरोधः मीमांसक दर्शनविरोधश्चेति ।

एतेन—रक्षामण्युक्तमपि—३५—पृ०—सन्मात्रं च ब्रह्मवृत्तिव्याप्यमेव मन्यतेऽद्वैतिभिः, नतु फलव्याप्यम्, इति न घटादिवत् ब्रह्मणः प्रमेयत्वं जडत्वादिकं, वा श्रीभाष्यापादितमत्रावसरतीति, निरस्तम्, वृत्तिव्याप्यत्वेपिघटादिवत् जडत्वमिथ्यात्वादिप्रसंगस्यानिवार्य्यत्वात् ।

कथमप्यभ्युपगच्छामः, यदद्वैतिनः—

फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निराकृतम् ।
ब्रह्मण्यज्ञान नाशार्थं वृत्तिव्याप्यत्वमिष्यते ॥

इत्यादिनावृत्तिव्याप्यत्वमेवाभिमन्यन्ते परन्तु तादृशकारिका प्रदर्शनेनापि न श्रीभाष्योक्तजडत्व प्रमेयत्वादिरूप दूषणोद्धारः ।

अद्वैतसिद्धिकारप्रभृतिभिः वृत्तिव्याप्यत्वस्यापिमिथ्यात्वाभ्युपगमात् विमतंमिथ्या दृश्यत्वात् शुक्तिरूप्यवत्, तत्र दृश्यत्वं

वृत्तिव्याप्यत्वमेवविवरणकारमते शुद्धस्यवृत्तिव्याप्यत्वेनव्यभिचार माशंक्य शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्वमेव वृत्तिव्याप्यत्वम् , इत्यादिभिरद्वैतसिद्ध्यादौव्यक्तम् ,

परन्तु तदप्यसंगतम् तथाहि—विमतं मिथ्या दृश्यत्वात् , दृश्यत्वञ्च–शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्वरूपं वृत्तिव्याप्यमेव तथाच ब्रह्मणिव्यभिचारवारणेपि ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वसत्यसंकल्पत्वादि गुणस्यश्रुत्यैकसमधिगम्यतयातत्रोक्तहेतोर्भागासिद्धेः ।

नच सर्वज्ञत्वादिकं ब्रह्मधर्मः, तथाश्रुतिबोध्यत्वादित्यनुमानेनापिवेद्यत्वान्नभागासिद्धिरितिवाच्यम् । तथासति अनुभूतिः स्वप्रकाशा, अनुभूतित्वादित्यादिस्वप्रकाशत्वादिसाधकैः, जीवः परमात्मनो न भिद्यते चेतनत्वादित्यादि जीवब्रह्माभेदसाधकैश्चानुमानैर्वेद्यत्वात् ब्रह्मणिव्यभिचारस्तदवस्थएव, सन् घटोऽहमज्ञ इत्यादि प्रत्यक्षेणापिवेद्यत्वाच्च, नचोपहितमेव प्रत्यक्ष वेद्यम् , उपहितस्यभानेस्वरूपस्यापि भानावश्यकत्वात् ,

अन्यथाविशिष्टेनिश्चितेपिस्वरूपे संशयापत्तेः, नच विशिष्टज्ञानमेव शुद्धेसंशयनिवर्तकमितिवाच्यम् , अन्य ज्ञानस्यान्यसंशय निवर्तकत्वायोगात् , अन्यथा उपहितज्ञानादेव शुद्धेप्यज्ञाननिवृत्तिसम्भवेन शुद्धस्यवृत्तिविषयत्वाङ्गीकारवैफल्यात् ,

एवं तुच्छंवृत्तिविषयोव्यवहीयमाणत्वात् , तुच्छं न क्षणिक मकारणत्वात् , इत्याद्यनुमानवेद्यत्वेन तुच्छेपि व्यभिचारोदुर्वारः,

एवं फलव्याप्यत्वस्य मिथ्यात्ववर्णनमप्यसत्—स्वावच्छिन्न-विषयकाज्ञानभंगविशिष्टचिद्विषयत्वरूपस्य फलव्याप्यत्वस्य नित्यातीन्द्रियगुरुत्वादौभागासिद्धेः साक्षिभास्येसुखादौ भागासिद्धेश्च शुक्तिरुप्यादौ साधन वैकल्याच्चेति ॥

(यदप्युक्तमद्वैतिभिः—वेदान्तरक्षामणौ ३५–३६–पृ०–)

घटादयोऽपरमार्थाः व्यावर्तमानत्वात् , रज्जुसर्पादौ सर्पादिवत् , सन् परमार्थः, अनुवर्तमानत्वात् , रज्वादिवत्—

तथा च परिदृश्यमानप्रपञ्चमिथ्यात्वे, अद्वैतं ब्रह्मैवतत्त्वमिति तदपि विचार्य्य निरस्यते ।

किमत्रव्यावर्तमानत्वं—किमभावप्रतियोगित्वम्—उतप्रतिपन्नोपाधौत्रैकालिकनिषेध प्रतियोगित्वं—न तावदाद्यः, तस्य सत्यत्वाविरोधित्वेनाप्रयोजकत्वात् । नापि द्वितीयः, अनुमानात् , पूर्वघटवत्तादेशेघटाभावप्रतियोगित्वस्यघटे, अगृहीतत्वात् हेत्वसिद्धेः । अन्योन्याश्रयश्चेति—किञ्च साध्यधर्मःपारमार्थ्यः, अपारमार्थ्यो वा न तावदाद्यः घटादौ साध्यस्यापारमार्थ्यस्यसत्यत्वाङ्गीकारे सद्वितीयत्व प्रसंगेन त्वदीयाद्वैतसिद्धान्तभंगापत्तेः—

नापि द्वितीयः अपारमार्थ्यस्यापारमार्थ्यस्वीकारे प्रपञ्चस्य सत्यत्वापत्ते उक्तं च मिथ्यात्वस्यतु मिथ्यात्वे मिथ्यात्वंबाधितं भवेत् । सत्यत्वस्यतु सत्यत्वे सत्यत्वं साधितं भवेत् , अतएवहि द्वौनञौप्रकृतमर्थं सूचयतः–इत्यस्य प्रसिद्धिः ।

नच नित्यसमाजातिरितिवाच्यम्

अप्रामाणिकधर्मपरम्परापादनेन दूषणंहि नित्यसमाजातिः। मिथ्यात्वमिथ्यात्वंहि प्रामाणिकम्—

एवं व्यावर्तमानत्वहेतोः सत्यत्वमिथ्यात्व विकल्पेन संक्षोभः कर्तव्यः, तथाहि हेतोः सत्यत्वाङ्गीकारे, अद्वैतभंग एव—

मिथ्यात्वेच धूमबुद्धयागृहीतवाष्पस्ययथावह्नेरसाधकत्वं तद्वदस्यापि मिथ्यात्वासाधकत्वमेव ॥

(यत्तूक्तम्-रक्षामणौ—३६—पृ०)

इदमत्राद्वैतिनोमन्यन्ते-यद्व्यावर्तमानत्वंहि-सदनुविद्धसर्व प्रतीत्य विषयत्वमेव —इदमेवहि व्यावर्तमानत्वं —

नासतो विद्यते भावो नाभावोविद्यतेक्वचित्।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

इति गीताभाष्ये प्रदर्शितम्-तथा च रज्ज्वनुविद्ध सर्वप्रतीत्यविषयः सर्पोऽज्जुत इव सदनुविद्धसर्वप्रतीत्य विषयः सर्वोपिप्रपञ्चः सद्भिन्नः इति व्यावर्तमानत्वत्य अनुमानतः पूर्वमपि गीता वाक्येन ज्ञायमानत्वात् न श्रीभाष्योक्तदिशा हेत्वसिद्ध्याद्यवकाश इति-

तदप्यसंगतंदत्तोत्तरत्वात्।

नहि—नासतो विद्यते भावो नाभावोविद्यतेसतः,
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः ॥

इति गीता वाक्येन सदनुविद्धसर्वप्रतीत्य विषयत्वरूपंव्या-

वर्तमानत्वं सिद्ध्यति किन्तु शंकराचार्य्येण भवतावातादृश-व्यावर्तमानत्वंस्त्वगन्धेन कल्प्यते,

तथा च घटवत्तादेशेस्वरूपेणैव घटभेदवत्तासाधने मिथ्यात्वसिद्धिर्नान्यथा, पटवत्तादेशेस्वरूपेणघटभेदस्य तदवत्तादेशे-व्यधिकरणसम्बन्धेन तद्भेदस्य च साध्यत्वेपि न काचित्क्षतिः तादृशस्य सत्यत्वाविरोधित्वात्–सिद्धसाधनञ्च, अनुमानात्पूर्वं तदवत्तादेशेस्वरूपेण तद्भेदस्यासिद्धत्वेन हेत्वसिद्धिरनिवार्य्य-एव सदनुविद्धसर्वं प्रतीत्य विषयत्वेसति, अनुमानेन मिथ्यात्व सिद्धिः, अनुमानेन मिथ्यात्वसिद्धौ, सदनुविद्धसर्वप्रतीत्य विषयत्वरूप व्यावर्तमानत्वसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयश्चेति,

किञ्च सदनुविद्ध सर्वप्रतीत्यविषयः सर्वोपि प्रपञ्चः सद्भिन्न इतियदुक्तंभवता तत्र सद्भेदःप्रपञ्चे पारमार्थ्यः, अपारमार्थो वा, नाद्यः, अपारमार्थिकभेदस्य ब्रह्मण्यपि विद्यमानत्वे नानैकान्त्यात् , न द्वितीयः शुक्तिरजतादौ प्रपञ्चेपि, अनभ्युपगमेन साधन विकलत्वासिद्ध्यादि दोषात् ।

तथा च स्ववासनया कल्पितेपि न निस्तारः ॥ यदनुवर्तमानं तत्सदित्यप्यसंगतमेव,

सुश्लिष्ट बहुतन्तुष्वारोपितायामेकस्यांरज्वौ व्यभिचारात् । तस्मात् व्यावर्तमानत्वेन मिथ्यात्वसाधनमाकाशपुष्पावलोकनमात्रमेव, गीताशास्त्रंतु. सर्वथैवाद्वैतमतं विद्वेष्टि तेन मिथ्यात्व वर्णनन्तुलोकरंजनमात्रमेवेति ।

(अथानुभूतेः वेद्यत्वादि विचारः)

अनुभूतिस्वरूपविचारेऽद्वैतिनामित्थंप्रयोगाः—

अनुभूतिःस्वयं प्रकाशा अनुभूतित्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा-घटः, अनुभूतिरननुभाव्या अनुभूतित्वात् , अनुभाव्यत्वे घटादिवदननुभूतित्वप्रसंगश्चेति—

(तत्र श्रीभाष्यकाराः)

अनुभूतेः स्वयंप्रकाशत्ववादोहि न :सार्वदिकः किन्तु विषयप्रकाशनकालिक एव परानुभवस्य हानोपादानादि लिंगकानुमानज्ञानविषयत्वात्—स्वानुभवस्याप्यतीतस्य अज्ञासिपमितिज्ञानविषयत्वदर्शनाच्च—

अनुभाव्यत्वेनानुभूतेरनुभूतित्व प्रसंगोप्ययोग्यएव स्वगतातीतानुभवानांपरगतानुभवानां चानुभाव्यत्वेनाननुभूतित्वप्रसक्तेः।

अनुभूतित्वंनाम—वर्तमानदशायां स्वसत्तयैव स्वाश्रयंप्रति प्रकाशमानत्वं—स्वसत्तयैवस्वविषयसाधनत्वं वातेचानुभवान्तरानुभाव्यत्वेपिस्वानुभवसिद्धेनापगच्छत इति, घटादेस्त्वननभूतित्वमेतत्स्वभावविरहात् नानुभाव्यत्वात् किञ्चाननुभाव्यत्वेपिगगनकुसुमवदननुभूतित्वस्यदुर्वारत्वात्—यदि गगनकुसुमस्यासत्वप्रयुक्तमननुभूतित्वमिति चेत्तर्हि घटादेरप्यज्ञानाविरोधित्वमेवाननुभूतित्वप्रयोजकम्—अनुभूतेरनुभाव्यत्वे अज्ञानाविरोधित्वमपि

तस्याः घटादेरिवप्रसज्यत इतिचेत् , अननुभाव्यत्वेपि गगन-कुसुमादेरिवाज्ञानाविरोधित्वमपि प्रसज्यत एवेति ॥

(अत्राद्वैतिनः प्रत्यवतिष्ठन्ते तत्र रक्षामणिः—३७—३८—पृ०)

सत्तानुभूतिपदेन शुद्ध चैतन्य स्वरूपं विवक्ष्यते नतुवृत्तिः—चैतन्य-स्वप्रकाशतावादि नामस्माकं वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यरूपानुभूतेरनुमानादि ज्ञानविषयत्वाद्युपपादनेनास्वप्रकाशत्वोपपादनेनाविरोधात् नहि वृत्तिः वृत्त्यवच्छिन्नं चैतन्यं वा सर्वेषां सर्वदा प्रकाशत इत्यद्वैतिनो मन्यन्ते किन्तु शुद्धं चैतन्यंतत्तु सर्वदा सर्वेषाम् प्रत्यक्षमेव। यत्साक्षादपरोक्षा-द्ब्रह्म—इति श्रुतेः इति शुद्धचैतन्य रूपज्ञानस्यस्वप्रकाशत्ववादः परानु-भवस्य परकीय वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यस्यानुमेयत्वादि युक्त्या कथं निरस्तो भवति तथाचानुभूतिस्वप्रकाशनिराशोप्यनुक्तोपालम्भनमेव

यतोनाद्वैतिनः शुद्धचैतन्यरूपामनुभूतिमनुभाव्यां मन्यन्ते, अन-नुभूतित्वापत्तेः, एवं स्वाभिमताया अनुभूतेः शुद्धचैतन्यस्वरूपाया, अज्ञानाविरोधित्वस्य वक्ष्यमाणप्रकारेण मन्वाना अज्ञानाविरोधित्वं यद्यननुभूतित्व प्रयोजकम् , तर्हि अनुभूतेरप्यननुभूतित्वप्रसंगो घटादिव-दापद्येत् , इति नाज्ञानाविरोधित्व मननुभूतित्व प्रयोजकम्। किन्त्वनु-भाव्यत्वासत्वान्यतरवत्वमेव। इदंचानुभाव्यघटस्येवाननुभाव्यगगन कुसुमादेरप्यननुभूतित्व प्रयोजकम्। अतोऽनुभूतावनुभाव्यत्वांगीका-रेऽनुभूतेरप्यननुभूतित्वप्रसंगो दुर्वारः, अनुभूतित्वं नाम, स्वेतरचिदन पेक्षप्रकाशत्वमिति ॥

(अत्र विशिष्टाद्वैतिनः)

सत्तानुभूतिसंविच्छब्दाः पर्य्यायवाचकाः, तेषां च घटमहं जानामि पटमहंसंवेद्मि, इत्यादिप्रतीत्यासविषयत्वमेव निय-तम् , नच निर्विषयंज्ञानंक्वचिदुपलभ्यते, अहमर्थरूपस्यात्मन-

स्तथात्वेपि प्रत्यक्त्वानुकूलत्वादिभिः सविशेषत्वमेवेति, एवञ्चो-पलभ्यमानानां ज्ञानानां न सार्वदिक स्वप्रकाशत्वनियमोऽपितु विषयकालिकएवेति सर्वसम्मतम् , एवञ्च, तादृशज्ञानस्य वेद्य-त्वादिकमपिसर्वानुमतम् , विस्तृतश्च श्रीभाष्यकारैरेव, स्वीकृत-श्चाद्वैतिभिरपि इयान् विशेषः, यदद्वैतिनः वृत्तिवृत्त्यवच्छिन्न-चैतन्यादिकं निष्प्रमाणिकंकल्पयन्ति, न तत्र श्रुतिसूत्रादिता-तात्पर्य्यंकिन्तुस्वेच्छाचारित्वमेवतेषाम् .

शुद्धचैतन्यस्याज्ञानाविरोधित्ववचनमप्यद्वैतिनामुपहास्यमेव, यतो मायाविनिर्मुक्तस्य निरस्ताज्ञानध्वान्तस्य ब्रह्मणः, अज्ञाना-विरोधित्वेकाशक्तिर्माया पोडितस्यपंकावलिप्तस्याद्वैताभिमतस्य-ब्रह्मणोऽज्ञानविरोधित्वे, शुद्धस्यब्रह्मणोऽवेद्यत्वकथनमपि प्रका-रान्तरेणश्रुतिसूत्राणां निरसनमेव, अथातोब्रह्मजिज्ञासा, जन्मा-द्यस्य यतः, शास्त्रयोनित्वात् , इत्यादिसूत्राणां, ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति, योवेदनिहितंगूहायामित्यादि श्रुतीनांच वैयर्थ्यमेवावेद्य-त्ववादे, सर्वस्यशास्त्रस्योपहितविषयत्वे तत्वावेदकत्वहानिः ॥

न केवलमवेद्यत्वेशास्त्रविरोधः किन्तु, अद्वैतमतेनिर्गुणमेव ब्रह्ममुख्यमथातोब्रह्मजिज्ञासेत्यत्रजिज्ञासतयाविवक्षितमिति, ए-कोन विंशति १९, पृष्ठस्थ रक्षामणिवचनेनापिविरोधः, तथा-चानुभूतेरवेद्यत्वादिवचनमकिञ्चित्करम् , यदि चानुभूतिपदेन ब्रह्मणोग्रहणंकृत्वा तस्यस्वप्रकाशत्वादिकंशास्त्रबलादभ्युपग-म्यते न तर्हि तत्रव्याकोपः श्रीभाष्यकाराणां परन्तु तादृश-

११

शास्त्रबलादेव ब्रह्मणः सर्वज्ञत्व सर्वशक्तित्वादिकमप्यभ्युपगम्यताम् यः सर्वज्ञः सर्ववित् परास्यशक्तिर्विविधैवश्रूयतेस्वाभाविकी-ज्ञानबलक्रियाच, इत्यादिभिः, श्रुतिवाक्यैःस्पष्टस्तादृशोऽर्थः, इति

यदपि—अनुभूतिःस्वयम्प्रकाशा अनुभूतित्वादित्युक्तम्—तत्रस्वयम्प्रकाशत्वेनावेद्यत्वमेवभवदिष्टम् , तदपि न संभवति-तथाहि अनुभूतिशब्दः ब्रह्मबोधकोनवा—ब्रह्मबोधकत्वे अनुभूति-जन्यज्ञानविषयत्वेन ब्रह्मणः, अवेद्यत्व विपरीतवेद्यत्व मेवप्राप्तम्-तथाचावेद्यत्वप्रतिज्ञानिरर्थिकैव, ब्रह्मान्यबोधकत्वेतु न कथंचिदपि ब्रह्मणोऽवेद्यत्वसिद्धिः। भवतिचावेद्यत्वप्रतिज्ञायाः व्याघात-स्तव। अनुमानमेवनिष्फलम् , एवं हेतुसाध्यप्रतिपादकशब्दा-वपि संविदन्वितहेतुसाध्यप्रतिपादकावित्यभ्युपगन्तव्यं—अन्यथा-त्वप्रतिपादकत्वेऽनन्वितप्रतिपादकत्वेवा निर्थकापार्थक निग्रह-स्थानापातात्—अतस्तदन्वितहेतुसाध्य प्रतिपादने तयोरप्यनु-भूति विशेषकत्वात्ताभ्यामपि वेद्यत्वं फलति।

एवञ्चानुभूतौवेद्यत्वे सिद्धेसति, अद्वैतदृष्ट्या, अननुभूति-त्वप्रसंगः, दुर्वार एव॥

किञ्चानुभूतिः, अनुभाव्या, अनुभूतित्वात् , अननुभाव्यत्वे गगनकुसुमवदननुभूतित्वप्रसंगोपि भवदीय व्याप्त्या आपाद-यितुं शक्यते—नच गगनकुसुमस्यासत्वप्रयुक्तमेवाननुभूतित्वं नतु, अननुभाव्यत्व निबन्धनमिति तुच्छत्वमुपाधिरिति वाच्यम्-

व्यापकव्यापकत्वेसति व्याप्याव्याप्यत्वस्यैवोपाधि पदार्थत्वेन न तुच्छत्वस्योपाधित्वसंभवः, व्यापकव्यापकत्वाभावात्नहि, अननुभूतित्वेनाभिमतघटादीनामपितुच्छत्वमसत्वादिकमभ्युगच्छन्त्यद्वैतिनोपि येन न साध्यव्यापत्वहानिः।

यदि च गगन कुसुमाननुभूतिंप्रत्येवासत्वतुच्छत्वादेःप्रयोजकम्, न सर्वाननुभूतिं प्रतीत्येवाभिप्रायः तथा च न साध्यव्यापकत्व हानिरित्युच्यते–तर्हि

अनुभूतिः अननुभाव्या अनुभूतित्वात्–अनुभूतेरनुभाव्यत्वेघटादिवदननुभूतित्वप्रसंग इति भवदीयानुमानेपि घटादिगताननुभूतित्वमपि घटत्वादिप्रयुक्तमितिनानुभाव्यत्वनिवन्धनमिति सोपाधिकस्तर्क इति, अनुभूतेः, अनुभाव्यत्वेपि नानुभूतित्वप्रसंगलेशोपि।

किञ्चानुभूतेः, अननुभाव्यत्वेगगनकुसुमवदसत्व प्रसंगोपि, यदि च अस्वयम्प्रकाशत्वेसति, अननुभाव्यत्वमेव गगनकुसुमासत्वमित्युच्यते, तर्हि अनुभूतेरननुभाव्यत्वे गगनकुसुमवदस्वयम्प्रकाशत्व प्रसंग इत्येवाशयः, तथा च, अस्वयम्प्रकाशत्वे सति, अननुभाव्यत्वनिवन्धनमसत्वमपि दुर्वारमेव यदि च तर्कवलात्तथाऽपाद्यमानेपि स्वयम्प्रकाशत्वादिग्राहकश्रुतिवलादपोह्यते तर्हि, अनुभाव्यत्वेपि शास्त्रबलादेवाननुभूतित्वमपिनिरस्यातामर्धजरतीयस्यान्याय्यत्वात,

तस्मादनुभूतेः, अनुभाव्यत्वेननाननुभूतित्व प्रसंगलेशोपि,

अतोयुक्तमुक्तं श्रीभाष्यकृता, अनुभूतेरनुभाव्यत्वे घटादि वदननुभूतित्ववचनमुपहास्यमिति, तस्मादनुभूतिरनुभाव्यैवेतिसिद्धम् ॥

स्वतस्सिद्धाया अनुभूतेः प्रागभावाद्यभावादुत्पत्तिर्निरस्यते, तदन्धस्य जात्यन्धेन यष्टिः प्रदीयते, प्रागभावस्यग्राहकाभावादभावो न शक्यते वक्तुम्,

अनुभूत्यैवग्रहणात्, कथमनुभूतिस्सतीतदानीमेवस्वाभावंविरुद्धमवगमयतीतिचेत्, नह्यनुभूतिस्स्वसमकालवर्तिनमेवविषयी करोतीत्यस्तिनियमः, अतीतानागतयोरविषयत्वप्रसंगात्,

इत्यादिभिः, श्रीभाष्यकृताऽत्यन्तगम्भीर विचारेण अद्वैताभिमतप्रागभावाभावप्रयुक्तानुपपत्तिर्निरस्ता तत्रच न किञ्चिदुत्तरमद्वैतिनाम्,

अतीतानागतयोस्तु वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्येनैव प्रमाण जन्येन ग्रहणं संभवति, नतु केवल चैतन्येन, तस्यवर्तमानमात्रग्राहकत्वात्।

(३९—पृ०)

इदमेवोत्तरं रक्षामणिकारस्यापि, नहि वादेगृहप्रमाणकीर्तनंयुक्तं किन्तुप्रमाणप्रमेयोपस्थापनमेव यदिस्वसिद्धान्तेनैवपदार्थ निर्णयस्तर्हि कथं न माध्यमिकः, विजयी, वृत्ति वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य केवलचैतन्यादीनाम् प्रामाणिकत्वे तस्यच तथात्वग्राहकत्वे, एवोत्तरं युक्तम्—नतु विचारकाले, श्रीभाष्यकृताहिसर्वाभ्युपगत प्रमाणेनैवाद्वैतमतं निरस्तम्, तत्र च न किञ्चिदुत्तरमद्वैतिनामिति ॥

(अहमर्थात्मत्वविचारः)

अहमर्थएवात्मा श्रीभाष्यकाराणाम् , अद्वैतिनान्तुसंविदेवात्मा, तत्रज्ञानं मे, जातम् , ज्ञानं मे नष्टमित्यादिप्रतीत्याज्ञानस्योत्पत्तिविनाशादि व्यपदेशस्यप्रत्यक्षसिद्धत्वेन न ज्ञानात्मतावादः प्रामाणिकः । किन्तु, अहमर्थात्मतावादएव प्रामाणिकः, श्रुतिस्मृतिसूत्रयुक्त्यादिसम्मतश्च, श्रीभाष्यकृता विस्तृतश्चायमर्थः,

अहमर्थो न चेदात्मा प्रत्यक्त्वं नात्मनो भवेत् ।
अहंबुद्ध्या परागर्थात्प्रत्यगर्थोहि भिद्यते ॥

निरस्ताखिलदुःखोहमनन्तानन्दभाक् स्वराट । भवेयमिति मोक्षार्थीश्रवणादौप्रवर्तते ॥ अहमर्थविनाशश्चेन्मोक्ष इत्यध्यवस्यति । अपसर्पेदसौमोक्षकथाप्रस्तावगन्धतः ॥ मयि नष्टेपि मत्तोन्याकाचिज्ज्ञप्तिरवस्थिता । इति तत्प्राप्तये यत्नः कस्यापि न भविष्यति ॥ स्वसम्बन्धितयाह्यस्याः सत्ताविज्ञप्तितादि च । स्वसम्बन्धवियोगेतु ज्ञप्तिरेव न सिद्ध्यति ॥ छेत्तुश्छेद्यस्यचाभावेछेदनादेरसिद्धिवत् । अतोऽहमर्थोज्ञातैवप्रत्यगात्मेति निश्चितम् ॥ विज्ञातारमरेकेन जानात्येवेति च श्रुतिः । एतद्योवेत्तितं प्राहुःक्षेत्रज्ञ इति च स्मृतिः ॥ नात्माश्रुतेरित्यारभ्य सूत्रकारोपि वक्ष्यति । ज्ञोतएवेत्यतोनात्माज्ञप्तिमात्रमितिस्थितम् ॥ इत्यादिभिः तस्मान्नसंविदात्मतावादः प्रामाणिकःकिन्त्वहमर्थात्मतावाद एव प्रामाणिकः ॥

(अत्र, रक्षामणिः—४६—४७—पृ०)

अहमर्थानात्मतावाद एव प्रमाणिकः। आत्मनः प्रत्यक्त्वंहि स्वप्रकाशत्वेनैव नाहंप्रत्ययविषयत्वेन, अन्यथा शरीरादेरपि प्रत्यक्त्व-मापद्येत। तथाचाहमर्थः, आत्मा, अहंप्रत्ययविषयत्वादित्यनुमान-विवक्षायां शरीरेव्यभिचारः। न केवलं व्यभिचारः किन्तु—अहमर्थः, अनात्मा, अहंप्रत्यय विषयत्वात्, शरीरवदिति विरोधोपि, मुक्ति-दशायां शुद्धचैतन्यमात्रप्रकाशेऽहंप्रत्ययाभावादपि नात्मनोऽहंप्रत्यय विषयत्वम्। फलेच्छावस्थायां प्रतीयमानाः सर्वेप्याकाराः फलानुभवा-वस्थायामपि प्रतीयन्त इति नायंनियमः, ब्राह्मणोऽहं स्वर्गीस्यामिति, स्वर्गेच्छाया अवसरेप्रतीयमानंहि ब्राह्मण्यं न स्वर्गानुभावसरेऽप्यनु-वर्तते, इति मुक्त्यवस्थायामहंकाराननुवृत्तावपि न अहं मुक्तःस्यामिती-च्छया मोक्षार्थिनां प्रवृत्तिरनुपन्ना। अहंकार ममकाराद्य एव बन्धोनाम, तथाचाहमर्थ विनाशश्चेत्, मोक्ष इत्यध्यवस्यति। अप-सर्पेदसौमोक्ष, कथा प्रस्तावगन्धतः, इति यामुनमुनि सूक्तिरपि व्याख्याता, अहमर्थविनाशो मोक्ष इत्यध्यवसायस्यैव मोक्षप्रवृत्तौ मुख्यनिदानत्वात, यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत तत् केन कं पश्येदिति श्रुतिविरोधात् स्वसम्बन्ध वियोगेतुज्ञप्तिरेव न सिद्ध्यति। छेत्तुश्छेद्यस्य चाभावे छेदनादेरसिद्धिवदित्यप्यसंगतम्, श्रुतिरियं कल्पितबन्धराही-त्यमेव मोक्षंस्पष्टतयाभिदधाति न सुखादि सम्बन्धमात्रमिति ॥

(अत्र श्रीभाष्यानुयायिनः)

अहं जानामीति प्रत्यक्षप्रतीतिरेवाहमर्थात्मत्वेप्रमाणम्, अनया प्रतीत्या अहमर्थस्य ज्ञानाश्रयत्वमात्मत्वञ्चस्पष्टमेव प्रती-यते नच संविदात्मत्वे किञ्चित्प्रमाणम्।

ज्ञानस्याहमर्थात्मधर्मतया प्रतीयमानत्वादेव न धर्मिभूता-

त्मत्वसंभव:, स्थिरस्वभावोह्यात्मा नच ज्ञानस्य तथात्वसंभवः. अहमर्थएवस्थिरस्वभावः, सतुलोकशास्त्रादिसिद्धः।

अद्वैतभाष्यव्याख्यातारो भामतीकाराअपि, अहमर्थस्यैवात्मत्वंस्थिरस्वभावत्वंचस्पष्टमेव वदन्ति,

तथाहि बृहत्वात् बृंहणत्वाद्वाऽऽत्मैव ब्रह्मेतिगीयते। स चायमाकीटपतंगेभ्य आचदेवर्षिभ्यः प्राणभृन्मात्रस्येदंकारास्पदेभ्योदेहेन्द्रियमनोबुद्धिविषयेभ्यो विवेकेन 'अहम्' इत्यसंदिग्धा विपर्य्यस्तापरोक्षानुभवसिद्धः, नहि जातु कश्चिदत्र संदिग्धे—अहं वा नाहं वेति। नच—अहं कृशः स्थूलः, गच्छामीत्यादि देहधर्मसामानाधिकरण्यदर्शनाद् देहालम्बनोऽयमहंकार, इति साम्प्रतम्, तदालम्बनत्वेहि योऽहं बाल्ये-पितरावन्वभवम्, स एव स्थाविरे प्रनप्तॄननुभवामीतिप्रतिसंधानं न भवेत्, नहिबाल्यस्थाविरयोः शरीरयोर्मनागपि प्रत्यभिज्ञानगन्धः, येनैकत्वमध्यवसीयेत, तस्मात्येषुव्यावर्तमानेषु यदनुवर्तते तत्तेभ्योः भिन्नम्, यथा कुसुमेभ्यः सूत्रम्। तथा च देहातिरिक्तः, अहमर्थ सएवात्मेति। अनेन भामतीकार वाचस्पतिमिश्र वचनेन अनन्तकृष्णस्य सर्वेपिकुचोद्यानिरस्ताः, भवन्ति, अद्वैतग्रन्थेनैवाद्वैतवादाः खण्डिताः, अहमर्थात्मत्ववादाश्चस्थापिताः भवन्ति। यतःस्पष्टमेव भामतीकाराः अहमर्थस्यदेहातिरिक्तत्वं तस्यात्मत्वञ्च स्थापयन्ति। यदपि, अहमर्थस्यात्मत्वे, अहमर्थः, आत्मा, अहंप्रत्ययविषयत्वात्, इत्यनु-

माने शरीरेव्यभिचार उक्तस्तदप्यनुमानस्वरूपाज्ञानत्वादसंगतम्, तथाहि–अहमर्थः, आत्मा, अबाधिताहं प्रत्ययगोचरत्वात्, इत्यनुमानशरीरं विशिष्टाद्वैताभिमतम्, तथा च न शरीरे व्यभिचारः शरीरे, अहंप्रत्ययगोरत्वंतु बाधितविषयमेवेति सर्व सिद्धम्, अतोऽहमर्थः, आनात्मा, अहंप्रत्ययविषयत्वात्, शरीरवदिति विरोधस्यापि नावसरः, अहंप्रत्ययविषयत्वमात्रस्य हेतुत्वाभावात्, अबाधितत्वविशिष्टाहंप्रतीतेर्हेतुत्वस्वीकारेण सर्व दोषपरिहारात्।

फलेच्छावस्थायांप्रतीयमानाः सर्वेप्याकाराः न फलानुभवावस्थायामपि प्रतीयन्त इति यदुक्तं तदप्यसंगतम्, फलेच्छावस्थायांप्रतीयमानानां सर्वेषामाकाराणांनिषेधे, आत्मानुभवस्यापिनिषेध प्रसङ्गात्, तस्माद्विरुद्धाकाराणामेव फलानुभवावस्थायांनिषेधो नतु प्रामाणिकाकाराणाम्, अहमर्थस्यप्रामाणिकात्मत्वे तद्विनाशेकथं न मोक्षशास्त्रस्यवैयर्थ्यं कथं च स्वविघातायबुद्धिमान् प्रयतेत्, नहि ब्राह्मणोऽहंस्वर्गीस्यामितिच्छाजायते कस्यचिदपि, अपित्वहं स्वर्गीस्यामित्येवेच्छाप्रामाणिकी शरीरातिरिक्तविवेकशालिनामेव कर्मणि प्रवृत्तेः, पूर्वमीमांसायामपि शरीरातिरिक्तात्मास्थापितः, मीमांसकैः, तथाच कथं ब्रह्मणोऽहंस्वर्गीस्यामिति कल्पनमपिसयुक्तिकम्। केवलं कल्पनामात्रमेवाद्वैतिनाम्।

किञ्च, मुक्तावपि प्रत्यगात्मा, अहमित्येव प्रकाशते, स्वस्मै प्रकाशमानत्वात् , योयः स्वस्मैप्रकाशते समर्वोऽहमित्येव प्रकाशते, यथा तथात्रभासमानत्वेनोभयसंसार्य्यात्मा, यः पुनरहमिति न चकास्ति नासौस्वस्मैप्रकाशते, यथा घटादिः, स्वस्मैप्रकाशते चायंमुक्तात्मातस्मादहमित्येव प्रकाशते, अनेनमुक्तावहमर्थप्रकाशोऽवाधित एव ।

किञ्च, सकलेतराज्ञानविरोधिनः सच्छब्दप्रत्ययमात्रभाजः परस्य ब्रह्मणः, व्यवहारोप्यहंशब्देनैवात्मनः, तद्यथा—हन्ताहमिमातिस्त्रोदेवता एकोऽहंबहुस्यामिति, गीतायामपि—यस्मात्क्षरमतोतोऽहमक्षरादपिचोत्तमः, अहमात्मागूढाकेशः सर्वभूताशयस्थितः, नत्वेवाहं जातुनाशंनत्वंनेमेजनाधिपाः, अहंत्वामोक्षयिष्यामीति ।

ब्रह्मात्मभावापरोक्ष्यनिर्धूतनिरवशेषाविद्यानाम् , वामदेवादीनामपि, तद्धैतत्पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहंमनुरभवंसूर्य्यश्च, अहमेकः प्रथममासं वर्तामिच भविष्यामिचेति । सर्वत्र स्वरूपोपदेशेषु, अहमित्येवात्मोपदेशः, तस्मादहमित्येवात्मनः, स्वरूपं तत्र यद्यहमर्थ विनाश एवमोक्षस्तर्हि, अधिकार्य्यभावात् मोक्षशास्त्रस्यानुष्ठानलक्षणाप्रामाण्यं दुर्वारमेव ।

नहि ब्राह्मणोऽहंस्वर्गीस्यामितीच्छायामेव, अहमर्थ विनाशः स्वर्ग इतिज्ञातेसति कस्यापि प्रवृत्तिःस्वर्गफले । अतः फलेच्छावस्थायां नित्याकाराः फलानुभवावस्थायां प्रतीयन्त एव—तथा

च युक्तमुक्तं श्रीभगवद्यामुनमुनिभिः—अहमर्थ विनाशश्चेत् मोक्ष इत्यध्यवस्यति अपसर्पेदसौमोक्षकथाप्रस्तावगन्धतः। अतोऽहमर्थ एवात्मा तस्य च विनाशे, अधिकार्य्यभावात् वैयर्थ्यमेव मोक्षशास्त्रमद्वैतिनामिति।

यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केनकंपश्येदितिश्रुत्याकल्पितबन्धराहित्यंस्वीकृत्य—स्वसम्बन्ध वियोगेतु ज्ञप्तिरेव न सिद्ध्यतीत्यस्य निरसनमपि श्रुत्यर्थाज्ञाननिबन्धनम्—नहि कल्पित बन्धरादित्यं प्रतिपादयतीयंश्रुतिः, किन्तु, अब्रह्मात्मक नानात्व निषेधमेव,

अन्यथा एकोऽहंबहुस्यामिति श्रुतिविरोधापत्तेः। नहि सुखापरोक्ष्यमात्रंपुरुषार्थः, परस्यसुखापरोक्ष्यमात्रेणपुरुषार्थत्वादर्शनात्। अपितु सुखसम्बन्धमात्रमेवपुरुषार्थः। तथा च स्वसम्बन्ध वियोगेतुज्ञप्तिरेव न सिद्ध्यतीति समीचीन एवन्यायः।

(यदपि रक्षामणिः—६६—पृ०)

वामदेवादीनामहंभावानुवृत्तिस्तु, जीवनन्मुक्तत्वात् तेषामिन्द्रादीनामिव प्रारब्धशेषतयाऽनुवर्तमान एवाहंभावेऽहंकारोपहित चैतन्यस्य सर्वतादात्म्यमादायोपपत्तेः श्रीभाष्यकाराणांमतेहि शरीरवाचकानां पदानां शरीरिपर्यन्तत्वमिति सिद्धान्तानुसारेणाहंपदेनाहं पदार्थ वामदेव विशिष्टपरब्रह्मण एवाहं पदार्थत्वे "मनुरभवम्" इत्युत्तमपुरुषप्रयोगोनोपपद्यते, क्रियाया, अहमर्थासमानाधिकरण्यात्, किञ्चाहमर्थस्यात्मत्वे—मुक्तः, अज्ञत्वसंसारित्वादिविशिष्टः, अहंप्रतीतिविषयत्वात्, जागरिकादि जीववत्, इत्यनुमानेनाज्ञत्व प्रसंगोपीति॥

अत्रोच्यते-जीवन्मुक्तिवादेनस्वपक्षस्थापनंहि, अन्धस्यजात्यन्धेनयष्टिप्रदानमिव, यतः वेदानिमंलोकममुंच परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत् , बुद्धेःक्षेमप्रापणम् , तच्छास्त्रैर्विप्रतिपिद्धम् , बुद्धंचेत्क्षेम प्रापणमिहैव न दुःखमुपलभेत । एतेन परंव्याख्यातम् , इत्यादिभिः सूत्रैर्भगवता, आपस्तम्बेनैवजीवन्मुक्तिः निरस्ता, किञ्च-तस्यतावदेवचिरंयावन्न विमोक्ष्येऽथसंपत्स्ये नहवैसशरीरस्यसतःप्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति,

शरीरंवावसन्तं न प्रियाप्रियेस्पृशतः, इत्यादिश्रुतिविरुद्धोपि जीवन्मुक्तिवादः । जीवनस्य शरीरादि सम्बन्धात्मकत्वेन मुक्तस्य च शरीरादिसम्बन्धरहितत्वेन, जीवनस्यमुक्तस्यचैकत्र सद्भावोहि तेजस्तिमिरवद्विरुद्धएव । यतःशरीरसम्बन्ध एव बन्धः, अशरीरत्वमेवमोक्षः ।

काचेयं जीवन्मुक्तिः, सशरीरस्यैवमोक्ष इतिचेत् , मातामेवन्ध्येतिवदसंगतार्थवचः, अथ सशरीरत्व प्रतिभासेवर्तमाने यस्यायंप्रतिभासो मिथ्येतिप्रत्ययस्तस्य सशरीरत्वनिवृत्तिरिति, न, मिथ्येति प्रत्ययेन सशरीरत्वं निवृत्तंचेत्कथं सशरीरस्यमुक्तिः, अजीवतोपिमुक्तिः, सशरीरत्वमिथ्याप्रतिभासनिवृत्तिरेवेत्यादिना निरस्ता च जीवन्मुक्तिः श्रीभाष्यकृता

तत्राद्वैतिनांमौनमेवस्वीकारलक्षणम्—

शतदूषण्यादिषु विस्तरेण खण्डितश्चायंवादः श्रीवेदान्तदेशिकैः । अहंपदस्याहंकारोपहित चैतन्य परत्वेन प्रमाणानां

समन्वयप्रतिपादनमप्यसत् , नह्यहंपदस्य अहंकारोपहितचैतन्य परत्वे किञ्चित्प्रमाणमुपलभ्यते केवलाश्रौतमेव कल्पनमद्वै-तिनाम् ,

शरीरवाचकानां शब्दानां शरीरिपर्य्यवसानस्य सप्रामाणि-कत्वेन तदंगाकर्तृणां श्रीभाष्यकाराणांमतानुयायित्वमेवाद्वैतिनां प्रकारान्तरेण ।

श्रीभाष्यमतेतु, वामदेवपदस्य वामदेव शरीरक परमात्म परत्वे शक्त्यैव निर्वाह—यथा च शरीरवाचकानां शब्दानांशरी-णिमुख्यव्युत्पत्तिस्तथास्वावसरेविवेचयिष्यते । अहंपदस्याहं-कारोपहितचैतन्यपरत्वे अहंगच्छामीत्युक्ते, अहंकारोपहितचैत-न्यंगच्छामीति प्रयोगापत्तेश्च ।

अस्मच्छब्दाप्रयोज्यत्वपदप्रयोज्यत्वोभयाभाववती, अस्म-दर्थतावच्छेदकावच्छिन्न मुख्यविशेष्यताविशिष्टायाप्रकारता-तत्प्रयोजकधातूत्तरमुत्तम पुरुषः—

वै०, स्वनिरुपितत्व, स्वनिरूपितविषयतानिरूपितत्वान्यतर-सम्बन्धेन, अस्मद्युत्तम इत्यस्यार्थेन न मध्यमपुरुषानुपपत्तिरस्म-न्मते, अद्वैतिनांतु मध्यमपुरुषानुपपत्तिस्तदवस्थैवेति ।

मुक्तः, अज्ञत्वसंसारित्वादिविशिष्टः, अहंप्रतीतिविषयत्वात् जागरिकादिजीववत् , इत्यनुमानोद्भावनमप्यनुमानस्वरूपाज्ञान निवन्धनम् , वाधाभावोप्यपेक्षितोनुमानस्वरूपे, न पश्योमृत्युं पश्यति न रोगंनोत दुःखताम् । सर्वंह पश्यः पश्यति, सस्व-

राड्भवति, इत्यादिभिरज्ञत्वसंसारित्वाद्यभावप्रतिपादकैः मोक्ष-शास्त्रैः, अज्ञत्वानुमानं बाधितमेव यथा वह्निरनुष्णः, द्रव्य-त्वादित्यनुमाने वह्नौ द्रव्यत्वस्यसत्त्वेपि, अनुष्णत्वविपरीतोष्ण-त्वग्राहकप्रत्यक्षबलाद्बाधस्तथैवात्राप्यहंप्रतीति विषयत्वेन मुक्ते-ऽज्ञत्वादिप्राप्तत्वेपि परमाप्ततमशास्त्रबलादपोह्यते, किञ्च नह्य-ज्ञत्वसंसारित्वादिकंप्रत्यहंप्रतीतेर्हेतुत्वं किन्तु कर्मणएव, तथाच सोपाधिकमप्यनुमानम् ,

अपि च, पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोः भूयोसहचारदर्शनेपि वज्रमणौव्यभिचार दर्शनेन न साहचर्य्यमात्रंव्याप्ति प्रयोज-कम्। तथाचाहं प्रतीतिविषयत्वस्य, अज्ञत्वस्यसंसारित्वादि-भिस्सह साहचर्य्य दर्शनेपि तन्मात्रस्यव्याप्ति प्रयोजकत्वाभावे कथं मुक्तः, अज्ञत्वसंसारित्वादि विशिष्ट इत्यनुमानसंभवः।

वेदाहं समतीतानि, अहंकृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलय-स्तथा इत्यादिभिर्नित्यमुक्तेष्वीश्वरेषु, अहंपदार्थोल्लेखेनैवव्यव-हारदर्शनेन तादृशानुमानेव्यभिचारोपि।

किञ्च, मुक्तः, अज्ञत्वसंसारित्वादिविरहितः कर्मनिवृत्ति-पूर्वकस्वस्वरूपाविर्भावत्वात् , यन्नैवं तन्नैवम्

एवंशतदोषजर्जरितानुमानोद्भावनेन कथमद्वैतिनां समी-हितार्थसिद्धिः कथं च परमवैदिक श्रीभाष्यसिद्धान्तनिरोधः,

तस्मादहमर्थएवात्माज्ञाता च, श्रुतिस्मृतिसूत्र प्रमाणादिसम्मतः, ज्ञोऽतएव, इत्यादिभिः सूत्रैः बादरायणाचार्य्यैःस्पष्टीकृतश्च।

अनुभूतेरात्मत्ववादस्तु न केवलं श्रुतिस्मृतिसूत्रादिविरुद्धः किन्तु—

अनुभूतिः पराची, अहमर्थव्यतिरिक्तत्वात् , घटवत् , अनुभूतिः अनात्मा अहमर्थव्यतिरिक्तत्वात् घटवत् , इत्याद्यनुमानविरुद्धः, अहंजानामीत्यादि प्रत्यक्षप्रतीति विरुद्धश्च, अहमर्थस्य च, अहमर्थः, स्वधर्मभूतप्रकाश निरपेक्षसिद्धिः, प्रकाशधर्मकत्वात, दीपवत् । तथा च अहमर्थ एवात्मा स्वयं प्रकाशत्वादिति वदन्ति ॥

(अत्र वेदान्तरक्षामणिः—५७—पृ०)

अहमर्थोऽनात्मास्वप्रकाशत्वात् , धर्मभूतज्ञानवत् ; सुखवच्च संविदात्मा, स्वप्रकाशत्वात् , यन्नैवं तन्नैवम् । तच्च स्वप्रकाशत्वमद्वैत्यभिमतम् , स्वेतरचिदनपेक्षप्रकाशत्वमेव नतुस्वसत्ताप्रयुक्तप्रकाशत्वरूपं श्रीभाष्यकल्पितं येनदीपादिष्वनैकान्त्यादिकंस्यात् श्रीभाष्यकारैस्त्वनुक्तोपालम्भनं कृतमिति ॥

(अत्र श्रीभाष्यानुयायिनः)

स्वप्रकाशत्वहेतुकमहमर्थानात्मत्वसाधकानुमानं यदुक्तं तत्र हेतुभूतंस्वप्रकाशत्वं किंरूपमितिविवेचनीयम् , किंस्वस्मैस्वयंप्रकाशत्वम् , परस्मैभासमानत्वं वा, अद्वैत्यभिमतं स्वेतरचिदनपेक्षप्रकाशत्वरूपंवेतिपृच्छामः, न तावदाद्यः, तस्यपक्षेसत्वेपि दृष्टान्तेतदभावात् ,

नहिस्वस्मैभासतेसुखादिकमपितु परस्मै भासत इति सर्व

साक्षिकम्, नापिद्वितीयः, तस्यदृष्टान्तसाधारणत्वेपि पक्षेऽसत्वात्, नापितृतीयः, तस्यपक्षेकथञ्चित्सम्भवेऽपि सपक्षेऽभावात्, अतः पक्षसपक्षानुगतस्वप्रकाशत्वविहरात्, कथं विदग्धविबुधगोष्ठ्यामेतादृशानुमानोद्भावनम्। अहंजानामीत्यादि प्रत्यक्षप्रतीत्या बाधोऽपितादृशानुमाने 'आत्मन्येव न दीपाय शब्दोऽहमिति यो द्विजः, इति शास्त्रबाधोपिदुर्वार एव।

स्वप्रकाशत्वहेतुकं संविदात्मत्वानुमानं व्यतिरेकि दृष्टान्ते न यदुक्तं तत्तुव्यतिरेकिप्रमाणमनभ्युपगच्छतामस्माकं समक्षे न तिष्ठतीति, व्यतिरेकिभंगः, बहुधास्मदाचार्य्यैः कृतः, तत्त्वमुक्ताकलाप, वेदान्तवादावली, प्रभृतिपुस्पष्टोऽयमर्थः। अन्वयितु, अद्वैतिनांनास्त्येव, एकदेशिमतेनैवस्वार्थसिद्धिस्तेषाम्।

दीपसुखादिषु व्यभिचारवारकतया स्वेतरचिदनपेक्ष प्रकाशत्वरूपंस्वप्रकाशत्वं, यदुक्तं तदपिनोपपद्यते, अद्वैतसिद्धान्तेऽनुभूत्यतिरिक्तचितोऽस्वीकारात्, तथाहि यदि स्वपदेनानुभूतेर्ग्रहणं तर्हितदितर चितोऽप्रसिद्ध्यातदनपेक्ष प्रकाशत्वंसुतरामसिद्धम्,

अद्वैतसिद्धिकारप्रभृतिभिरपि दृश्यत्वलक्षणविचारे चिदन्तरचिदप्रसिद्धिमाशंक्यलक्षणान्तरमेव कृतम्, तदपि निरस्तं वादावलीकारै आनन्दाल्वारैः, तथाहि—अस्वप्रकाशत्वमेव दृश्यत्वम्, स्वप्रकाशत्वञ्चस्वान्यचिदनपेक्षापरोक्षकत्वम्, चिदंशनिष्ठस्यापरोक्षत्वस्य स्वान्याविद्यापेक्षत्वाच्चिदिति विशेष्योपादा-

नम् , आनन्दांशस्यच स्वान्यचिदंशाधीनापरोक्षताकत्वान्नस्व-प्रकाशकत्वम् नच चिदंशेप्युपलक्षणस्यासम्भवः, स्वान्यचिदप्रसिद्धेरितिवाच्यम् , स्वान्यत्वाभावविशिष्टास्वनिष्ठापरोक्षत्वापेक्षणीयाचिद्यस्य तत्त्वं–स्वप्रकाशत्वमित्यद्वैतिनः,

तदप्यसंगतम् , शुद्धगतानन्दांशस्यास्वप्रकाशत्वे तत्रऽव्यभिचारस्यदुर्वारत्वात् । तस्यमिथ्यात्वे च मोक्षे आनन्दावाप्तिबोधक श्रुतेरनुपपत्तेः । मोक्षे आनन्दावाप्तिबोधक श्रुतीनामनावृतानन्दैक्यमर्थोनत्वानन्दसम्बन्धः, अभेदे सम्बन्धानुपपत्तेरितिभवतैवोक्तत्वात् ।

नचेत्यादिकमपि न युक्तम् , चिदंशस्यस्वपदेनोपादाने स्वान्यस्याजीवचितः प्रसिद्धत्वेन अप्रसिद्धिविरहात् ,

किञ्च अपरोक्षतायाः प्रत्यक्षात्मकान्तःकरणवृत्तिविषयत्वरूपत्वेविषयतासम्बन्धेन अर्थसम्बद्धवृत्तिरूपत्वेवास्वान्यचिदप्रयोज्यापरोक्षत्वाप्रसिद्धेः, स्वपदेन शुद्धस्योपादाने तद्विषयकशब्दजन्यापरोक्षवृत्तेरपिस्वान्यजीवचित्प्रयोज्यत्वेन तदप्रयोज्यत्वाभावात् , विस्तरस्तुन्यायभास्करे द्रष्टव्यः तथा च चिदन्तरचिदप्रसिद्ध्या अनन्तकृष्णोक्तस्वप्रकाशत्व लक्षणमद्वैतरीत्याप्यसंगतम् , केवलधूलीप्रक्षेपणमात्रमेवानन्तकृष्णस्य यतः, अद्वैतसिद्धान्तविपरीतमपिवदन्तिते,

तथा च तादृशलक्षणस्याभावे दीपसुखादिषु व्यभिचारस्य तादवस्थेन तादृशानुमानस्यपुनरपि घट्टकुट्टीप्रभातायितमिति ।

अनुभूतिः, अनात्मा, अहमर्थव्यतिरिक्तत्वात् घटवदित्यनेन सत्प्रतिपक्षोपि, व्यतिरेक्यपेक्षया अन्वयिनः प्रबलत्वात्। ज्ञानंमेजातम् , ज्ञानंमेनष्टमितिप्रतीत्यास्वेतरचिदनपेक्ष प्रकाशत्वं संविद्यसिद्धमेव।

अतोहमर्थः ज्ञाता, अणुस्वरूपः, स्वधर्मभूतज्ञानेन सर्वान् अर्थान् प्रकाशयति स्वयं च प्रकाशान्तर निरपेक्षः। दीपादिवत् , यथा दीपः स्वप्रभया सर्वान् अर्थान् प्रकाशयन्नपि स्वयं प्रकाशान्तर निरपेक्षः प्रकाशस्वरूपः तद्वदेवेति।

एतेन—६१—पृ०—इदमत्रालोचनीयम् यद् , अणोरात्मनः सावयवं धर्मभूतं च ज्ञानं द्रव्यरूपं कथंधर्मः नहिनिरवयवस्यस्वाभाविको धर्मस्तदकार्य्यः सावयवः कुत्रापि दृश्यतेधर्मभूतज्ञानस्यापि निरवयवत्वे तु संकोचविकाशायोगः। इति रक्षामणिचोद्यमपि निरस्तम् ,

निरवयवस्यात्मनः निरवयवधर्मभूतज्ञानमेव धर्मः, श्रीभाष्यकाराणाम् , नच निरवयवस्य संकोच विकाशायोग इतिवाच्यम् , निरवयस्य संकोचविकाशनिषेधक प्रमाणाभावात्। संकोच विकाशस्योपलभ्यमानत्वादेव न संकोच विकाशे प्रमाणापेक्षेति ॥

(अथ ब्रह्ममिथ्यात्वानुमान विचारः)

(वेदान्तरक्षामणिः—७६—७७—पृ०)

ब्रह्म, मिथ्या, अविद्यावत्सम्बन्धिज्ञानविषयत्वात् , प्रपञ्चवत्। ब्रह्ममिथ्याज्ञानविषयत्वात् , प्रपञ्चवत्। ब्रह्म, मिथ्या, असत्यहेतुजन्य-

ज्ञानविषयत्वात्, प्रपञ्चवदेवेति, इति श्रीभाष्यकृता यदद्वैतमतं दूषितम् तदद्वैतसिद्धान्तविरुद्धमेवेति—नहि शुद्धं ब्रह्माविद्यावदुत्पन्नज्ञानविषयः, अखण्डाकारवृत्तिक्षण एवाविद्याया नष्टत्वेनाविद्यावदुत्पन्नज्ञानविषयत्वस्योपहितेऽप्यसंभवेकाकथा शुद्धब्रह्मणोऽविद्यावदुत्पन्नज्ञानविषयत्वे तथाच प्रथमानुमाने हेत्वसिद्धिः, एवमसिथ्याभूतशशशृङ्गादीनामविद्यावदुत्पन्नज्ञानविषयत्वेन तत्र व्यभिचारः, यदि ज्ञानाज्ञानयोः समानविषयकत्व नियमात् स्वविषयाविद्यावदुत्पन्नज्ञानविषयत्वमेव हेतुतया विवक्ष्यते, शशशृङ्गादिविषयंत्वज्ञानमप्रसिद्धमिति न तत्र व्यभिचार प्रसक्तिरिति मन्यते तर्हि—आश्रयत्वविषयत्वभागिनीनिर्विभागचितिरेव केवलेति वचनानुसारेण प्रपञ्चस्याप्यज्ञानविषयत्वाभावेन स्वविषयाज्ञानवदुत्पन्नज्ञानविषयत्वं न दृष्टान्त साधारणम्, इति दृष्टान्ते हेत्वसिद्धिः ॥

वस्तुतत्तु प्रपञ्चमिथ्यात्वे बाध्यत्वमेव तन्त्रम् न स्वविद्यावदुत्पन्नज्ञानविषयत्वमित्यप्रयोजकत्वशंकापि दुरपह्नवैव । किञ्च ज्ञानविषयत्वपदेन किं केवलवृत्तिविषयत्वं मन्यते—उतवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यविषयत्वम्, अथवा चैतन्यमात्रविषयत्वम्, तत्राद्ये तुच्छेव्यभिचारः द्वितीय तृतीययोः पक्षेऽसिद्धिः, चैतन्यस्यवृत्तिमात्रविषयत्वात्, चैतन्यस्यचैतन्यविषयत्वाभावाच्च । एतेन—द्वितीयोपि हेतुर्व्याख्यात, ब्रह्मणो ज्ञानरूपत्वेन ज्ञानविषयत्वानङ्गीकारेण प्रपञ्चस्याज्ञानाविषयस्य वृत्तिविषयत्वानङ्गीकारेण च पक्षदृष्टान्तयोर्हेत्वसिद्धेः, अप्रयोजकत्वात् शशशृङ्गादौ व्यभिचारात्, बाध्यत्वेन सोपाधिकत्वात्, ब्रह्म, न मिथ्या, अविद्यापरिणामत्वाभात्, इति सत्प्रतिपक्षात् "सत्यंज्ञानमिति" श्रुतिबाधितत्वाच्च सर्वेषु हेतुषु विषयत्वेनैव मिथ्यात्वनिर्वाहे व्यर्थविशेषणतापि मिथ्यात्वं च—स्व समानाधिकरणात्यन्ताभाव प्रतियोगित्वम्, ज्ञाननिवर्त्यत्वम्, प्रतिपन्नोपाधौत्रैकालिक निषेध प्रतियोगित्वम्, सदसद्विलक्षणत्वादिरूपमित्यद्वैतिनः ॥

(अत्र श्रीभाष्यानुयायिनः)

सर्वस्य सत्यत्वेनाङ्गीकर्तॄणां विशिष्टाद्वैतिनां समक्षे हेतु-दृष्टान्तानामनुज्जीवनेन न कथंचिदपि प्रपञ्च मिथ्यात्वानुमान संभवः, श्रीभाष्यकारैः प्रदर्शितानि ब्रह्ममिथ्यात्वानुमानान्यद्वैत-सिद्धान्तदिशैवेति,

'ब्रह्मणोऽननुभूतित्वंत्वदुक्त्यैव प्रसज्यते' इत्यनेन ग्रन्थेन, तत्राद्वैतिषुसन्ति केचन विवरणकाराः केचनभामतीकाराः, अन्ये-तदनुयायिनश्चेति। तत्र भामतीकाराः शुद्धस्य ब्रह्मणः जिज्ञा-स्यत्वं ज्ञानविषयत्वंच नाभिमन्यन्ते, किन्तूपहितस्यैवब्रह्मणः ज्ञानविषयत्वंजिज्ञास्यत्वंचेति वदन्ति।

तत्र विवरणकारा एव भामतीकारसिद्धान्तान्निरस्य, शुद्ध-स्यैवब्रह्मणो ज्ञानविषयत्वं जिज्ञास्यत्वं च स्थापयन्ति, तथाहि यदि शुद्धं ब्रह्म न ज्ञानगोचरं तर्हि आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः,

'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति सयोहवै तत्परमं ब्रह्मवेद' अथातो ब्रह्मजिज्ञासा, जन्माद्यस्य यतः, तत्तुसमन्वयात्, इत्यादि श्रुति-सूत्राणां कागतिः। ब्रह्मणोज्ञानविषयत्वेन प्रतिपादकानां श्रुति-सूत्राणांवैयर्थ्यमपरिहार्य्यमेव, वेदान्तशास्त्रस्याशुद्धब्रह्मविषयकत्वे भगवतः वादरायणाचार्य्यस्य सर्वोपिविचारः पंकानुलेपनप्राय एव,

'सयोहवै तत्परमंब्रह्मवेद' इयं श्रुतिःस्पष्टमेव शुद्धस्य ब्रह्मणोवेद्यत्वं वदति, यतोऽद्वैतिनां परत्वंहि शुद्धतामात्ररूपत्वमेव, नहि विशिष्टाद्वैतवादिन इव ज्ञानशक्त्यादिभिः सर्वोत्कृष्टत्वं ब्रह्मणः परत्वमिति मृषावादिनोऽभ्युपगच्छन्ति, तस्याप्यशुद्धकोटि निविष्टतया निवर्तनीयान्तर्गतस्य निवर्तकज्ञानविषयत्वासम्भवात्। आत्मा वा अरे द्रष्टव्य इत्यादौ, उपहितस्यैवदर्शन विषयत्वे तादृशज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वानुपपत्तिरपि, उपहित विषयकस्यापि मोक्षप्रयोजकत्वे, अहमज्ञ इत्यादि ज्ञानस्यापि तथात्वापत्तिः, शुद्धस्यावेद्यत्वे,भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्तेचास्यकर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे। इति श्रुति विरोधापत्तेश्चेति तस्मादुपहितस्य जिज्ञास्यत्वं वदन्तो भामतीकाराः श्रुतिविरोधादेवपरास्ताः,

शुद्धमेवब्रह्मजिज्ञास्यं ज्ञानविषयश्चेति विवरणकाराः सम्यग्वदन्ति। ब्रह्ममिथ्यात्वानुमानानि विवरणमताभि प्रायकानि। यतस्तन्मते ब्रह्मणोज्ञानविषयत्वमस्त्येव,

ब्रह्म, मिथ्या, अविद्यावत्सम्बन्धिज्ञानविषयत्वात्, इत्यनुमाने, ज्ञानविषयत्वमेवहेतुः, विशेषणन्तुदुष्टमूलत्वज्ञापनार्थम् यथा बाध्यत्वं मिथ्यात्व प्रयोजकम्, तथैव दुष्टमूलत्वमपीत्येतदर्थकतया सार्थकम्, यथा सकलेतरकाचादिरहित पुरुषान्तरागोचरगिरिगुहासुवसतस्तैमिरिकजनस्याज्ञातस्वतिमिरस्य सर्व-

स्यतिमिरदोषाविशेषेण द्विचन्द्रज्ञानमविशिष्टं जायते तत्र बाधक प्रत्ययाभावेपि दोषमूलत्वादेव द्विचन्द्रज्ञानं मिथ्यैव तद्वदेवेति,

तथा च—नहि शुद्धं ब्रह्मविद्यावदुत्पन्नज्ञान विषयः, अखण्डाकारवृत्तिक्षण एवाविद्याया नष्टत्वेनाविद्यावदुत्पन्नज्ञान-विषयत्वस्योपहितेऽप्यसंभवेकाकथा शुद्धब्रह्मणोऽविद्यावदुत्पन्न ज्ञानविषयत्वे, अतः प्रथमानुमाने हेत्वसिद्धिरिति यदुक्तं तन्निरस्तम्, ज्ञानविषयत्वमात्रस्यैवहेतुत्व वर्णनेन प्रथमानुमानेहेत्वसिद्धेरभावात्। किञ्चास्तुनामपूर्णप्रयोगस्तथापि न हेत्वसिद्धिः. तत्र हेतौसामकालिकत्वस्याविवक्षणात्। वयन्तु पश्यामः, विवक्षणेपि सामकालिकत्वे प्रागभावस्य प्रतियोगिनासाकामिव अविद्याया अपि, अखण्डाकारवृत्त्यासह प्रथमक्षणेऽद्वैताभिमत स्थिति सद्भावेन न किञ्चिद्दूषणमिति।

तत्र च ज्ञानविषयत्वहेतुघटक ज्ञानपदेन—विकल्प व्यावृत्त-धीत्वरूपं भ्रमप्रमान्यतरीयज्ञानत्वं वा गृह्यते तथा च न शशशृङ्गादौ व्यभिचारः 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' इति पातञ्जलसूत्रेण विकल्पात्मकज्ञानमेव शशशृङ्गादिज्ञानं नतु धीत्वरूपं, नतु भ्रमप्रमान्यतरीयत्वं कश्चिदभ्युपैति। एतेन यदि ज्ञानाज्ञानयोः समान विषयकत्वनियमात् स्वविषयाविद्यावदुत्पन्नज्ञान विषयत्वमेव हेतुतया विवक्ष्यते, शशशृङ्गदि विषयंत्वज्ञानमप्रसिद्धमिति न तत्र व्यभिचारप्रसक्तिरिति मन्यते तर्हि, आश्रयत्व विषयत्व भागिनीति वचनानु-

सारेण प्रपञ्चस्याप्यज्ञानविषयत्वा भावेन दृष्टान्ते हेत्वसिद्धिरिति, निरर्थककल्पनाप्यद्वैतिनामुन्मूलिता।

ज्ञानपदेन विकल्पव्यावृत्तधीत्वरूपज्ञानमेवाभिप्रेतं मिथ्यात्वानुमाने तथा च नामिथ्याभूतालीकादौ व्यभिचार प्रसक्तिः। भ्रमप्रमान्यतरीयज्ञानविषययोः, धीत्वरूपज्ञानविषययोर्वा समसत्ताकत्वनियम स्वीकारेण, 'नायं नियमः ज्ञानतद्विषययोः समसत्ताकत्वमिति',

अलीकादौव्यभिचारात् , यदि विषयो द्विविधः फलव्याप्योवृत्तिव्याप्यश्चेत्यादिना-७५-पृष्टेऽनन्तकृष्णोक्तमपि निरस्तम्। यतो नहि केवलयोर्ज्ञान तद्विषययोःसमसत्ताकत्व नियमं, द्वैतिनोविशिष्टाद्वैतिनश्च वदन्ति किन्तु भ्रमप्रमान्यतरीयज्ञानतद्विषययोः धीत्वरूपज्ञानतद्विषययोर्वा समसत्ताकत्वनियमम्।

मिथ्यात्वंप्रति यथाबाध्यत्वं प्रयोजकम् तथैव दुष्टमूलत्वमपि, दोषोह्ययथार्थज्ञानहेतुः, तिरश्चां यावज्जीवं बाधोदयाभावेपि संसर्गरूपदोषमूलत्वादेवदेहात्मधीर्मिथ्याविषया, सकलेतरकाचादिरहितपुरुषान्तरा गोचरगिरिगुहासु वसतस्तैमिरिकजनस्याज्ञातस्वतिमिरस्य सर्वस्य तिमिर दोषाविशेषेण द्विचन्द्रज्ञानमविशिष्टं जायते न तत्र बाधक प्रत्ययोस्तीति तत्र दोषमूलत्वादेव बाधक प्रत्ययः, अतोमिथ्यात्वंप्रति तृणारणिमणिन्यायेन प्रत्येकमेव कारणम्। तथा च प्रपञ्चमिथ्यात्वे बाध्यत्व

मेवतन्त्रं नत्व विद्यावदुत्पन्नज्ञानविषयत्वमित्यप्रयोजकत्व शङ्कापि दुरपह्नवैवेत्युक्तिरपि परास्ता। नहि घटे पटाभावमात्रेण पटस्य-मिथ्यात्वमभ्युपगच्छन्त्यद्वैतिनोपि, किन्तु तत्र प्रतीयमानत्वे-सति त्रैकालिक निषेध प्रतियोगित्वस्यैव प्रतीतिश्च दोषवशादेवेति,

बाध्यत्वस्यैव मिथ्यात्ववर्णने—विमतं, मिथ्या, दृश्यत्वात् , जड्त्वात् , परिच्छिन्नत्वात् , इत्यादिहेतुभिः प्रपञ्चस्यमिथ्यात्व वर्णनमद्वैतसिद्धिकाराणांवैयर्थ्यमेवस्यात् यतः दृश्यत्वस्य मिथ्यात्वं वदन्ति, दृश्यत्वञ्च ज्ञानविषयत्वमेव, तथा च प्रपञ्चो, मिथ्या, ज्ञानविषयत्वात् शुक्तिरूप्यवदित्यद्वैतसिद्धिकारानुमानेज्ञानविष-यत्वमस्तुमिथ्यात्वंमास्तु, इत्यप्रयोजकत्व शंकायां किमुत्तरमद्वै-तिनामिति विभाव्य—अद्वैतानुमानानि सहस्रधानिरस्यन्ति विशिष्टाद्वैतिनः अद्वैतानुमानान्यद्वैतदिशैव विचार्य्यतेऽधुना तथा च नाप्रयोजकत्व शंकावकाशः।

विकल्पव्यावृत्तधीत्वरूपज्ञान विशेष तात्पर्य्य वर्णनेन-ज्ञानविषयत्वपदेन किं केवलवृत्ति विषयत्वं मन्यते, उत—वृत्त्यव-च्छिन्नचैतन्य विषयत्वम् , अथवा चैतन्यमात्रविषयत्वम् , तत्राद्ये, तुच्छे व्यभिचारः, द्वितीय तृतीययोः पक्षेऽसिद्धि-रित्यादि पाण्डित्यप्रख्यापनायानन्तकृष्णोदीरितकपोलकल्पिनापि निरस्ता भवति—तादृशलक्षणे नच कुत्रापि व्यभिचारप्रसक्तिः— एतेन द्वितीयतृतीयानुमानमपि व्याख्यातप्रायम् , यतः सर्वत्र ज्ञानविषयत्वघटकज्ञानपदेन विकल्पव्यावृत्तधीत्वरूपज्ञानविशे-

पस्य भ्रमप्रमान्यतरीयज्ञानस्यवा ग्रहणेन सर्वदोष परिहारात्, विवरणमताभिप्रायकानुमानस्य सद्भाव वर्णनेन—ब्रह्मणोज्ञानरूपत्वेन ज्ञानविषयत्वाभावेन पक्षासिद्धिशंकापि निरस्ताभवति, विवरणमतेज्ञानस्वरूपस्यब्रह्मणोज्ञानविषयत्वाङ्गीकारात्, भामती मतंतु पूर्वमेव निरस्तम्, न तन्मतेन शंकोत्थानमपियुक्तम्। तथा च—ब्रह्म, मिथ्या, अविद्यावत्सम्बन्धिज्ञानविषयत्वात्, प्रपञ्चवत् ब्रह्म, मिथ्या, ज्ञानविषयत्वात् प्रपञ्चवत्, ब्रह्म मिथ्या, असत्यहेतुजन्यज्ञानविषयत्वात् इति त्रिष्वप्यनुमानेषु न किञ्चिदप्यद्वैतिनांसन्देहास्पदमवशिष्टमस्तीति। असत्यात्सत्योत्पत्तिस्तु कथामात्रमेवाद्वैतिनामितितु श्रीभाष्यावलोकनेनैव सर्वं विदितं भविष्यतीत्यप्रासंगिक विचारेण विरम्यते।

यदपि ब्रह्म न, मिथ्या, अविद्यापरिणामत्वाभावात्, सत्यं ज्ञानमितिश्रुतिबाधितत्वाच्चेत्युक्तं तदपि निर्मूलम्—केवलहेतु साध्यप्रयोगमात्रेणानुमानस्वरूपसिद्ध्यभावात्।

तथाहि यत्र अविद्या परिणामत्वाभावस्तत्र मिथ्यात्वाभाव इतिव्याप्तौ न दृष्टान्त सम्भवोऽद्वैतसिद्धान्ते तन्मते ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य मिथ्यात्वात् अन्वयव्याप्तिस्तुत्रिकालबाधितात्र, ब्रह्मणः सन्दिग्धत्वेनव्यतिरेकिव्याप्तिरपि दुर्वारैव, पक्षस्यदृष्टान्तकोटावन्तर्भावस्य तार्किकसिद्धान्तविरुद्धत्वात्, अविद्यापरिणामत्वस्यमिथ्यात्वप्रयोजकत्वे श्रुतिसूत्रादि प्रामाण्याभावाच्च,

अविद्यापरिणामत्वाभावोऽस्तु मिथ्यात्वाभावोमास्तु, इत्य-प्रयोजकत्वशंकापिदुरपह्नवैवेति। सत्यंज्ञानमितिश्रुतिप्रदर्शन मप्यनुमानासामर्थ्यसूचकम, ब्रह्मणोमिथ्यात्वसाधने माध्यमिक एव प्रवृत्त इत्यवगम्यताम्। नहि तत्र श्रुति प्रामाण्योपस्थापनेन स्वार्थसिद्धिः, प्रातीतिकादि सत्यत्व स्वीकारेपि श्रुतिप्रामाण्यो-पपत्तेः। भवद्भिरपि–१०८–पृ०–सगुणत्वं ब्रह्मणो बोधयन्ति सगुणवाक्यानि नतु तेषां परमार्थिकत्वमपीत्युच्यते। यदि वेदे श्रद्धावतां भवतामीदृशं प्रच्छन्नत्वं तर्हि किमुतमाध्यमिकानाम्–नहिपरमार्थ सत्यत्वं वदन्ति श्रुतयः किन्तु सत्यत्वमात्रमेव तथा च प्रातीतिकसत्यत्वेनाप्युपपत्तौकथं बाधप्रदर्शनमिति—

तथाचाद्वैतसिद्धान्तेन ब्रह्मणोमिथ्यात्वप्रतिपादनपरः श्री-भाष्यानुमानप्रयोगः, समीचीन एवेति सर्वं चतुरस्रमिति॥

अथ श्रीभाष्यकृद्भिः, सप्तविधानुपपत्तिभिः—आश्रया-नुपपत्तिः–तिरोधानानुपत्तिः–स्वरूपानुपपत्तिः–अनिर्वचनीयत्वा-नुपपत्तिः—निवर्तकानुपपत्तिः–निवृत्त्यनुपपत्तिरित्यादिभिरद्वैतम-तंदूषितम्। तत्राश्रयानुपपत्तिविचारे,

साहि किमाश्रित्यभ्रमंजनयतीतिवक्तव्यं, न तावज्जीवमा-श्रित्य, अविद्यापरिकल्पितत्वाज्जीवभावस्य। नापि ब्रह्माश्रित्य, तस्य स्वयंप्रकाशज्ञानरूपत्वेनाविद्याविरोधित्वात्, साहिज्ञान-बाध्याभिमता।

ज्ञान रूपं परंब्रह्म तन्निवर्त्यं मृषात्मकम् ।
अज्ञानंचेत्तिरस्कुर्यात्कः प्रभुस्तन्निवर्तने ॥
ज्ञानं ब्रह्मेति चेज्ज्ञानमज्ञानस्य निवर्तकम् ।
ब्रह्मवत्तत्प्रकाशत्वात्तदपिह्य निवर्तकम् ॥
ज्ञानं ब्रह्मेति विज्ञानमस्ति चेत्स्यात्प्रमेयता ।
ब्रह्मणोऽननुभूतित्वंत्वदुक्त्यैव प्रसज्यते ॥

इत्यादिभिः, ब्रह्माश्रयत्वपक्षं जीवाश्रयत्वपक्षंच निरस्य ब्रह्माश्रयत्वनिराशपरं श्रीभगवन्नाथमुनिसम्मतिं प्रमाणयन्ति श्रीभाष्यकारस्वामिपादाः । तत्राद्वैतिनां किं समाधानमिति प्रथमं विविच्य समाधीयतेऽस्माभिरिति ।

(तत्र वेदान्तरक्षामणिः—१८७—१८८ पृ०)

आवरणशक्तिविशिष्टंभावरूपमनिर्वचनीयं किञ्चिदेवाज्ञानं नाम। अस्यचाहमज्ञ इतिप्रतीत्यनुसारेण जीवाश्रयत्वमेव जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा । अविद्या तच्चितोर्योगःषडस्माकमनादयः इत्यविद्यायाइवतदुपहितजीवस्याप्यनादित्वात् , नान्योन्याश्रय इति ब्रह्मसिद्ध्यादौव्यक्तम् ।

'ब्रह्माश्रयत्वेपिस्वरूपभूतज्ञानस्यानिवर्तकत्वेन वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य वृत्तेर्वा अविद्यानिवर्तकत्वस्याद्वैताभिमतत्वेन, तद्विरोधित्वेन स्वप्रकाशचैतन्यस्वरूपस्य ब्रह्मणोज्ञानविरोधित्वस्याद्वैतिभिरनङ्गीकारेण "स्वप्रकाशचैतन्यस्वरूपत्वेनाविद्याविरोधित्वादि" त्यस्यानुक्तोपालम्भनत्वात् । एतेन-ज्ञानरूपं परं ब्रह्म तन्निवर्त्यंमृषात्मकम् । इति समाहितम्, वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्यवृत्तिमात्रस्य वाऽज्ञाननिवर्तनप्रभुत्वात् ।

तथाचाहंब्रह्मास्मीत्यखण्डाकारवृत्तिरेवाज्ञाननिवर्तिका नतु ब्रह्मरूपमेवज्ञानं तन्निवर्तकम् एतेनज्ञानंब्रह्मेति चेद्ज्ञानमज्ञानस्य निवर्तकमित्यपि परास्तम्, वृत्तिरूपस्यज्ञानस्याज्ञाननिवर्तनमात्रोपक्षीणस्य ब्रह्मप्रकाशत्वाभावेन ब्रह्मतुल्यत्वाभावाच्चेत्यनन्तकृष्णस्याद्वैतिनां वा समाधानमिति ॥

(अत्र श्रीभाष्यानुयायिनः)

तत्र प्रथमं जीवाज्ञानपक्षमेव विचार्य्य निरस्यते, जीवाज्ञानवादे 'आश्रयत्व विषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला। पूर्वं सिद्धतमसोहि पश्चिमोनाश्रयो भवति नापि गोचरः' इति जीवाज्ञाननिषेधकाद्वैताचार्य्यवचन विरोधः प्राथमिकः। जीवस्यानादित्वेपि, अविद्याकल्पितत्वस्याद्वैतिभिः, स्वीकारेण कल्पितापेक्षयाकल्पकस्य पूर्वभावित्वावश्यम्भावेन- अविद्याया आश्रयः क इति जिज्ञासायां जीवस्य वक्तव्यत्वे सति, जीवसिद्धावविद्यासिद्धिः, अविद्यासिद्धौ जीवसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयेण पुनरपि घट्टकुट्टीप्रभातायितमेवाद्वैतिनाम्।

किञ्च जीवस्य स्वरूपानादित्वमुतप्रवाहानादित्वमभिप्रेत्य, अन्योन्याश्रयः वार्य्यते, न तावत्स्वरूपानादित्व सम्भवः, अविद्यायाः नैरपेक्ष्यप्रसंगात् जीवस्य सत्यत्वप्रसंगेनाद्वैतनिर्विशेषसत्यत्ववादभंगप्रसंगाच्चेति,

अद्वैतिभिरनभ्युपगमाच्च-नापिप्रवाहानादित्वंयुक्तम् यथा प्रवाहस्योत्तर प्रवाहेन विनाशः तथा जीवस्यापिभंगुरत्व प्रसंगात्-

आमोक्षाज्जीवस्यस्थायित्व प्रतिपादकश्रुतिस्मृति विरोधेन क्षण-भंगोत्व स्वीकारस्याप्यशक्यत्वात्–किञ्च यथा जले चन्द्रप्रति-विम्वः तद्वदेव अविद्यायाम् शुद्ध चैतन्य प्रतिविम्ब एव जीव-इत्येवहि सिद्धान्तः सोपि असंगत एव यथा प्रतिविम्वाधार निवृत्तौ तत्रोत्पन्नस्य प्रतिविम्वस्य नाशः तथैवाविद्यानिवृत्तौ प्रतिविम्बस्य जीवस्य नाशेन।

सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणाविपश्चिता। निर-ञ्जनः परमं साम्यमुपैति—इदं ज्ञानमपाश्रित्यममसाधर्म्यमागताः इत्यादि साधर्म्य प्रतिपादक मुक्तिकालीनश्रुतिस्मृति विरोधोपि दुर्वार एव नहि प्रतिविम्बस्य विम्वेन सहैक्यापत्तिः कुत्रापि दृष्टचरी–तस्मादयुक्तोयंजीवाज्ञानवादः॥

ब्रह्माश्रयत्वपक्षे यदुक्तं अद्वैतिभिःज्ञानस्वरूपस्यब्रह्मणः नित्यस्वप्रकाशत्वेपिनाज्ञानाविरोधित्वंतस्य किन्तु अखण्डाकार-वृत्त्यात्मकज्ञानमेवेति, तदपि न संभवति तथाहि अखण्डाकार वृत्त्यात्मकज्ञाने कस्य विषयता शुद्धस्याथवा मिथ्याभूतस्योप-हितस्य न तावदाद्यः स्वरूपस्येवानिवर्तकत्वात्–वृत्तिस्वरूपयोः यथावस्थितब्रह्मस्वरूप प्रकाशत्वाविशेषात्, अतो यदि वृत्तेः निवर्तकत्वं तर्हिस्वरूपस्यापि अन्यथा न कस्यापीत्यर्थः॥

ननु यथा इदंरजतमित्यत्र, इदमर्थ प्रकाशः, अधिष्ठानतया, अध्यांस सह–विषयप्रकाशस्तु अध्यास निवर्तकः यथेदमर्थप्रका-शस्य शुक्तिरितिप्रकाशः तथैवाधिष्ठान प्रकाशो न निवर्तकः किन्तुवृत्तिप्रकाश एव निवर्त्तक इतिचेन्न–

दृष्टान्तासंभवात् , नहीदमर्थ प्रकाशस्य शुक्तिरिति प्रकाशस्यात्यन्त समानविषयता--इदमर्थप्रकाशस्य शुक्तिरजतसाधारणाकारविशिष्टगोचरत्वात्-शुक्तिरिति प्रकाशस्य च रजतव्यावर्तक शुक्तित्व विशिष्ट गोचरत्वात्। अन्यथा शुक्तेरपिभ्रमानिवर्तकत्वप्रसंगात्--नच त्वयावृत्तिज्ञानेनकश्चन विशेष अङ्गीक्रियते-तथात्वे तस्यसत्यत्वे अद्वैतभंगेन सगुणसिद्धान्तेपातः-मिथ्यात्वे इदानीन्तनवत् तस्य मिथ्यात्वेनानुपकारकत्वमेव एतेन द्वितीयोपि कल्पो निरस्तः नहि मिथ्याभूतेन तात्विकार्थ सिद्धिः। किञ्च यथासाक्षिप्रत्यक्षस्य मिथ्यात्वेन भासमानत्वेपि न यथा भ्रमनिवर्तकत्वं तद्वदेवोपहितस्यापि—

विस्तरस्त्वाकरादौ द्रष्टव्यः तस्मान्न ब्रह्माज्ञानंसंभवतीति यदप्युक्तं अभावरूपा धर्मानाद्वैतं निघ्नन्तीति अभावरूप धर्माभ्युपगमेपिनाद्वैतभंगः भावरूपाधर्माएवाद्वैत विरोधिनस्तदप्यसंगतम्-अभावस्य सत्यत्वे तत्राभावत्वतत्सम्बन्धतदधिकरणत्वानां ब्रह्मणि चाभाव सम्बन्धतदनुयोगित्वयोरवश्यं वाच्यतया भावाद्वैतस्यापि दुर्लभत्वात् एतत्सर्वमभिप्रेत्यैवोक्तं श्रीभाष्यकारैः भगवद्रामानुजाचार्य्यैः नापि जीवाश्रित्य नापि ब्रह्माश्रित्य भ्रमोत्पादकत्वंसंभवत्यविद्यायाः॥

तथा च ज्ञान रूपं परंब्रह्म तन्निवर्त्य मृषात्मकम्। अज्ञानं चेत्तिरस्कुर्य्यात् कः प्रभुस्तन्निवर्तने। ज्ञानंब्रह्मेति चेत्ज्ञानमज्ञानस्यनिवर्तकम्-ब्रह्मवत्तत्प्रकाशत्वात् तदप्यनिवर्तकम्। ज्ञानं

ब्रह्मेतिविज्ञानमस्ति चेत्स्यात् प्रमेयता-ब्रह्मणोऽननुभूतित्वंत्वदु-क्त्यैव प्रसज्यते ।। इत्यनेन भगवन्नाथमुनिभिर्दत्तं दूषणं अद्वैतिनांशिरसिवज्रलेपायितमेव ।

यदपि ब्रह्मवत्तत्प्रकाशत्वादित्यस्य-नहि वृत्तेस्स्वप्रकाशत्वं किन्तुजडभूतायाः वृत्तेर्ज्ञानावच्छेदकत्वात्ज्ञानत्ववाद इत्यनेन खण्डनं कृतम् तदपितत्पंक्त्यर्थाज्ञान निबन्धनं नहि विशिष्टा-द्वैतिनो मन्यन्ते-यत्वृत्तेस्स्वप्रकाशत्वमंगीकुर्वन्त्यद्वैतिनः किन्तु सविषयवृत्तिज्ञाने विषयस्य शुद्धस्य ब्रह्मणः अधिष्ठानप्रकाशा-नतिरिक्तत्वादित्येवार्थः—

यथा च वृत्तिव्याप्यत्वस्यापिमिथ्यात्वं तथा पूर्वमेव विवे-चितम् न पुनरुक्त्याप्रयोजनमिति ।।

(अथ तिरोधानभंगः)

एवंस्वप्रकाशैकस्वरूपस्य ब्रह्मणः अविद्ययातिरोधानस्वीकारे प्रकारान्तरेण नाश एव प्रसंगः प्रकाशतिरोधानं नाम प्रकाशो-त्पत्तिप्रतिबन्धः विद्यमानस्य नाशो वा नच प्रकाशस्य उत्पा-द्यत्वमभ्युपगम्यते येनोक्तदोषाद्विमुक्तिरिति ।।

(अत्र रक्षामणिः—१६०--पृ०)

अत्राद्वैतिनः, किञ्चिद्रूपावच्छेदेन प्रकाशाभाव एवावरणंनाम् अख-ण्डाकारसाक्षात्कारपर्यन्तंहि किञ्चिद्रूपावच्छेदेन ब्रह्मणःप्रकाशाभावो-वर्तत एव, सत्वचित्वानन्दत्वादिकंतुधर्मोऽनाद्यविद्याकल्पितोपि याव-द्ब्रह्मसाक्षात्कारमेवधर्मतया वर्तते, तथाचासत्वापादकत्वमभानापाद-कत्वमनानन्दनापादकत्वमेवतिरोधानपदार्थ इति ।।

तदपि विद्वद्भिरनुपादेयमेव तथाहि निरंशेनिर्धर्मकेचि-न्मात्रे ब्रह्मणि यावन्नाविद्ययातिरोधानं तावत् किञ्चिद्रूपादीना-मप्रसिद्धत्वेन किञ्चिद्रूपावच्छेदेन प्रकाशाभावरूपावरण कल्पनं न शोभते प्राज्ञगोष्ठ्यां यः सांशः सावयवः तत्रैवावच्छेदकादि कल्पनं न निरंशेनिर्धर्मकेब्रह्मणि, अविद्ययायावत्तिरोधानं नोप-पाद्यते तावत् प्रतिज्ञैव केवलम् , इदानिंतिरोधानस्यैवासंभवात्-- एतेन यदप्युक्तं असत्वापादकत्वंमनानन्दनापादकत्वादिकं तदपि निरस्तमेव,

एतेषांधर्माणां ब्रह्मस्वरूपत्वांगीकारे पुनरपि स्वरूपतिरोधा-नेनस्वरूपनाश एव पृथक्त्वस्वीकारे तस्यसत्यत्वे सद्वितीयत्व-प्रसंगः मिथ्यात्वेतस्याविद्याधीनत्वेन यावन्नतिरोधानं तावदस-त्वापादकत्वादिकं कथनमेव—

किञ्च ब्रह्मभिन्नानन्दस्यावरणे ब्रह्मावरणसिद्धान्तभंगश्च-किञ्चानन्दैकरसं चैतन्यमित्येव भवतां व्यवहारः, तथाचानन्द-स्यब्रह्मस्वरूपत्वे पुनः पूर्वोक्त दोषस्तदवस्थ एव--अतः, इदमपि निरस्तम् , वस्तुतस्तु सत्वचित्वाद्यसाधारणधर्माज्ञानमेवब्रह्मणो-प्यावरणमितिस्वीकारान्नकोपि दोषः सत्वचित्वाद्यग्रहणाद-ध्यासः, अध्यासात् सत्वचित्वाद्यग्रहणमित्यन्योन्याश्रयस्तु न-- अनादित्वेन परिहारात् ।

अनादित्वेपि न सत्वचित्वादीनां सत्यत्वं किन्तु अविद्यया कल्पितत्वमेव तथाचान्योन्याश्रयस्तदवस्थ एव,

किञ्च जीव ईशो विशुद्धाचित् तथा जीवेशयोर्भिदा अ-विद्यातच्चितोर्योग षडस्माक मनादयः। इति भवदीयग्रन्थपर्य-वेक्षणेन षड्पदार्थस्यैवानादित्वं नततोऽन्यस्य तथा च सत्त्व-चित्त्वादीनामप्यनादित्वेऽद्वैतसिद्ध्युक्त षड्पदार्थस्यैवानादित्व-परक वचन विरोधोदुर्घट एव।

वस्तुतः प्रकाश तिरोधानस्य नेदं लक्षणमसत्वापाद-कत्वादिकम् , इदन्तूल्लोकलक्षणमनन्तकृष्णस्य, अद्वैतसिद्धान्त विरुद्धमपि, अद्वैतसिद्ध्यादौ—त्रिविधमज्ञानमुक्तम् , तच्च, असत्वापादकत्वमभानापादकत्वमनानन्दना पादकत्वमिति,

नहीदं प्रकाशतिरोधानलक्षणमिति,

प्रकाशतिरोधानंनाम, प्रकाशोत्पत्तिप्रतिबन्धः, विद्यमानस्य प्रकाशस्य विनाशो वा दीपादिषु तथैव दर्शनात् , तथा च नास्यतिरोधानलक्षणस्यब्रह्मणिसम्भव, अखण्डनित्यस्वरूपस्य ब्रह्मणः प्रकाशोत्पत्तिप्रतिबन्धादिरूपतिरोधान कल्पनैव निष्फला, तिरोधानं तु बहुदूरमिति।

एतेनाविद्याप्रतिबिम्बत्वमेवतिरोधानमिति वदन्तोऽपिपरा-स्ता, नीरूपे निरवयवेब्रह्मणि प्रतिबिम्बत्वासंभवात् नहिनिरुपस्य प्रतिबिम्बत्व संम्भवः, नहिगगने कालस्यप्रतिबिम्बत्वं दृष्टं श्रुतं वा,

एतेन—६२—पृष्ठे—जल आकाश प्रतिबिम्बदर्शनात् वर्णेषु ह्रस्वत्वदीर्घत्वादिध्वनिधर्मप्रतिबिम्बदर्शनात् , तथा सिद्धा-

न्तलेशसंग्रहे व्यक्तमिति रक्षामणिरपि निरस्तः, निरूपस्यप्रति-विम्बादर्शनात् अन्यथा कालादिद्रव्याणामपिप्रतिविम्बत्वापत्तेः नच जपाकुसुमरूपस्यनिरूपस्य निरवयवस्यापिस्फटिकादौ प्रति-विम्बदर्शनात्, सावयवस्यसरूपस्यैव प्रतिविम्ब इति न नियम इति वाच्यम्,

एवमपि चाक्षुपस्यैव चाक्षुपे प्रतिविम्ब इति नियमस्या-व्याहतत्वेन ब्रह्मणः प्रतिविम्बासम्भवात्, जल आकाश प्रति-विम्ब निदर्शनमपिसिद्धान्तलेशसंग्रहकाराणामसंगतमेव, आका-शस्य पञ्चीकरणप्रक्रिययारूपवत्वेन चाक्षुपत्वात्, समर्थितं च वेदान्ताचार्य्यैः, तत्त्वमुक्ताकलापे, वर्णेपुह्रस्वत्व दीर्घत्वध्वनीनां प्रतिविम्बपदेन व्यवहाराभावात्, ध्वनिशब्देनैव निर्वाहे प्रति-विम्बादि कल्पनस्य निष्फलत्वाच्चेति तस्मान्नब्रह्मणस्तिरोधान-संभव इति ॥

(रक्षामणिः—१६६—पृ०—)

यदप्युक्तम्, अनिर्वचनीयेभावरूपे, अज्ञाने अहमज्ञ इति प्रत्यक्षम् विवादाध्यासितं प्रमाणज्ञानंस्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वविषयावरणस्वनि-वर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तर पूर्वकम्, अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वात्, अन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीप प्रभावत्, इत्यनुमानद्-मिथ्याभूतस्यमि-थ्यैवोपादानं भवितुमर्हतीत्यर्थापत्तिः 'तमसैवेदमावृतमासीत्' इत्यादि श्रुतिवाक्यानि च प्रमाणम् अहमज्ञः मामन्यंच न जानामीति प्रत्यक्षंहि न ज्ञानप्रागभागविषयकम्, अभावस्यानुपलब्धिप्रमाणविषयत्वेन

प्रत्यक्षाविषयत्वात्, अभावस्यप्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणत्वेन ज्ञानाभावप्रतीतिः ज्ञानग्रहण मन्तरेण नोपपद्यते तथा च नाभाव ग्रहणम्--

भावरूपत्वेत्वज्ञानस्यतस्यधर्मिप्रतियोगिज्ञानानपेक्षत्वात्प्रत्यक्षत्वोपपत्तिः, भावरूपंह्यज्ञानं 'सर्ववस्तुज्ञाततयाऽज्ञाततया वा साक्षिभाष्यमिति' सिद्धान्ताद्, नाज्ञानविरोधिकिन्त्वखण्डाकारवृत्तिरेव विरोधीति, तथा च भावरूपाज्ञानवादेपि विरोधस्तुल्यः, विषयत्वेनाश्रयत्वेनाज्ञानस्य व्यावर्तकतयाप्रत्यगर्थः प्रतिपन्नो नवा प्रतिपन्नश्चेत् तत्स्वरूपज्ञाननिवर्त्यमज्ञानंतस्मिन प्रतिपन्ने कथमिव तिष्ठति--अप्रतिपन्नश्चेत् व्यावर्तकाश्रयविषयशून्यमज्ञानंकथमनुभूयेत्, इति श्रीभाष्योक्तिरपि परास्ता--अखण्डाकारवृत्तेरेवाज्ञानविरोधित्वेन शुद्धचैतन्यविषयाज्ञानावस्थानादिति, तदप्यनादरणीयम्--ब्रह्मद्रोहेण केवलाज्ञानैकविलसितत्वादिति ।

(अत्र श्रीभाष्यानुयायिनः)

तथाहि, भावरूपाज्ञानसाधकतया, अहमज्ञः, इति प्रत्यक्ष प्रतीतिमुपन्यस्य प्रत्यक्षंहि न ज्ञानप्रागभावविषयकमभावस्यानुपलब्धिप्रमाणविषयत्वेन प्रत्यक्षाविषयत्वात्, इति यदुक्तं तदनुपलब्धिप्रमाणमनभ्युपगच्छतांपुरतोनतिष्ठतीति, प्रत्यक्षस्यैव विशेषणलक्षणादिसन्निकर्षवशादभाव ग्राहकत्वात्, अभ्युपगम्यते च नैयायिकैरपि प्रत्यक्षग्राह्यत्वमभावस्य, तथा च न ज्ञानप्रागभाव विषयकं प्रत्यक्षमिदंवचनंसाहसमात्रमेव ।

यदपि अभावस्य प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणत्वेन प्रतियोगितयाज्ञानग्रहणंविना न ज्ञानाभावप्रतीतिर्जायते, ज्ञानंहि

प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूणमिति विषयेणसहैव ज्ञानमुपलभ्यते, यद्विषयस्यज्ञानस्याभावः, चिकिर्षितस्तद्विषयक ज्ञानसत्वे कथं ज्ञानाभाव इत्युक्तं तदपि स्वपक्षानवलोकन निवन्धनत्वान्निरस्तम् ।

तथाहि, अद्वैत्यभिमतंभाव रूपमज्ञानं किंज्ञानविरोधित्वेन सिद्ध्यति, उताविरोधित्वेनघटादिवदिति प्रथमो विचारः आवश्यकः, न तावदाद्यः, ज्ञानविरोधित्वेनाज्ञान सिद्ध्यङ्गीकारे कथं न ज्ञान प्रतियोगिकाभावपक्षोक्तदोषः, नहि प्रतियोगिप्रकाशमन्तरेणविरोधितयापिहिभासमानं प्रकाशते, ज्ञानप्रतियोगिकविरोध्यज्ञानस्य प्रतियोगितया कुक्षिप्रविष्टज्ञाननिरूपणस्य विषयाधीन निरूपणत्वेन तद्विषय प्रकाशे सति न कथंचिदपि तद्विरुद्धाज्ञानग्रहणंभविष्यतीति, विषयप्रकाशनिवन्धनो विरोधः । एवमाश्रय ज्ञानेनापि विरोधः, नहि यत्किञ्चिदाश्रयप्रतीतिः मन्तरेणविरुद्धाज्ञानप्रतीतिः, यथोक्तमभियुक्तैः लब्धरूपे-क्वचित्किञ्चिद्तादृगेवं निषिध्यत इति, विषयत्वाश्रयत्वादिप्रयुक्तदोषस्य अद्वैत्युक्तज्ञानाभाव पक्षोक्तस्य भावरूपाज्ञानवादेपि तुल्यतया कथं भावरूपाज्ञानप्रतीतिः, न ज्ञानाभावस्येति—

एतेन, विनापिप्रमाणाधीन विषयाकारवृत्तिं साक्षिचैतन्येनाज्ञानं भातुंशक्यत एव, अखण्डाकारवृत्तेरेवाज्ञानविरोधित्वं न शुद्धस्येत्यादिनिरर्थक निष्प्रमाण प्रलापोपि निरस्तः—नहीदं वेद-

वाक्यं किन्तु शांकरादिभिःस्वसिद्धान्तप्रतिष्ठार्थंस्वकपोलकल्पित मेतत् ,

नह्यत्र शास्त्रीयंकिञ्चिदपिगमकमस्तियत् , न शुद्धं चैतन्यमज्ञानविरोधीति किन्तु स्वसम्प्रदायसिद्धार्थमेवप्रमाणी क्रियते-तत्तु निरस्यते, अस्मिन वसरे सर्वानुभवसिद्ध प्रमाणस्यैवादरः, यदाह्यज्ञानसिद्धिस्तदैवहि ब्रह्मणः साक्षित्वापादनादिकम्, अज्ञान स्वरूप विचारावसरे ब्रह्मणः साक्षित्वापादनादिकं तस्यविनापिप्रमाणाधीनवृत्त्यास्वतः विषयत्वापादनादिकं चाद्वैतिनां सन्तोषमात्रमेव। अस्तु तर्हिज्ञानाभावप्रतीतावपि तथैव दूषणापादनं न बुद्धिकृत्यमिति। अयम्भावः—

यथाह्यद्वैतमते स्वयंप्रकाशमेव ब्रह्म, अज्ञानेन विषयी क्रियते-तत्र विषय प्रकाशसत्वेपि तस्य अज्ञानावच्छेदकतयानाज्ञान विरोधित्वमेवंशुद्धस्यापिनाज्ञाननिराशकत्वं, तथैव ज्ञानाभावप्रतीतावपि, अभाव प्रतियोगि भूतज्ञानावच्छेदकतया तत्तद्विषयप्रकाशोपि न विरुद्ध इत्येवाद्वैतिभिः किं नेष्यते,

नहि अद्वैतिनांतथा राजाज्ञा यत् साक्षि विषय प्रकाशो न निवर्तकः किन्तु, अन्य विषय प्रकाश एवेति केवलं कपोलकल्पनामात्रमेव, प्रमाणेनाद्वैतसिद्धान्तनिरसनकालेऽद्वैतसिद्धान्त प्रदर्शनेन कथं स्वपक्षस्थापनमद्वैतिनां बुद्धिकृत्यमितिपरं विस्मयः प्रमाणतंत्राणाम्।

तद्विषय प्रकाश एव तद्विषयाभावंप्रतिविरोधीत्येव सिद्धान्तः नतु वृत्तित्वेनेत्यादि निष्प्रमाणिकस्येति,

तथा च ज्ञानाभावे न किञ्चिद्बाधकमिति, एतदेवाभिप्रेत्योक्तम् , 'श्रीभाष्यकारैः' भावरूपाज्ञानवादेपि विषयत्वाश्रयत्वादिप्रयुक्तविरोधः सुस्थिर एवेति तथा च न क्षोदक्षमं तदभाष्यम् , किञ्च प्रमाणज्ञानेन विरोधस्वीकारेपि न कथंचिदपि, अद्वैतिनां स्वार्थसिद्धिः, यतः ब्रह्मणः विषयतया, अज्ञानावच्छेदकत्वेपि, अज्ञानस्यब्रह्मावरणमेवस्वीकुर्वन्त्यद्वैतिनः, आवरणत्वं च,

तद्विषयकज्ञानप्रतिबन्धकत्व रूपमेव, अतः ब्रह्मविषयक प्रमाणज्ञानस्याप्यवश्यंम्भावेन कथं न भावरूपाज्ञानेपि विरोधस्तुल्यः, किञ्च वृत्तेर्विरोधित्वमुतवृत्त्यवच्छिन्नज्ञानस्य नाद्यः, तस्या जडत्वेनानिवर्तकत्वात्

द्वितीयेपि किं प्रतियोगिविषयप्रकाशत्वेन निवर्तकता आहोस्वित्, वृत्यवच्छिन्न ज्ञानत्वेन न प्रथमः, प्रतियोगिविषयप्रकाशमात्रेण तद्विरोधित्वेत्वज्ञानसाक्षिप्रकाशस्यापि प्रतियोगिप्रकाशत्वावश्यम्भावेनविरोधाविशेषात्—

न द्वितीयः, अज्ञानावच्छेदकप्रतियोग्यादिप्रकाशरूपसाक्षिणोपिवृत्यवच्छेदावश्यकत्वेन विरोधस्य निर्बाधत्वात् । तथा च न केनापि प्रकारेणभावरूपाज्ञान सिद्धिरिति ॥

अज्ञानस्य घटादिवत् स्वरूपेण सिद्ध्यभावात् द्वितीयोपि पक्षः निरस्त एव ।

(रक्षामणिः—१६६—पृ०)

एतेन मुग्ध मूढ़ादिवत मायातम आदि पदवोध्याज्ञानस्यस्वरूपेण सिद्धिरिति प्रलापोपि निरस्तः।

(अत्र विशिष्टाद्वैतिनः)

नहि मुग्धमूढ़ादिपदानांस्वरूपतः घटादिवत्, सिद्धिः, किन्तुज्ञानविरोधमन्तर्भाव्यैवव्युत्पत्तिः—यथा प्रलयप्रध्वंसावसानादि पदानां नञर्थ गर्भमन्तर्भाव्यैवव्युत्पन्नानांव्युत्पत्तयः, तद्वत् मुग्धमूढादिपदानामपि। तथाच न केनापि प्रकारेण भावरूपाज्ञानसिद्धिरिति, मायातमादि शब्दानामपि व्युत्पत्ति नैरपेक्ष्येणवोधकत्वासंभवात्, अज्ञानादिपदपर्य्यायत्वेन च व्युत्पन्नत्वात्, न स्वरूपेणसिद्धिरिति तस्मात्, भावरूपाज्ञानपक्षेपि विषयाश्रयापेक्षया न कदाचिदपि भावरूपाज्ञानोदयः॥

यद्यपितमः स्वरूपप्रतिपत्तौ न प्रकाशापेक्षा परन्तु प्रकाशविरोधीत्यनेनाकारेणस्वरूप प्रतिपत्तौ प्रकाशापेक्षा सर्वानुभवसिद्धा तद्वदत्रापीति, अज्ञानपदस्य ज्ञानविरोधीत्यनेनाकारेण व्युत्पत्तिः, सकललोकसिद्धा, नैयायिकादिभिरपि तथैवाभ्युपगम्यते सकललोक प्रमाण विरुद्धकल्पना एवात्राद्वैतिनामिति, तथा च युक्तमुक्तं श्रीभाष्यकारैः न कथंचिदपिभावरूपाज्ञान सिद्धिरिति॥

किञ्च प्रमाणज्ञानाभावस्तु, अद्वैतिभिरप्यभ्युपगम्यते, अन्यथा, अज्ञाननिवर्तकप्रमाणज्ञानसत्वे, अज्ञानानुभवासम्भवेन

संसारोच्छेद प्रसंगः ब्रह्मणोजीवभावाभावश्च, तस्मात्स्वप्रसिद्ध-ज्ञानाभावेन सर्वलोकसिद्धज्ञानाभावविवक्षायां ज्ञानं नास्तीत्यादि व्यवहार दर्शने च, अहमज्ञ इत्यत्रापि ज्ञानाभावेनैव निर्वाहे, अतिरिक्त भावरूपाज्ञान कल्पने कारणाभावात् , गौरवात् दोषाच्चेति वदन्ति ॥

(रक्षामणिः—१९९—पृ०)

एतेन प्रतियोगि पूर्वकालावच्छिन्नोऽभावः प्रागभावः प्रतियोग्युत्तर कालावच्छिन्नोऽभावः प्रध्वंसाभावः कालत्रयावच्छिन्नोऽभावः अत्यन्ताभावः तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्नोऽन्योन्याभाव इत्येकस्यैवाभावस्यावच्छेदक भेदेनैवभेदेनस्वरूपतोभेदाभावेन प्रागभावानङ्गीकारादित्युक्तिरपिध्वस्ता ।

सत्यमेक एवाभावोवच्छेदकभेदेन चतुर्धाभिद्यते परन्तु सभेदः सत्यएव, तथैवाभ्युपगम्यते नैयायिकादिभिस्सर्वैरपिदार्शनिकैः ।

नहिघटाभावः प्रागभावपदेन व्यवह्रीयते प्रामाणिकैरपितु घटोभविष्यतीत्येव प्रागभावविषयः, नापिप्रध्वंसेऽत्यन्ताभावव्यवहारः, तस्मात्सर्व एवाभावाः प्रामाणिकाः, अतोऽहमज्ञः, मामन्यं च न जानामीतिप्रतीतिः न भावरूपाज्ञानेप्रमाणमिति ।

(वे० रक्षामणिः—२००—पृ०)

'एतावन्तं कालं न किञ्चिदहमज्ञासिषम्' इति प्रवुद्धस्य स्मरणान्यथाऽनुपपत्त्या भावरूपमेवाज्ञानमङ्गीकर्तव्यम् । इदं हि न स्मरणं ज्ञाना-

(रक्षामणिः—१६६—पं०)

एतेन मुग्ध मूढ़ादिवत मायातम आदि पदबोध्याज्ञानस्यस्वरूपेण सिद्धिरिति प्रलापोपि निरस्तः।

(अत्र विशिष्टाद्वैतिनः)

नहि मुग्धमूढ़ादिपदानांस्वरूपतः घटादिवत् , सिद्धिः, किन्तुज्ञानविरोधमन्तर्भाव्यैवव्युत्पत्तिः—यथा प्रलयप्रध्वंसावसानादि पदानां नञर्थ गर्भमन्तर्भाव्यैवव्युत्पन्नानांव्युत्पत्तयः, तद्वत् मुग्धमूढादिपदानामपि। तथाच न केनापि प्रकारेण भावरूपाज्ञानसिद्धिरिति, मायातमादि शब्दानामपि व्युत्पत्ति नैरपेक्ष्येणबोधकत्वासंभवात् , अज्ञानादिपदपर्य्यायत्वेन च व्युत्पन्नत्वात् , न स्वरूपेणसिद्धिरिति तस्मात् , भावरूपाज्ञानपक्षेपि विषयाश्रयापेक्षया न कदाचिदपि भावरूपाज्ञानोदयः॥

यद्यपितमः स्वरूपप्रतिपत्तौ न प्रकाशापेक्षा परन्तु प्रकाशविरोधीत्यनेनाकारेणस्वरूप प्रतिपत्तौ प्रकाशापेक्षा सर्वानुभवसिद्धा तद्वदत्रापीति, अज्ञानपदस्य ज्ञानविरोधीत्यनेनाकारेण व्युत्पत्तिः, सकललोकसिद्धा, नैयायिकादिभिरपि तथैवाभ्युपगम्यते सकललोक प्रमाण विरुद्धकल्पना एवात्राद्वैतिनामिति, तथा च युक्तमुक्तं श्रीभाष्यकारैः न कथंचिदपिभावरूपाज्ञान सिद्धिरिति॥

किञ्च प्रमाणज्ञानाभावस्तु, अद्वैतिभिरप्यभ्युपगम्यते, अन्यथा, अज्ञाननिवर्तकप्रमाणज्ञानसत्वे, अज्ञानानुभवासम्भवेन

संसारोच्छेद प्रसंगः ब्रह्मणोजीवभावाभावश्च, तस्मात्स्वप्रसिद्ध-ज्ञानाभावेन सर्वलोकसिद्धज्ञानाभावविवक्षायां ज्ञानं नास्तीत्यादि व्यवहार दर्शने च, अहमज्ञ इत्यत्रापि ज्ञानाभावेनैव निर्वाहे, अतिरिक्त भावरूपाज्ञान कल्पने कारणाभावात् , गौरवात् दोषाच्चेति वदन्ति ॥

(रक्षामणिः—१९९—पृ०)

एतेन प्रतियोगि पूर्वकालावच्छिन्नोऽभावः प्रागभावः प्रतियोग्युत्तर कालावच्छिन्नोऽभावः प्रध्वंसाभावः कालत्रयावच्छिन्नोऽभावः अत्यन्ताभावः तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्नोऽन्योन्याभाव इत्येकस्यैवाभावस्यावच्छेदक भेदेनैवभेदेनस्वरूपतोभेदाभावेन प्रागभावानङ्गीकारादित्युक्तिरपिध्वस्ता ।

सत्यमेक एवाभावोवच्छेदकभेदेन चतुर्धाभिद्यते परन्तु सभेदः सत्यएव, तथैवाभ्युपगम्यते नैयायिकादिभिस्सर्वैरपिदार्शनिकैः ।

नहिघटाभावः प्रागभावपदेन व्यवह्रीयते प्रामाणिकैरपितु घटोभविष्यतीत्येव प्रागभावविषयः, नापिप्रध्वंसेऽत्यन्ताभावव्यवहारः, तस्मात्सर्व एवाभावाः प्रामाणिकाः, अतोऽहमज्ञः, मामन्यं च न जानामीतिप्रतीतिः न भावरूपाज्ञानेप्रमाणमिति ।

(वे० रक्षामणिः—२००—पृ०)

'एतावन्तं कालं न किञ्चिदहमज्ञासिषम्' इति प्रबुद्धस्य स्मरणान्यथाऽनुपपत्त्या भावरूपमेवाज्ञानमङ्गीकर्तव्यम् । इदं हि न स्मरणं ज्ञाना-

भाव विषयकं संभवति, सुषुप्तौज्ञानाभावज्ञाने प्रमाणाभावात्, ज्ञानाभावानुभवेहि सुषुप्तौप्रतियोगिज्ञानस्मरणमप्यङ्गी कर्तव्यम्, ज्ञानाभाव ज्ञानं च, सति चैवं सुषुप्तिव्याघातः। अद्वैतमतेतु अज्ञानस्यतत्परिणाम वृत्त्याभानात् स्मरणोपपत्तिः। एतेन, सुषुप्तौ निर्विकल्पकेन सविकल्पकेन वा मनोव्यापारेण भावरूपाज्ञानानुभवः, प्रथमे स्वाभिमतनिर्विकल्पकस्य साक्षिचैतन्यावभासरूपस्य संस्काराधायकत्वानभ्युपगमात्, द्वितीये सुषुप्ति विरोधेन मनोव्यापारासंभव इति श्रुतप्रकाशिकापि दत्तोत्तरा आविद्यकवृत्त्युपहितत्वेन साक्षिचैतन्यस्यापि नाशाभ्युपगमेन प्रथमपक्षस्यादुष्टत्वात्, अनुभूतानां स्मरण नियमाभावेनास्मरणेनानुमित्यसंभवाच्चेत्यनन्तकृष्णः॥

(अत्र विशिष्टाद्वैतिनः)

तदप्यनास्वादितशास्त्रगन्ध निवन्धनमिति—तथाहि भावरूपाज्ञानमपि ज्ञानविरोधित्वेनैव सिद्ध्यति नतु प्रतियोग्याश्रयादिज्ञानशून्य घटादिवत्स्वरूपेणैवेति विवेचितं पूर्वमेवेति, अतोभावरूपाज्ञानपक्षेपिप्रतियोगिभूतज्ञानस्य सविषयावश्यम्भावेन सुषुप्तिव्याघातप्रसंगस्तदवस्थ एव, श्रुतप्रकाशिकाचार्य्यैस्तु महता प्रवन्धेन विचारितोऽयमर्थः, अतः सुषुप्तौ न भावरूपमज्ञानमनुभूयते,

यच्चोक्तम्--सुप्तोत्थितपरामर्शसिद्धसौषुप्तिकप्रत्यक्षविषयोभाव रूपाज्ञानमिति—तदसारम्—स्वरूपेणैवाज्ञानानुभवे न किञ्चिदहमवेदिषमितिपरामर्शानुपपत्तिः। साक्षिणाविषयव्यावृत्तस्यैवाज्ञानस्य सुषुप्तावनुभवे विषयव्यावृत्तमेव सुप्तोत्थितेन परामृश्येत।

ननुस्मर्यत एव न किञ्चिदहमवेदिषमितीतिचेन्न, घटत्वादिविशेष-रूपेण प्रतीतेरापादनात् . नच तत्रापादकाभावः, विशेषाकारा-णामपि साक्षिणाभानात् । अस्त्येवघटंनाज्ञासिपमितिपरामर्शोऽ-पितिचेत् , इतः पूर्वंकदाप्यननुभूतस्यापि प्रातिस्विकरूपेण परामर्शप्रसंगात्, अन्यथा एतावन्तं कालं न किञ्चिदवेदिषमिति कालस्यापि प्रातिस्विकरूपेण परामर्शाभावापत्तेः, इत्यादिभिः सद्विद्याविजयेमहाचार्य्यैरेव सौपुप्तिक भावरूपाज्ञानं निरस्तम्-विस्तरस्तु तत एव द्रष्टव्यः ।

अद्वैत मतेतु—अज्ञानस्य तत्परिणाम वृत्त्याभानात् , इत्या-दिना स्वपक्ष समर्थनमपि निर्मूलम् । वृत्तिज्ञानस्यापि सविशेष विपयकत्वेन सुपुप्तिव्याघातस्य तादवस्थ्यात् । तस्मान्नस्मरणरूपं, किन्तु न किञ्चिदित्यादिकमनुमितिरूपमेव. अतो न भावरूपा ज्ञाने प्रमाणमिदं वाक्यमिति । श्रुतप्रकाशिकार्थस्तु न ज्ञातो भवता केवलमर्थमवुध्वैवोत्तरितः, साक्षिचैतन्यस्य नाशकथनमपि भवतां कथामात्र रूपत्वात् , क्षणे क्षणे साक्षिचैतन्यस्य नाशोत्पत्ति-वादश्चाद्वैतिनामेव शोभते न वैदिकानामिति—श्रुतप्रकाशिकार्थस्त्व-नुसन्धीयते—

निर्विकल्पकेनेत्यस्य नित्यज्ञानेनेत्यर्थः सविकल्पकेनेत्यस्य अनित्यज्ञानेनेत्येवार्थः. नहिनित्यज्ञानस्य नाशोऽभिष्टाद्वैतिना-मिति, तस्य ब्रह्मस्वरूपत्वात् , संस्कारतिरोधायकाभावे सति अनुभूतस्य स्मरणनियमाच्च तस्मान्न किञ्चिदवेदिपमित्यस्यानु-मितिरूपमेवेति विचक्षणाः ।

(यथोक्तमभियुक्तैः)

तदन्यधीरतात्पर्य्यं पटुत्वविरहोधियः । दुःखादितिव्रमुन्मादोऽनभ्यासो दीर्घकालता-एतैश्चादृष्टवैगुण्यं कल्प्यं संस्काररोधिषु । एतेष्वसत्स्वस्मरणात् ज्ञानाभावोऽनुमीयते ।

तस्मात्सर्वतो व्यापक विचारेण ज्ञानाभावरूपं यदज्ञानं श्रीभगवद्रामानुजाचार्य्यपादाभिमतं तदेवयुक्तं नतु भाव रूपं यदज्ञानं शांकराभिमतमिति, तस्मान्नप्रत्यक्षेणभावरूपाज्ञानसिद्धिरिति ।

अथ भावरूपाज्ञानपक्षेऽनुमाननिराशः ।

यदपि, भावरूपाज्ञानस्य प्रत्यक्षेणासिद्धिंमत्वा विवादाध्यासितंप्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावातिरिक्त स्वविषयावरणस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तर पूर्वकम् ।

अप्रकाशितार्थ प्रकाशकत्वात् , अन्धकारे प्रथमोत्पन्न प्रदीप प्रभावत् , इत्यनुमानेनाज्ञानसिद्धिं निगमयन्त्यद्वैतिनः, तदपि विचारासहत्वेनोपेक्षणीयं विद्वद्वरिष्ठैः,

तथाहि साक्षिरूपायां सुखादिप्रमायामप्रकाशितार्थ प्रकाशकत्व रूपहेतोः सत्वेन तत्र स्वप्रागभावातिरिक्तस्वविषयावरणेत्यादि साध्याभावेन व्यभिचारः । यदि वृत्तेः पक्षत्व स्वीकारस्तर्हि तस्याः जडत्वेनानिवर्तकत्वात् बाधः,

चैतन्यस्य च पक्षत्वे तस्य प्रागभावाद्यसिद्ध्याबाधः वृत्यव-

च्छिन्न चैतन्यस्य पक्षत्वे वृत्तेरुपलक्षणत्वेतु पूर्वोक्त एव बाधदोषः विशेषणत्वेपि बाधः वृत्तेः निवर्तकत्वे चैतन्यस्य निवर्तकत्वाभावापत्तिश्चेति ।

एवं साध्ये प्रागभावव्यतिरिक्तपदं निष्फलं प्रागभावस्य स्वनिवर्त्यत्वासम्भवात् , वस्तु शब्देनैव व्यावृत्ति सम्भवाच्च-तद्विषयज्ञान प्रतिबन्धकत्व रूपावरण पदेनैव स्वोत्पादकादृष्टव्यावृत्तेः स्वविषयेति पदमपिवैयर्थ्यमेव—हेतुनिरासस्तुभाष्ये. एव विस्तृतः नेहतन्यते ॥

तस्मादनुमानस्य शतदोषोपहितत्वे कथं तेनाज्ञान सिद्धिरिति ।

अत्र श्रीभाष्यकाराः—

अप्रकाशितार्थ प्रकाशकत्वरूपलिङ्गजन्यायाः स्वप्रागभावस्वविषयावरण स्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तर पूर्वकमिति साध्यविषयकानुमितेरप्यप्रकाशितार्थ प्रकाशकत्वं स्वीकर्तव्यमितरथा, प्रकाशित प्रकाशकत्वमप्रकाशकत्वं वा स्यात् ततश्चतस्यामनुमितौ स्वहेतुसत्त्वादनुमिति विषयीभूताज्ञानावारकाज्ञानानभ्युपगमेन स्वविषयेत्यादि साध्याभावेन हेतोरनैकान्त्यं प्रकाशित प्रकाशकत्वे निष्फलानुमानम् , अप्रकाशकत्वेऽप्रमाणमेवेत्याद्यर्थकं अज्ञानेप्यनभिमताज्ञानान्तर साधने विरुद्धत्वाद्धेतोः तत्राज्ञानान्तरासाधने हेतो रनैकान्त्यमिति निर्दिशन्ति ॥

(रक्षामणिः—२०३--पृ०)

नानेनानुमानेन भावरूपाज्ञानं साध्यते किन्तु साक्षिसिद्धस्याज्ञानस्याभाव विलक्षणत्वमात्रमेव, इति न प्रकृतानुमानस्याज्ञानसाधकत्वं तथा च न व्यभिचारः एतेन अहमर्थधर्मभूतप्रकाशोत्तीर्णेन स्वरूप चैतन्येनाज्ञानसिद्धावनुमानप्रामाण्यं तत्प्रामाण्येन भावरूपाज्ञानसिद्धिः, तत्सिद्धौज्ञातुरपि कल्पितत्वात्तदुत्तीर्णसाक्षिचैतन्येनाज्ञानानुभवसिद्धिरिति श्रुतप्रकाशिकोक्तचक्रकापत्तिरपि निरस्ता, अज्ञानस्वरूपस्यानानुमानिकत्वेन ; भावरूपाज्ञानसिद्धौसाक्षिचैतन्येनाज्ञानसिद्धिरित्यंशस्याभावात्, साक्षिसिद्धंह्यज्ञानंभावाभावविलक्षणमित्यद्वैतिनां सिद्धान्तः इति, तत्तुशून्य हृदयत्वमेवावेदयति ॥

(अत्र श्रीभाष्यानुयायिनः)

अत्रेदमेव पूर्वविचारणीयं यदनेनानुमानेन भावाभाव विलक्षणाऽविद्याकथंचित्सिद्ध्यतिनवा—

अन्धकारे प्रथमोत्पन्न प्रदीपप्रभादृष्टान्तोहि न भावाभाव विलक्षणस्तृतीयप्रकारः किन्तु भावरूपएवेतिसर्वसाक्षिकम् ॥

साध्यदल निर्दिष्ट वस्त्वन्तरपूर्वकमित्यत्रापि वस्तुपदेन न भावाभाव विलक्षणस्य ग्रहणं किन्तु भावस्यैव, परोक्त दिशा अभावस्यापिवा, भावाभावविलक्षणं तु वस्तुपदेन सर्वथाऽसंगतमेव, भावरूप तमः पूर्वकत्वात् , दृष्टान्तस्य साध्यविकलता प्रसंगोऽपि, तमसः नैयायिकमतेतेजोभावपदार्थत्वेपि वेदान्तिमतेऽतिरिक्तभावरूपत्वमेवेति,

तथा च कथंभावाभावविलक्षणाऽविद्यानुमानेन सिद्धयतीतित्युच्यते केवलं व्यामोहन मात्रमेव, व्यक्तंचैतदद्वैतसिद्धाविति लेख मात्रेण कथं प्रामाणिकानां विश्वासः अद्वैतसिद्धिकार मतमेव निरस्यन्ति विशिष्टाद्वैतिनः तत्र सिद्धिकार वचनं प्रामाण्यमप्रामाण्यं वेति विचारयन्तु भवन्तः। भवद्भिरपि--२००--पृष्टे-एतावन्तं कालं न किञ्चिदहमज्ञासिषम्, इति प्रवुद्धस्यस्मरणान्यथानुपपत्त्या भावरूपाज्ञानमेवाङ्गीकर्तव्यम्। तथा-१९६-पृष्टे-अहमज्ञो मामन्यं च न जानामीति प्रत्यक्षम्, भावरूपाज्ञाने प्रमाणम्, इत्यादिभिस्सर्वत्र भावरूपाज्ञानमेवोच्यते—अतोव्याहतभाषणेन कथं न विचारोनिरर्थकोयुष्माकमिति यदि साक्षिसिद्धमेवाज्ञानं तर्ह्यनुमितिः व्यर्थैव-असिद्धत्वेतु श्रीभाष्योक्तदोषाणां श्रुतप्रकाशिकोक्तचक्रकादीनां च प्रसंगोऽनिवार्य एव--यादृशाकारविशिष्टवेषेणासिद्धस्याज्ञानस्य सिद्धिः सम्पाद्यते--तादृशाकारविशिष्टवेषमादायाऽनुमितिपक्षोक्त दोषस्तिष्ठत्येवेति।

वस्तुतः साक्षिसिद्धमज्ञानं केवलमद्वैतिनां कल्पनामात्रमेव नतु किञ्चित्प्रमाणं किन्तु गृहकल्पितमेवेति—

अज्ञान सिद्ध्युत्तरमेवाद्वैतिनां सर्वमपि गृहकल्पितं शोभनम्, प्रत्यक्ष प्रतीतिस्तु न भावरूपाज्ञान विषया-इति पूर्वमेव विवेचितम्। अनुमानेन सिद्धिकाले, श्रीभाष्योक्तानुमान दूषणमद्वैतिनां तिष्ठत्येवेति।

चक्रकोद्धारमपि श्रुतप्रकाशिकाऽश्रवणदौर्भाग्य निबन्धनं भवतः, यतः, इयमत्र श्रुतप्रकाशिका नह्यप्रकाशितमज्ञानमनेन प्रकाश्यते, किं तर्हि, साक्षिचैतन्यसिद्धस्यैवाज्ञानस्याभावाद्विवेचन मात्रं क्रियते, नैवम्, अहमर्थधर्मभूतप्रकाशोत्तीर्णेन स्वरूपचैतन्येनाज्ञानसिद्धावनुमानप्रामाण्यं तत्प्रामाण्येना भावविलक्षणाज्ञान सिद्धिः तत्सिद्धौज्ञातुरपितत्कल्पितत्वात् तदुत्तीर्णसाक्षिचैतन्येनाऽज्ञानानुभवसिद्धिः, इति चक्रकापत्तेर्दुस्तरत्वादिति। तत्र चक्रकोद्धाराय भावरूपाज्ञानसिद्धौ साक्षिचैतन्येनाज्ञानसिद्धिरित्यंशस्याभावादिति न चक्रकप्रसंग इतिभवतोच्यते: अहो बुद्धिकृत्यमेतत्समाधानम्, अत्रस्पष्टमेव वदन्ति श्रुतप्रकाशिकाचार्य्याः, अभावविलक्षणाज्ञानस्य साक्षिसिद्धत्वेऽनुमितिः, निष्फला असिद्धत्वे च चक्रकप्रसंगः-तत्रतदुत्तीर्ण साक्षिचैतन्येनाज्ञानुभवसिद्धिरित्यत्राज्ञानपदेन अभावविलक्षणाज्ञानानुभव सिद्धिरिति तत्त्वज्ञाः नह्यभाव विविक्तानं साक्षि चैतन्य सिद्धमिति—

सिद्धत्वेऽनुमितिः निष्फला, असिद्धत्वे च चक्रकप्रसंगश्चेति चक्रकोद्धारायधूलीप्रक्षेपणमात्रमेव भवताम्. तादृशग्रन्थानुवादोऽपि, असंगत एव कृतो भवता—

भवतु यथा तथा-परन्तु चक्रकस्त्वद्वैतिनां सिरसि तिष्ठत्येवेति। भावरूपाज्ञानसिद्धिमत्वैव चक्रक प्रसंगोदीयते तत्र कोवा नूतनोपायः प्रदर्शितो भवता येन न चक्रकप्रसंगोभवेत्—तथा च युक्तमुक्तं श्रुतप्रकाशिकाचार्य्यैः चक्रकोऽद्वैतिनांदुस्तर इति।

एतेन जडविषयकज्ञाने भाव प्रकाशिकोक्तव्यभिचारस्य ब्रह्मविषयकस्य केवल जडज्ञानस्यास्वीकारेण दोषवारणमपि निरस्तम् ।

नहि सर्वमेवज्ञानं ब्रह्मविषयकमित्यत्र किञ्चिदपि प्रमाणमस्तीति, घटज्ञानं घटावच्छिन्नचैतन्य विषयकमितित्वद्वैतिनां कपोलकल्पना-न सन्दृशेतिष्ठतिरूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनमितिश्रुति-विरुद्धापि—घटोनष्ट इति प्रतीतौ चैतन्यस्यनाशापत्तेश्च ।

किञ्च सन् घट इत्यत्र यदि सद्रूप ब्रह्मस्फुरणमङ्गीकुरुषे तर्हि दण्डी देवदत्त इति विशिष्टविषयकेणज्ञानेन देवदत्ताज्ञान निवृत्तिवत्, अविद्यानिवृत्ति प्रसंगेन जगदुच्छेदापत्तेश्च। नच तन्मात्र विषयकज्ञानमेवाविद्यानिवर्तकम्, दण्डी देवदत्त इत्यत्रैव विशिष्टविषयकज्ञानस्य विशेष्यभूत देवदत्ताज्ञान निवर्तकत्वानापत्तेः ।

नच तमेव विदित्वातिमृत्युमेति श्रुत्याब्रह्मणि तथा संकोच इति वाच्यम्, अन्नमेव भुक्त्वातृप्ति विशेषमाप्नोति अन्नेतर भोजनत्वानवच्छिन्न, अन्नभोजनत्वावच्छिन्न जनकताक तृप्तिमान् इत्याद्यर्थवत्,

ब्रह्मेतर ज्ञानत्वानवच्छिन्न ब्रह्मज्ञानत्वावच्छिन्न जनकताक मुक्तिमानित्यर्थेनाविरोधात् ।

तस्मात्, जडविषयकज्ञानेभाव प्रकाशिका पादितः व्यभिचारस्तदवस्थ एवेति ॥

(रक्षामणिः - २०४ - पृ० -)

यदपि अप्रकाशितार्थप्रकाशत्वरूपहेतु विचारे श्रीभाष्योक्तदोष निराकरणाय प्रकाशकत्वं नाम-आवरण निरसन पूर्वकार्थप्रकाशोपयोगित्वमिति, दीपप्रभायां तत्सत्वेन न साधन वैकल्यं नवा चक्षुरादिषु व्यभिचारः, आवरणनिरसनेऽसामर्थ्येनोक्तरूप प्रकाशोपयोगित्वाभावादिति समाहितम् ॥

तदपि भाष्यादेव निरस्तम् ।

तथाहि, आवरण निरसन पूर्वकार्थ प्रकाशोपयोगित्वमिति प्रकाशकत्व लक्षण घटकार्थ प्रकाशोपयोगित्वमितिकिमभिप्रेतं किं व्यवहारयोग्यतापादनंमुत, अथ व्यवहारे साहाय्यमात्रं वा, अथवा लक्षणस्य विषयावरण निराशकत्वे तात्पर्यमिति ।

नाद्यः, अर्थ परिच्छेदरूप व्यवहारयोग्यतापादकत्वस्य ज्ञानैकसाध्यत्वेन पक्षे लक्षणसमन्वयेपि दीपप्रभादृष्टान्तस्य साधन विकलत्वात् , नहि ज्ञानेन विना प्रभाशतसमवधानेपिव्यवहारयोग्यत्वसम्पादनं क्वचिद्दृष्टंकैरप्यभ्युपगतं वेति ।

न द्वितीयः तथासतिपक्षेहेत्वसिद्धेः, नहिज्ञानस्य, अर्थप्रकाशे साहाय्यं किन्त्वर्थप्रकाशकत्वमेवेति, न तृतीयः हेतुसाध्ययोरैक्यप्रसक्तेः,

यादृशं प्रकाशकत्वं दृष्टान्ते न तादृशं पक्षे यादृशं पक्षे न तादृशं दृष्टान्ते तस्मात्पक्ष सपक्षानुरूप प्रकाशकत्वाभावेनानुमानं वैयर्थ्यमेवेति यथाचानुमानमेव वैयर्थ्यं तथा पूर्वमेवोपपादितम् ।

तादृशानुमानैप्रतिप्रयोगानप्युदाहरन्ति श्रीपूज्यपादाः श्रीभाष्यकाराः विवादाध्यासितमज्ञानं, न ज्ञानमात्रब्रह्माश्रयम्, अज्ञानत्वात् शुक्तिकाद्यज्ञानवत्. ज्ञात्राश्रयं हितत्—

विवादाध्यासितमज्ञानं. न ज्ञानमात्र ब्रह्मांश्रयम्,. अज्ञानत्वात् शुक्तिकाद्यज्ञानवत्, विषयावरणंहि तत्।

विवादाध्यासितमज्ञानं, न ज्ञाननिवर्त्यं, ज्ञानविषयानावरणत्वात् यत्, ज्ञाननिवर्त्यमज्ञानम्. तज्ज्ञानविषयावरणम्, यथा शुक्तिकाद्यज्ञानम्। ब्रह्म, नाज्ञानास्पदं, ज्ञातृत्व विरहात्, घटादिवत्। ब्रह्म, नाज्ञानावरणं, ज्ञानाविषयत्वात्, यदज्ञानावरणं, तज्ज्ञानविषयभूतं दृष्टम्, यथाशुक्तिकादिः ब्रह्म, न ज्ञाननिवर्त्याज्ञानम्, ज्ञानाविषयत्वात्, यत्, ज्ञाननिवर्त्याज्ञानम्, तज्ज्ञान विषयभूतम्, यथा शुक्तिकादिः। विवादाध्यासितंप्रमाणंज्ञानंस्वप्रागभावव्यतिरिक्ताज्ञान पूर्वकं न भवति प्रमाणज्ञानत्वात्, भवदभिमताज्ञानसाधन प्रमाणज्ञानवत्। ज्ञानं न वस्तुनो विनाशकम्—शक्तिविशेषोपबृंहणविरहेसति ज्ञानत्वात् यद्वस्तुनोविनाशकम्, तच्छक्तिविशेषोपबृंहितंज्ञानमज्ञानं च दृष्टम्, यथेश्वर योगिप्रभृतिज्ञानम्, यथा च मुद्गरादिः। भावरूपाज्ञानम्, न ज्ञाननाश्यम्, भावरूपत्वात्, घटादिवत्॥

(रक्षामणिः—२०४-२०५—पृ०)

एतेन पूर्वोपक्षिप्ताः प्रतिप्रयोगा अपि व्याख्याताः। तत्र प्रथमेऽनुमाने दृष्टान्तासिद्धिः, एकसत्तावादे शुक्तिकाद्यज्ञानस्यापि

ब्रह्माश्रयत्वेन पक्षसमत्वात्। सत्तात्रैविध्यवादेतु शुक्त्यज्ञानं मूला-ज्ञानाद् विलक्षण मेवपुरुषाश्रितम्, इतिपक्षत्वाज्ञानत्वमुपाधिः, इतिपक्ष-वाज्ञानत्वेन प्रथमानुमानं सोपाधिकम्।

एतेन द्वितियानुमान प्रयोगोऽपिव्याख्यातः। नहि सत्तात्रैविध्य-मते शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्याश्रितमज्ञानं मूलाज्ञानंनाम। यत्तु विषया-वरणं हि तत् इति शुक्त्यज्ञानस्य विषयावरणत्वं वणितम् तदिद मद्वैत-मते शुक्त्यज्ञानस्यापि चैतन्यवारकत्वस्यैव स्वीकारात्, शुक्तिरूप-विषयावरकत्वस्यानङ्गीकाराददूषणम्। एवं तृतीयानुमानमपि-परास्तम् शुक्त्यज्ञानस्यापि ज्ञानविषयानावरणत्वेन व्यतिरेके शुक्त्य-ज्ञानस्यादृष्टान्तत्वात्, ज्ञानपदेन चैतन्यग्रहणे चैतन्यानिवर्त्य-त्वस्याद्वैतिभिरपि स्वीकारेण सिद्धसाधनम्, वृत्तिरूपज्ञान विवक्षायां विवादाध्यासितस्याज्ञानस्यापि वृत्तिविषयब्रह्मचैतन्यावरणत्वस्यव स्वी-कारेण हेत्वसिद्धिः।

शुक्त्यज्ञानस्य वृत्तिविषय शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्यावरणस्यैवेयं शुक्ति-रिति ज्ञाननिवर्त्यत्वेन, विवादाध्यासितमज्ञानम्, ज्ञाननिवर्त्यम्, ज्ञान-विषयावरणत्वात्, शुक्त्यज्ञानवत्, इतिसत्प्रतिपक्षोऽपि।

एतेन ब्रह्म, नाज्ञानास्पदम्, ज्ञातृत्वविरहात्, घटादिवत्, इत्यपि व्याख्यातम्, हेतुरस्तु साध्यं मास्तु, इत्यप्रयोजक शंकाकलङ्कात्। "आश्रयत्व विषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेवकेवला। पूर्वसिद्धत-मसोहि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः" इतिवचनात् घटादी-नामज्ञानानास्पदत्वमज्ञान प्रयुक्ततानिबन्धनमेव, नाज्ञातृत्वनिबन्धनम् अतोज्ञातृत्वेऽपिब्रह्मणोऽज्ञानास्पदत्वं न विरुद्धम्।

ब्रह्म, नाज्ञानावरणम्, नवा ज्ञाननिवर्त्याज्ञानम्, ज्ञानाविषयत्वादिति पञ्चमषष्ठानुमानयोस्तु, पूर्वोक्तप्रकारेण ज्ञानपदेन चैतन्यस्यग्रहणे केवलमप्रयोजकत्वम्, किन्तु शुक्तिकादीनां चैतन्य तादात्म्येन चैतन्य-विषयत्वात् दृष्टान्ते साधन वैकल्यमपि। ज्ञानपदेन वृत्तिविवक्षायां

न केवलं हेत्वसिद्धिः, ब्रह्मणोऽपिवृत्तिविषयत्वात्, किन्तु शुक्तिकादीनामपि नाज्ञानेनावरणं ज्ञानविषयाणामपि स्वीक्रियते, जडत्वात्, इति व्यतिरेके दृष्टान्तोऽपि दुर्लभः, इति दृष्टान्तासिद्धिरपि। सप्तमानुमानं तु पूर्वोक्त प्रकारेणाज्ञानानुमानस्याप्यज्ञानसाधकत्वस्योरीकरणाद् दृष्टान्तासिद्धिग्रस्तम्। एतेनाष्टमानुमानमपिव्याख्यातम्, शुक्तिरूप्यादौ व्यभिचारादिति।

(अत्र श्रीभाष्यानुयायिनः)

तथाहि, अद्वैताभिमताऽज्ञानस्य-विवादाध्यासितं प्रमाणज्ञानं, स्वप्रागभावातिरिक्तस्वविषयावरणस्वनिवर्त्य स्वदेशगत वस्त्वन्तरपूर्वकम्, अप्रकाशितार्थ प्रकाशकत्वात्. अन्धकारेप्रथमोत्पन्नप्रदीप प्रभावत्, इत्यनुमानेनसिद्धिकाले स्वविषयावरणत्वस्वदेशगतत्वस्वनिवर्त्यत्वानां प्रतिप्रयोगाउक्ताः श्रीपूज्यपादैः श्रीभाष्यकारैः। तत्र मूलाज्ञानसिद्धावेवैकसत्तावादः सत्तात्रयवादश्चेति शोभते।

यावदनुमानेन ब्रह्माच्छादकं भावरूपमज्ञानं न सिद्धयति तावद् ब्रह्मणोजीवभावः प्रपञ्चस्यमिथ्यात्वं अज्ञानस्य चैतन्यावारकत्वादिकमद्वैतिनां गृहकथामात्रमेव, नतु प्रामाणिकानां समक्षेकथंचिदप्युत्थानमपि। विशिष्टाद्वैतद्वैतनैयायिकमीमांसकादयस्सर्वेपिदार्शनिकाः जीवस्यज्ञातृत्वमज्ञानाश्रयत्वञ्चस्वीकुर्वन्ति। तथा जीवाश्रयाऽविद्यामन्यन्ते ज्ञानकोविदा इत्यनेनाद्वैतसिद्धान्तानुयायिनो भामतीकारा अपि जीवस्यैवाज्ञानाश्रयत्वमभि-

मन्यन्ते। नहि साध्यनिश्चयकाले साध्यांशेनवादिविजयः यदि स्वसिद्धान्तदर्शैवप्रामाणिकार्थनिरास्तर्हि कृतं विचारेण, तथा च न कथं चिदप्यसद् वाद निरादरस्तेनजितं बौद्धादिभिः। कथं शंकरादीनामुद्योग इति जानन्त्वद्वैतिनः। अत्र सर्वेषु प्रयोगेषु अनन्तकृष्णस्याद्वैतसिद्धान्तकथनमेवोत्तरं तद् पर्य्याप्तमपर्य्याप्तं वेति यथावदुपस्थाप्यते।

तथा च, प्रथमानुमाने एक सत्तावादे शुक्तिकाद्यज्ञानस्यापि ब्रह्माश्रयत्वेन पक्षसमत्वात् दृष्टान्तासिद्धिः, सत्तात्रैविध्यवादे तु शुक्त्यज्ञानं मूलाज्ञानात् विलक्षणमेव पुरुषाश्रितमितिपल्लवाज्ञानत्वमुपाधिरितियदुक्तं तदसंगतम्, अज्ञानस्य ब्रह्माश्रयत्व निराशकाले सत्तैकवादस्यासिद्धत्वात्, भामतीकारमते तथा जीवाश्रयाविद्यामन्यन्तेज्ञानकोविदा इत्यनेन जीवस्यैवाज्ञानाश्रयत्व दर्शनेनसत्तैकवादस्याद्वैतसिद्धान्तेनापि विरुद्धत्वेन, तादृशासिद्धसत्तैकवादेन पक्षसमत्वादिवर्णनस्याद्वैतसिद्धान्त विरुद्धत्वाच्च।

पल्लवाज्ञानत्वेनसोपाधिकत्वकथनमप्ययुक्तम्, मूलाज्ञानसिद्धिकाले पल्लवाज्ञानस्यानुत्पन्नत्वात्, मूलाज्ञानस्य प्रामाणिकत्वे सत्येव पल्लवाज्ञानादीनां प्रामाणिकम्, नहि कस्यचिद् वृक्षस्य मूलाभावे पल्लवस्पर्शनमपि। मूलाज्ञानस्यैव विचारविषयत्वे सत्तैक्यवाद सत्तात्रैविध्यवादः पल्लवाज्ञानादीनां प्रसंगएवानवसरः, मूलाज्ञानसिद्ध्यधीनसिद्धिकत्वात्,

किञ्च सत्तैक्यवादः सत्तात्रैविध्यवादश्च नापि लोके न चापि वेदे दृश्यते किन्तु स्वाभिमतसाधनायाद्वैतिभिस्स्वत एव कल्पितः। ब्रह्मसत्तैवघटादौ शुक्तिरजतादौ च भासते, सत्ताभेदोप्यनुपपन्नः, ब्रह्मसत्तयैव सर्वत्र सत्ताप्रतीत्युपपत्तौ तद्भेदकल्पने गौरवात्। स्वाप्नाध्यासेऽतिव्याप्त्यव्याप्तिदर्शनेन ब्रह्मज्ञानेतरज्ञानाबाध्यत्वं व्यावहारिकत्वम्, ब्रह्मज्ञानेतरज्ञानबाध्यत्वं प्रातिभासिकत्व मित्यादिलक्षणकथनमप्यद्वैतिनामसंगतम्।

तथाचाज्ञानस्य ज्ञात्राश्रयत्वदृष्टान्तेन ज्ञानरूपब्रह्माश्रयत्वाभावेन ब्रह्मणः पक्षसमत्वाभावेन प्रथमानुमाने न दृष्टान्तासिद्धिर्नाप्युपाधिसंभवः, अतोनिर्दुष्टमिदं प्रथमानुमानमिति।

एतेन द्वितीयानुमानप्रयोगोपि निष्कलंकः प्रथमानुमान सदृशदोषाविशेषात्, तदुत्तरमपि प्रथमानुमानाविशेषात्। शुक्त्यज्ञानस्यापि ब्रह्मावरकत्वावलम्बनेन पूर्वपक्षः, नैयायिकादिसर्वदार्शनिकाभिमतशुक्त्यज्ञानस्य विषयावरणत्वदर्शनेन, तद् दृष्टान्तेन चैतन्यावरणत्व निषेधकाले, शुक्त्यज्ञानमपि न विषयावरणं किन्तु ब्रह्मावरणमेवेति कथनं न्यायादिग्रन्थानध्ययन निबन्धनं भ्रान्तजनजल्पितत्वमेवेति सिद्धान्तः। वारं वारं साध्यांसेनैव प्रत्यवतिष्ठन्तेऽद्वैतिनः, नच ते बुद्ध्यन्ते वादिप्रतिवाद्युभयसंमतस्यैव हेतुभावः, अन्यथा वादकथाया एवविलोप प्रसंगः, तथाच द्वितीयानुमानमपि निर्व्यूढम्।

विवादाध्यासितमज्ञानं न ज्ञाननिवर्त्यम्, ज्ञानविषयाना-

वरणत्वादिति तृतीयानुमाने ज्ञानपदेन तुच्छासाधारणवृत्तिरूप-मेव गृह्यते, तेन ज्ञानपदेन चैतन्यग्रहणे चैतन्यानिवर्त्यत्वस्याद्वै-तिभिरपि स्वीकारेण सिद्धसाधनत्वोक्तिरपि निरस्ता, ज्ञानपदेन न चैतन्यं गृह्यते किन्तु तुच्छव्यावृत्त वृत्तिरूपमेवेति,

अज्ञानस्य ब्रह्मावरणत्वादिकथनेन दृष्टान्तासिद्धिवचनम-ज्ञान निबन्धनमेव, अज्ञानाश्रयत्वस्यैव विचार्य्यमाणत्वादिति, न सत्प्रतिपक्षस्यापिसंभवः शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्यैवासिद्ध-त्वात् ।

ब्रह्म, नाज्ञानास्पदम् , ज्ञातृत्व विरहात् घटादिवत् , इत्य-नुमानेऽप्रयोजकत्वशंकोद्भावनमपि स्वस्याप्रयोजकत्वनिबन्धनम्, अनुकूल तर्कविरहे सत्येवाप्रयोजकत्व शंकोदयः, नत्वनुकूल तर्कसद्भावेऽन्यथासर्वानुमानोच्छेदप्रसंगः, तथा च ज्ञातृत्वशून्ये-ऽज्ञानाश्रयत्वस्वीकारे ज्ञातृत्वशून्येघटेऽपि, अज्ञानाश्रयत्वं प्रस-ज्येदित्यनुकूल तर्क सद्भावे कथमत्र हेतुरस्तु साध्यंमास्तु, इत्य-प्रयोजकत्वशंकोदयः ।

आश्रयत्व विषयत्वभागिनी निर्विभाग चितिरेव केवला। पूर्वसिद्धतमसोहि पश्चिमो नाश्रयोभवतिनापिगोचरः, इत्यद्वैतिनां वचनन्तु, तथाजीवाश्रयाविद्यामन्यन्तेज्ञानकोविदा इति जीवा-ज्ञानवादिभामतीवचन विरोधादुपेक्षणीयम् , भामतीमताभि-प्रायकानुमानस्यसौष्ठवात् ।

किञ्च, आश्रयत्व विषयत्वेत्यादिकं न वेद वाक्यं किन्त्व-

द्वैतिजनकपोलकल्पितमिति, अज्ञानस्य ब्रह्माश्रत्वविघटनकाले कथमस्य वाक्यस्य प्रामाण्यसम्भवः।

ब्रह्म अज्ञानेनाच्छन्नं ततोऽज्ञानेन घटपटादयोभासन्त इत्यद्वैतिनांपन्था, तत्र ब्रह्माश्रयत्वविचारकाले कथमज्ञानप्रयुक्तता निवन्धनं घटादीनामज्ञानानास्पदत्वमिदं वचनमनन्त कृष्णस्यकथं योग्यमिति विमृशन्तु सुधियः।

नेदमाश्रयत्वादिकं तथाजोवाश्रयाविद्येति भामती वचन विरुद्धमपितु शतोत्तरनवाधिकनवतितमे पृष्टे—अज्ञानानुभवोहि जीवस्यैव न ब्रह्मण, इति रक्षामणिस्ववचनविरुद्धमपि—अतस्स्वैराचारत्वमेवाद्वैतिनां, परस्परमेवयुध्यन्ते—सर्वथातु—आश्रयत्व विषयत्वादिकं निरस्तमेव अतश्चतुर्थानुमानमपि सम्प्रतिपन्न मेवेति।

पञ्चमषष्ठानुमानयोर्भामतीमताभिप्रायकत्वेन न ज्ञानाविषयत्वादितिहेतोरसिद्धता नापि दृष्टान्ताऽसिद्धिः, भामतीकारमते ब्रह्मणोज्ञानाविषयत्वात्, अतो न ब्रह्मणोज्ञानविषयत्वमादाय दोषप्रसरः। ज्ञानपदेन वृत्तेर्ग्रहणेन—अत्र ज्ञानपदेन चैतन्यविवक्षया न केवलमप्रयोजकत्वं किन्तु शुक्तिकादीनां चैतन्यतादात्म्येन चैतन्यविषयत्वात् दृष्टान्ते साधन वैकल्योक्तिरपि निरस्ताभवति। अत्रश्रीभाष्यप्रतिप्रयोगेनिमज्जन्त्यद्वैतिनः

शास्त्रिमहोदयेनानन्तकृष्णेन स्वयमेव षडधिक सप्ततितमे पृष्टे—७६— ब्रह्मणः, ज्ञानविषयत्वमस्तिनवेति विचारे नवेति

पक्षमेव स्वीकृतम्–तत्रत्यापंक्ती–नहि शुद्धस्यब्रह्मणः प्रमेयत्वं वयम् स्वीकुर्मः, नहि शुद्धं ब्रह्मज्ञानविषय इति ।

अत्र तु ब्रह्मणो ज्ञानविषयत्वंस्वीकृत्यदोषंवक्ति । तथा च युक्तमुक्तमभियुक्तैः, अन्धस्येवान्धलग्नस्य विनिपातः पदेपदे,

अनुमानात्प्राक्शुक्तेरेवावरणाङ्गीकारेण दृष्टान्तासिद्धिरपि निर्मूला, तस्मात् पञ्चमपष्ठानुमानयोर्नबाधकं किञ्चिदपि, सप्तमानुमानेतु न किञ्चिदप्युक्तं यदुक्तं तत्तु—अज्ञानेप्यनभिमताज्ञानान्तरसाधनेन विरुद्धत्वाद्धेतोः, तत्राज्ञानान्तरासाधने–हेतोरनैकान्त्यम्, साधने च–तज्ज्ञानमज्ञानसाक्षित्वं निवारयति, ततश्चाज्ञानकल्पना निष्फलास्यादित्यादिना श्रीभाष्यकारैः पूर्वमेव निरस्तम् ।

ज्ञानं, न वस्तुनो विनाशकम् शक्तिविशेषोपबृंहणविरहे सति ज्ञानत्वात् यत्वस्तुनोविनाशकंतच्छक्तिविशेषोपबृंहितंज्ञानमज्ञानं च दृष्टं यथेश्वरयोगिप्रभृतिज्ञानं, यथा च मुद्गरादिः । भावरूपमज्ञानं न ज्ञानविनाश्यं, भावरूपत्वात्, घटादिवत् । अत्रानुमानद्वये शुक्तिरुप्येव्यभिचारोक्तिरपि प्रौढव्युत्पत्तिशून्यत्वमावेदयति, अनेनैव सर्वसम्प्रतिपन्न दृष्टान्तेन शुक्तिरूप्यस्यापि पच्छतावच्छेदकाक्रान्तत्वात्, अनिर्वचनीयशुक्तिरुप्योत्पत्तौप्रमाणाभावाच्च ।

घटस्य भावरूपत्वंज्ञानानाश्यत्वंच सर्वसम्प्रतिपन्नम्, तद्दृष्टान्तेन भावरूपस्यज्ञानानाश्यत्वोक्तौशुक्तिरुप्ये व्यभिचारा

पादनं कथं बुद्धिकृत्यम्, यतः शुक्तिरुप्यस्यविवाद विषयत्वात्, तत्र यथार्थख्यातिरितिविशिष्टाद्वैतिनः, अन्यथाख्यातिरितिनैयायिकाः, अख्यातिरितिमीमांसकाः, आत्मख्यातिरिति योगाचाराः, असत्ख्यातिरितिमाध्यमिकाः, अनिर्वचनीयख्यातिरित्यद्वैतिनः, तथा च सर्वसम्प्रतिपन्नदृष्टान्तेन सिषाधयिषितार्थस्य विप्रतिपन्न दृष्टान्तेन व्यभिचारापादनमसंगतमेव, यद्यद्वैतरीत्यापि व्यभिचार वारणेच्छाचेत्तर्हि, अनुमानेप्रातिभासिकातिरिक्तत्वमपि विशेषणं देयमिति वदन्ति ॥

(रक्षामणिः—२११—पृ०)

न केवलं प्रत्यक्षानुमानार्थापत्तयः, किन्तु—'अनृतेन प्रत्यूढाः नासदासीत् नो सदासीत्तदानिं तम आसीत् तमसा गूढमग्रे प्रकेतम्, मायांतु प्रकृतिं विद्यात् आस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत, तस्मिश्चान्यो-मायया सन्निरुद्धः इत्यादि श्रुतयोऽपि तत्रप्रमाणम्, कर्मफले ऋतशब्द प्रयोगस्तु ऋतंपिवन्तावित्यादौ, अपाम सोममसृता अभुम इत्यादि वचनसिद्धं वहुकालस्थायित्व मभिप्रेत्यैव तस्मादनिर्वचनीया ज्ञाने न किञ्चिद्‌वाधक मिति ॥

अत्र विशिष्टाद्वैतिनः

तदिदंसर्वमपि न विचारसहम्, नहि, अनृतपदस्यानिर्वचनीयाज्ञाने शक्तिग्राहकं किञ्चिदपि प्रमाणमस्तीति, अनिर्वचनीयस्योल्लोकत्वात्तदर्थेंप्रमाण्यप्रतिपादनायोगाच्च। ऋतेतर विषय

पक्षमेव स्वीकृतम्–तत्रत्यापंक्ती–नहि शुद्धस्यब्रह्मणः प्रमेयत्वं वयम् स्वीकुर्मः, नहि शुद्धं ब्रह्मज्ञानविषय इति ।

अत्र तु ब्रह्मणो ज्ञानविषयत्वंस्वीकृत्यदोषंवक्ति । तथा च युक्तमुक्तमभियुक्तैः, अन्धस्येवान्धलग्नस्य विनिपातः पदेपदे,

अनुमानात्प्राक्शुक्तेरेवावरणाङ्गीकारेण दृष्टान्तासिद्धिरपि निर्मूला, तस्मात् पञ्चमषष्ठानुमानयोर्नबाधकं किञ्चिदपि, सप्तमानुमानेतु न किञ्चिदप्युक्तं यदुक्तं तत्तु—अज्ञानेप्यनभिमताज्ञानान्तरसाधनेन विरुद्धत्वाद्धेतोः, तत्राज्ञानान्तरासाधने–हेतोरनैकान्त्यम् , साधने च–तज्ज्ञानमज्ञानसाक्षित्वं निवारयति, ततश्चाज्ञानकल्पना निष्फलास्यादित्यादिना श्रीभाष्यकारैः पूर्वमेव निरस्तम् ।

ज्ञानं, न वस्तुनो विनाशकम् शक्तिविशेषोपबृंहणविरहे सति ज्ञानत्वात् यत्वस्तुनोविनाशकंतच्छक्तिविशेषोपबृंहितंज्ञानमज्ञानं च दृष्टं यथेश्वरयोगिप्रभृतिज्ञानं, यथा च मुद्गरादिः। भावरूपमज्ञानं न ज्ञानविनाश्यं, भावरूपत्वात् , घटादिवत्। अत्रानुमानद्वये शुक्तिरुप्येव्यभिचारोक्तिरपि प्रौढव्युत्पत्तिशून्यत्वमावेदयति, अनेनैव सर्वसम्प्रतिपन्न दृष्टान्तेन शुक्तिरूप्यस्यापि पच्छतावच्छेदकाक्रान्तत्वात् , अनिर्वचनीयशुक्तिरुप्योत्पत्तौप्रमाणाभावाच्च ।

घटस्य भावरूपत्वंज्ञानानाश्यत्वंच सर्वसम्प्रतिपन्नम् , तद्दृष्टान्तेन भावरूपस्यज्ञानानाश्यत्वोक्तौशुक्तिरुप्ये व्यभिचारा

पादनं कथं बुद्धिकृत्यम्, यतः शुक्तिरुप्यस्यविवाद विषयत्वात्, तत्र यथार्थख्यातिरितिविशिष्टाद्वैतिनः, अन्यथाख्यातिरितिनैयायिकाः, अख्यातिरितिमीमांसकाः, आत्मख्यातिरिति योगाचाराः, असत्ख्यातिरितिमाध्यमिकाः, अनिर्वचनीयख्यातिरित्यद्वैतिनः, तथा च सर्वसम्प्रतिपन्नदृष्टान्तेन सिषाधयिषितार्थस्य विप्रतिपन्न दृष्टान्तेन व्यभिचारापादनमसंगतमेव, यद्यद्वैतरीत्यापि व्यभिचार वारणेच्छाचेत्तर्हि, अनुमानेप्रातिभासिकातिरिक्तत्वमपि विशेषणं देयमिति वदन्ति ॥

(रक्षामणिः—२११ – पृ०)

न केवलं प्रत्यक्षानुमानार्थापत्तयः, किन्तु—'अनृतेन प्रत्यूढाः नासदासीत् नो सदासीत्तदानिं तम आसीत् तमसा गूढमग्रे प्रकेतम्, मायांतु प्रकृतिं विद्यात् आस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्, तस्मिश्चान्यो-मायया सन्निरुद्धः इत्यादि श्रुतयोऽपि तत्रप्रमाणम्, कर्मफले मृतशब्द प्रयोगस्तु मृतंपिवन्तावित्यादौ, अपाम सोममममृता अभुम इत्यादि वचनसिद्धं वहुकालस्थायित्व मभिप्रेत्यैव तस्मादनिर्वचनीया ज्ञाने न किञ्चिद्वाधक मिति ॥

अत्र विशिष्टाद्वैतिनः

तदिदंसर्वमपि न विचारसहम्, नहि, अनृतपदस्यानिर्वचनीयाज्ञाने शक्तिग्राहकं किञ्चिदपि प्रमाणमस्तीति, अनिर्वचनीयस्योल्लोकत्वात्तदर्थेप्रमाण्यप्रतिपादनायोगाच्च। ऋतेतर विषय

एवानृत शब्दः, ऋत शब्दस्य कर्मवाचित्वम्, ऋतंपिबन्तौसुकृतस्यलोके गुहां प्रविष्टौ परमेपरार्ध्ये, इतिश्रुतौस्पष्टमेव, तस्मात् ऋतमिति कर्मफलाभिसन्धिरहितं ब्रह्माराधनात्मकं कर्म तद्व्यतिरिक्तं ब्रह्मप्राप्तिविरोधि सांसारिकंकर्मानृतपदवाच्यमित्यर्थः. ऋतं सत्यं तथा धर्मः इत्यादि प्रमाणेनापि ऋतशब्दस्य कर्मवाचित्वमेव। अनृतेन प्रत्यूढा इत्यत्र अनृत पदस्यानिर्वचनीयाज्ञानपरत्वे, एतं ब्रह्मलोकं नविन्दन्ति, अनृतेनप्रत्यूढा इत्यस्य समन्वयोपि दुर्वारः। अत्र स्पष्टमेव ब्रह्मालाभेज्ञानाभावस्य हेतुतोच्यते। अनृत शब्दस्य दुष्कर्मपरत्वेन तस्य च ज्ञानविरोधित्वात् श्रुत्यर्थः सम्यगुपपद्यते श्रीभाष्यकाराणां सिद्धान्ते, मिथ्यावादिनां शांकरादीनांत्वसमञ्जस एव।

अनृत पदस्य दुष्कर्मपरत्वेन एवमनृतादात्मानं जुगुप्सेत् इतिश्रुतिरपि निर्व्यूढा भवति, यतः दुश्चरित्रादात्मानं संरक्ष्येत्, मुमुक्षुः, अनृत पदस्य मिथ्यापरत्वेऽनिर्वचनीयाज्ञान परत्वे च कथमात्मजुगुप्सा सिद्ध्यति सर्वस्य मिथ्यात्वाविशेषात्—

किञ्च मिथ्यात्वादि परत्वे वृजिनमनृतंदुश्चरितमिति प्रमाणविरोधोऽपि।

एतेन, अनिर्वाच्याविद्याद्वितयसचिवस्य प्रभवतो विवर्ताः यस्यैते वियदनल तेजोबवनय इति वदन्तः भामतीकाराऽपि परास्ताः, अनिर्वाच्याविद्यायां प्रमाणाभावात्, शांकरादीनां कपोलकल्पना मात्रमेतत्।

यथाचानिर्वचनीय पदार्थस्यैवात्यन्ताभावस्तथाभाष्ये सुव्यक्तमेव। अनिर्वचनीयमपूर्वरजतमत्रजातमिति वदता तस्य जन्मकारणं वक्तव्यम्। न तावत्प्रतीतिः, तस्यास्तद्विषयत्वेन तदुत्पत्तेः प्रागात्मलाभायोगात्। निर्विषयाजाता तदुत्पाद्य विषयीकरोतीति महतामिदमुपपादनम्। अथेन्द्रियादिगतोदोषः, तन्न, तस्य पुरुषाश्रयत्वेनार्थगतकार्य्यस्योत्पादकत्वायोगात्। नापीन्द्रियाणि तेषां ज्ञान कारणत्वात्। नापि दुष्टानीन्द्रियाणि, तेषामपिस्वकार्य्यभूते ज्ञानएवहि विशेषकरत्वम्। अनादि मिथ्याज्ञानोपादानत्वंतु पूर्वमेव निरस्तमिति। प्रतीतिभ्रान्ति बाधैरपि न तथाऽभ्युपगमनीयम्, प्रतीयमानमेवहि प्रतीतिभ्रान्ति बाधविषयो भवति—यथोक्तं संवित्सिद्धौ—

नासत्प्रतीतेर्बाधाच्च न सदित्यपि यन्न तत्।
प्रतीतेरेव सत्किं न बाधान्नासत्कुतो जगत्॥

अतोऽनिर्वचनीयाज्ञान कल्पनं शांकरादीनामज्ञाननिबन्धनमेवेति।

ऋतंपिबन्तावित्यत्र कर्मफले ऋत शब्द प्रयोगस्तु अपामसोमममृता अभूम इत्यादि वचनसिद्धं बहुकाल स्थायित्वमित्युक्तिरपि श्रुत्यर्थाज्ञान निबन्धना,

बहुकाल स्थायि फलस्यैव कर्मफल संज्ञेति साहसमात्र मनन्यत्कष्णस्य। ऋतशब्दस्य सत्कर्मवाचित्वमेवार्थः तस्यपिबन्त

पदसानिध्यात् कर्मफलत्वम्, कर्मणः पानासंभवादिति तत्त्वविदः। तमशब्देन मायाशब्देनचानिर्वचनीयाज्ञानसिद्धिरित्यप्यद्वैतिनाम-भिमानः।

तत्र तम शब्देनापिनानिर्वचनीयाज्ञानसिद्धिः, यतः नासदासीन्नो सदासीत्तदानिं तम आसीत्, इति श्रुतौ तमश्शब्दःप्रकृतिपरः नानिर्वचनीयाज्ञानपर, अव्यक्तमक्षरे लीयते अक्षरं तमसि तमः परेदेव एकीभवति, यस्य तमः शरीरम् आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्,

अप्रतर्क्यमविज्ञयं प्रसुप्तमिव सर्वतः। इत्यादिषु प्रकृति परत्वेन तमः शब्दनिर्वचनात्। सदसदोक्तिस्तुव्यष्टिचेतनाचेतनविलयपरा। नहि सदसद्विलक्षणत्वमुच्यते येनानिर्वचनीयाज्ञानसिद्धिसंभवः, यदि सन्नासीदसन्नासीदित्युक्त्यासदसद्विलक्षणत्वं-कल्प्यते तर्हि "अनादि मत्परंब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते, इत्यत्र ब्रह्मणोऽपि सदसद्विलक्षणत्वेन मिथ्यात्वंस्यात्।

किञ्च तदानिं तमआसीदित्यत्र दृष्टिपातनिवारणेन धूलीप्रक्षेपण मात्रमेवशांकरादीनाम्, तदानिं पदेन कालविशेष एव गम्यते, नहिकालविशेषेऽनिर्वचनीयं शुक्तिरजतम्, इत्यद्वैतिनोऽपि स्वीकुर्वन्ति, अत्रतु कालविशेषे सदसद्भाव निषेधपूर्वक तमस्त्वेनावधारणान्नानेनानिर्वचनीयाज्ञानसिद्धिरिति।

अस्मान्मायीसृजते विश्वमेतदित्यत्रमायाशब्देनानिर्वचनीयाज्ञानसिद्धिरित्यप्यसत्।

नहिमिथ्याभूतं शुक्तिरुप्यादौ मायापद प्रयोगः कैरपिदार्शनिकैरद्वैतिभिरपिकृतः श्रुतो वा। मायापदस्य विचित्रसर्गकरत्वेन, आश्चर्य्यत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तम्, तच्चासत्यसत्यादिसाधारणं भवति, नतु मिथ्यात्वादिरूपमद्वैति कल्पितम्, बहुप्रमाणविरोधाददर्शनाच्चेति ॥

(एतेन रक्षामणिः—२१४—पृ०)

ऐन्द्रजालिकेषुमायाशब्द प्रयोगात् मिथ्यापर्य्यायो माया शब्दः, आसुरराक्षसशस्त्राण्यप्यैन्द्रजालिकानीवासुर राक्षस कल्पित मिथ्यास्त्राण्येव, नतु सत्यानीत्यत्रप्रमाणमस्ति मिथ्याभूतस्याप्यर्थ क्रियाकारित्व स्वीकारेण न कोऽपि विरोधः, तथा च

तेन माया सहस्त्रं तच्छम्बरस्याशुगामिना। बालस्य रक्षता देहमेकैकश्येन सूदितम् ॥ इति वचनमपि न विरुद्धमिति ॥

रक्षामणिवचनमपि निरस्तंभवतिः, मिथ्यात्वेन निश्चितेषु शुक्तिरूप्यादिषु न मायाशब्द प्रयोगोदृष्टचरः,

ऐन्द्रजालिकादिष्वपिसत्यैवप्रतीति, तत्सृष्टपदार्थानांसत्यत्वमेव, तस्मात् मायाशब्दस्य मिथ्यात्वकल्पनमयुक्तमेव, आसुरराक्षसशस्त्राण्यप्यैन्द्रजालिकानीवासुर राक्षसकल्पित मिथ्यास्त्राण्येवेति वचनमनन्तकृष्णशास्त्रिणः-बालस्य-रक्षता देहमेकैकश्येनसूदितमित्यत्रदृष्टिपात निवारणेन धूलीप्रक्षेपणमात्रमेवेति।

नहि मिथ्यापदार्थस्य शस्त्रादिछेद्यत्वं युक्तम्, मिथ्यापदा-

र्थनांतु ज्ञानमात्रेणैवनिवृत्तिरिति सर्वसाक्षिकम् , नहिशुक्तिरूप्य-स्यास्त्रादिनाश्यत्वमद्वैतिभिरप्यभ्युपगम्यते, अत्रतु राक्षसासुरश-स्त्राणांक्रमशश्छेदनमभिधीयते, अतो न मायाशब्दः, मिथ्याप-र्य्यायः ।

यथोक्तमभियुक्तैः—

मायामृगोपि मारीच सृष्टिरेवहि तात्त्विकी ।
नचेद्राम शरेणास्य निधनं नोपपद्यते ॥

मिथ्यापदार्थानामर्थक्रियाकारित्वे प्रमाणाभावात् , सर्वत्र सत्यभूतेन ज्ञानेनैवार्थसिद्धेर्निविवादाच्चेति ।वस्तुतः" मायावयुनं ज्ञानमिति निघण्टु वचनात् मायाशब्दः संकल्पपर एव, तेन सर्वानुगतोमायाशब्दार्थः, अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मि-श्चान्योमायया सनिरुद्ध इत्यत्र वृथैवनिमज्जन्त्यद्वैतिनः, यतो नानेन मायाशब्देन मिथ्यात्वेनानिर्वचनीयाज्ञानादिलाभः माया शब्दो यथा न मिथ्यात्वादिपर्य्यायस्तथा पूर्वमेवोक्तः, अत्रतु मायाशब्दः प्रकृतिपरः, मायामायावी शब्दार्थौकाविति जिज्ञा-सायाम् ,

मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनंतु महेश्वरम् ।
अस्यावयव भूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥

इति भगवती श्रुतिरेव मायापदस्य प्रकृतिपरत्वं निगमयति, यच्छब्दयोगः प्राथम्यमित्याद्युद्देश्य लक्षणमित्यप्यनुकूलं भवति ।

प्रकृतेश्च "गौरनाद्यन्तवतीसाजनीत्रीत्यादिना नित्यत्वमवगम्यते, प्रकृत्युद्देशेनमायाविधाने वृथैवाग्रहोऽद्वैतिनाम्,

यतः प्रकृतेर्मायाविधाने जिज्ञासाविरोध प्रमाणविरोध उद्देश्यलक्षणादिविरोधादुर्घट एव अस्माकन्तु—अस्मान्मायीसृजत इत्यत्र मायामायिपददर्शनेन तदर्थजिज्ञासायां मायान्तु प्रकृतिमित्यादिसर्वमपि सार्थकमुद्देश्यलक्षणाद्यविरोधोऽपि तस्मात् मायापदेनापि नानिर्वचनीयाज्ञानसिद्धिः तदिदं सिद्धं यत्, प्रत्यक्षानुमानार्थापत्यागमादिभिर्नानिर्वचनीयाज्ञानसिद्धिरिति।

अन्ततोगत्वा, अनन्तकृष्णस्येदमेवप्रधानंप्रमाणमस्तियत्, मायावादमसच्छास्त्रम्, मायावादि भुजंगेत्यादिस्थले विशिष्टाद्वैतिनाऽपि मायापदस्यानिर्वचनीयाज्ञानपरत्वमभिवदन्तीति,

तदप्यसंगतम्—

मायावाद मसच्छास्त्रमित्यादिस्थलेऽविद्याप्रधानवादस्यासच्छास्त्रत्वमभिमन्यन्ते विशिष्टाद्वैतिनः नत्वनिर्वचनीयाज्ञानत्वमुच्यतेऽत्र, अतोनानिर्वचनीया ज्ञानसिद्धिरनेनापि॥

(रक्षामणिः—२१५--पृ०)

तत्त्वमसीत्यत्रैक्योपदेशः सामानाधिकरण्यार्थः अन्यथा जीव ब्रह्मणः स्वरूप भेदे स नोपपद्येत। ततश्चेदमत्रस्वीकर्तव्यम्—यत् स्वरूप चैतन्यव्यतिरेकेणेश्वरत्वप्रयोजकमाया वा जीवत्वप्रयोजकाविद्याऽन्तःकरणादिकं वा मिथ्याभूतमिति। तत्त्वमसीति सामानाधिकरण्योपदेशोहि जीवब्रह्मणोः स्वरूपैक्यमादायैव निर्वहणीयः। तत्त्वंपदयो सविशेष

ब्रह्माभिधेयत्वेतु न स निर्वोढुं शक्यते, नहि तत्र विशेषण विशेष्यभावेन सामानाधिकरण्यं नीलोघट इत्यादाविव संभवति, जीवत्वेश्वरत्वयो-र्वैयधिकरण्यात्, अतोबाधायांसामानाधिकण्यमगत्यास्वीकरणीय-मिति ॥

(अत्र श्रीभाष्यानुयायिनः)

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् । अर्थवादोपपत्तिश्च लिङ्गंतात्पर्य्यनिर्णये, इतिषड्विधतात्पर्य्यवलेन तत्त्वमसीत्यादि वाक्यानिसविशेषब्रह्मपराण्येवेति यतः, बुद्धिस्थत्वोपलक्षितधर्मा-च्छिन्नेशक्तस्य तत्पदस्य प्रकृतपरामर्शित्वंसर्वसम्मतम्, तदैक्षत वहुस्यांप्रजायेत्यादिषु, सर्वज्ञत्व सर्वशक्तित्व सर्वाधारत्व सत्य-संकल्पत्वादिगुणपरिपूर्णस्योपादानभूतस्य ब्रह्मणस्सम्प्रतिपन्नत्वेन, तादृशसर्वज्ञत्वादिगुणगणोपेतंब्रह्म तत्पदवाच्यम् । त्वं पदंचाचि-द्विशिष्टजीवशरीरकं ब्रह्मप्रतिपादयति शरीरवाचकानां शब्दानां शरीरिणिव्युत्पत्तेर्मुख्यत्वात्,

तथा च 'तत्त्वमसीत्यत्र' अचिद्विशिष्टजीव शरीरका-भिन्नस्सर्वज्ञत्व सत्यसंकल्पत्वादिविशिष्टः परमात्मा, इति वोधः, भिन्न प्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थेवृत्तिः सामानाधिकरणमिति, महाभाष्योक्त सामानाधिकरणलक्षणमपि मुख्यंभवति,

यथा नीलोत्पलादिस्थले नीलत्वोत्पलत्वेभिन्नेऽपि, उत्पलरू-पैकार्थवोधकत्वात्मुख्यं सामानाधिकरणं तद्वदत्रापिसर्वज्ञत्वादिरू-

पाणां प्रवृत्तिनिमित्तानांभिन्नत्वेन सामानाधिकरण्यंमुख्यमेवेति प्रवृत्तिनिमित्तभेदेसत्येव सामानाधिकरण्यस्यमुख्यत्वादिति। अनन्तकृष्णस्तु जीवत्वेश्वरत्वयोर्वैयधिकरण्यंवक्ति, तदीयदृष्ट्या, ईश्वरत्वेजीवत्व चेतनत्वादिकंप्रायेण नास्त्येव, अहोबुद्धिकृत्यमेतत्। अद्वैतसिद्धान्तेतु तत्त्वमसीत्यत्र स्वरूप चैतन्यंसामानाधिकरण्यम्। तत्र प्रथमं भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानामित्यादि सामानाधिकरण्यलक्षणहानिः। प्रकृतपरामर्शित्वेनाभिमतस्यतच्छब्दस्य प्रकृतपरामर्शित्वभंगः। तत्त्वंपदयोर्विरुद्धस्वरूप चैतन्येलणा च, तदैक्षत बहुस्यामित्याद्युपक्रमे सर्वज्ञत्वादिगुणगणोपेतस्यब्रह्मणः तत्वमसीत्यत्रस्वरूपचैतन्येलक्षणायामुपक्रमविरोधश्च, सविशेषब्रह्मप्रतिपादक "यः सर्वज्ञः सर्वविदित्यादिश्रुतिविरोधश्च, तथा जीवस्वरूपप्रतिपादक" पृथगात्मानंप्रेरितारंच मत्वाजुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति द्वासुपर्णासयुजासखायाः समानमित्यादि श्रुतिविरोधश्चेति।

ननुशरीर वाचकानां शब्दानां शरीरिबोधकत्वे प्रमाणाभावेन विशिष्टाद्वैतिनामपि सामानाधिकरण्यं लाक्षणिकमेवेतिचेन्न, शरीरशब्देन शरीरिबोधस्यमुख्यत्वात्, गौः, मनुष्यः कर्मभिदेवो जातः, अनेनजीवेनात्मनाऽनुप्रविश्यनामरूपेव्याकरवाणीत्यादिभिः शरीरशब्दानामात्मपर्य्यन्तत्वावगमात्, सर्वत्रशब्दार्थनिर्णये विशिष्ट प्रयोगएव शरणम्, देवादिशब्दानामप्यात्मपर्य्यन्ताभिधानेऽस्ति लोक प्रयोगः देवो मनुष्यो गौरिति, अत्र देवादिशब्दानां प्रकृतिविशिष्टचेतनवाचित्वं सर्वप्रतिपन्नम्।

न केवलं लौकिकंप्रमाणमपितु "चत्वारः पञ्चदश रात्रादेवत्वं गच्छन्तीतिः" वाचिकैः पक्षिमृगतांमानसैरन्त्यजातितां, शरीरजैः कर्मदोषैः जातिस्थावरतांनर इत्यादि श्रुतिस्मृतिवाक्यान्यपि शरीरशब्दस्य शरीरिपर्य्यन्तत्वेप्रमाणानि तथा च तत्त्वमसीत्यत्र सामानाधिकरण्यमस्माकं लक्षणादिक्लेशं विनैव मुख्यवृत्तं भवति। अद्वैतिनान्तु विनापिशास्त्रं ब्रह्मण्यज्ञानादिकल्पनं लक्षणादि बहुल्केशंचेति।

जीवस्य ब्रह्मभावः किं प्रत्यक्षादिना शास्त्रेणवेति न प्रत्यक्षादिना, जीवस्यानीश्वरत्वेनैव प्रतीतेः, नापिशास्त्रेण, पृथगात्मानं प्रेरितारंच मत्वा 'नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीत्यादिभिः श्रुतिगणैर्जीवब्रह्मणोर्भेदस्यस्पष्टोक्तत्वात्।

अतस्तत्वमसीत्यत्रैक्योपदेशोऽयुक्तएवाद्वैतिनामिति। तथा च शरीर शरीरिभाव निबन्धनमेव सामानाधिकरण्यंतत्त्वमसीत्यत्रमुख्यमिति।

(रक्षामणिः—२१६—पृ०)

परमार्थतस्तु-प्रकारभूतयोश्चिदचितोर्ब्रह्माकार्य्यत्वात्, श्रीभाष्यमते ब्रह्मणाचिदचितोरेक द्रव्यत्वं कारणरूपेणापि नास्तीति कथमेक विज्ञानेन सर्वविज्ञानम्, यदि शरीरशरीरिभावेन, तर्हि नेदं प्रकरणमनुकूलम्, नह्यत्रशरीरशरिरिभावः तेनैक द्रव्यत्वं वा प्रतिपादितम्। मृत्तिकेत्येव सत्यमिति कारणेनैवखल्वेक द्रव्यत्वं प्रतिपादितम्, अस्माकन्तु-कारण

स्वरूपेऽधिष्ठाने यथार्थतयाज्ञाते, सर्वकार्य्यज्ञानमपि मिथ्यात्वेनज्ञातं भवति, नचात्र मिथ्यात्वेनेतिश्रुतप्रकाशिकोक्ताध्याहारदोषः, वाचारम्भणं नामधेयंमृत्तिकेत्येव सत्यमिति श्रुत्यैवतदर्थं बोधनात्, श्रीभाष्यमतेतु घटस्यापि सत्यत्वेन मृत्तिकेत्येवसत्यमित्यस्य विरोधोदुर्वार एवेति, तदपि श्रीभाष्यगूढार्थाज्ञानादेव निरस्तम्,

वेदान्तिमते—अवस्थान्तरयोगित्वस्यैव कार्य्यशब्दार्थतया प्रकृतेस्स्वरूपान्यथा भावेन, जीवस्य च स्वरूपनित्यत्वेन तदपृथक्सिद्धधर्मभूतज्ञानस्य संकोचविकासात्मकावस्थान्तरयोगित्वेन कार्य्यत्वात्, एक विज्ञानेन सर्वविज्ञान प्रतिज्ञायां न किञ्चिद्बाधकमिति—

स्वावच्छिन्न पूर्ववृत्तितावच्छेदकत्व, स्वावच्छिन्नाभिन्न वृत्तित्व, स्वावच्छिन्नाविषयकप्रतीतिविषयतावच्छेदकत्वमिति-त्रितयसम्बन्धेन, सर्वपदार्थतावच्छेदक धर्मविशिष्टधर्मत्वमेव प्रतिज्ञावाक्यार्थः विशिष्टस्यैवकारणत्वेन तस्यैव कार्य्यत्वेन च कारणज्ञानेन कार्य्यज्ञानंसम्प्रतिपन्नमेव श्रीभाष्यकाराणांमते।

मृद्दृष्टान्तोप्यत्रैवानुकूलः यतोरूपस्पर्शादिविशिष्टपिण्डत्वावस्थापन्नायाः मृद एव कारणत्वम्, रूपस्पर्शादि विशिष्टो घट एव कार्य्यमिति, तथैवात्रापि सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टस्यैव ब्रह्मणः कारणत्वेन, स्थूलचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्मणः कार्य्यत्वेन च तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य इत्यादि सूत्रैः कार्य्यकारणयोरभेदस्य सम्प्रतिपन्नत्वेनकारणरूपैकविशिष्टब्रह्मविज्ञानेन सर्व-

मपिकार्य्यं जातं ज्ञातं भवतीति प्रतिज्ञावाक्यार्थः सूपपन्न एव विशिष्टाद्वैतिनामिति

अद्वैतमतेतु—सर्वस्यप्रपञ्चजातस्यमिथ्यात्वेन न कथंचिदपि प्रतिज्ञादृष्टान्तादीनांसामञ्जस्यम् ,

एकविज्ञान घटकैकपदेनाविद्याविशिष्टब्रह्मणएवग्रहणं तन्मते, अविद्याविशिष्टब्रह्मोपादानत्वे न युक्त्यनुग्रहो नापि श्रुतिस्मृति-प्रमाणाद्यनुग्रहः केवलं कपोलकल्पनामात्रमेवशंकरादीनाम् , विशिष्टाद्वैतिनान्तु—जगत्सर्वं शरीरन्ते स्थैर्य्यतेवसुधातलम्' तत्सर्वं वैहरेस्तनुः 'यस्यात्मा शरीरं यस्य पृथिवीशरीरम् , इत्यादि प्रमाणजातैः सर्वस्य चेतनाचेतनात्मक प्रपञ्चस्यभगवच्छरीरत्वेन शरीरस्यचेतना पृथक्सिद्धत्वस्य च सर्वराधान्तसिद्धत्वेन विशिष्टग्रहणे न काप्यनुपपत्तिः,

किञ्च मिथ्यात्वेनेत्यध्याहारोपि दोषोऽद्वैतिनाम् । एतेन मिथ्यात्वेनेति नाध्याहारः, मृद्दृष्टान्तसिद्धत्वादित्युक्तिरपिपरास्ता, मृद्दृष्टान्ते न मिथ्यात्वस्यासिद्धत्वात् , सिद्धत्वेपि विनाध्याहारेण निर्वाह सम्भवेऽध्याहारस्य दोषत्वाच्चेति । मृत्तिकैव सत्यमितिवक्तव्यत्वे —

मृत्तिकेत्येवेति कथनेन, इति शब्दस्यप्रकारार्थतया, मृत्तिकात्वप्रकारत्वेनैवघटादीनां सत्यत्वं नतु स्वरूपतस्तथा च न कथंचिदपि मिथ्यात्वंवक्ति श्रुतिरियम् ,

यदि व्यावहारिक सत्यत्वं घटादीनामपि तर्हिपिण्डरूप-

कारणस्या पि व्यावहारिकत्वेन कथं कारणमात्रसत्यत्वे श्रुतियोजना, कार्य्यकारणयोर्व्यावहारिकत्वेन, कथं कार्य्यासत्यत्वंकारणमात्रसत्यत्वं वदन् न विभेत्यनन्तकृष्णः, यथा च मृत्तिकेत्येवेति श्रुतिः सर्वथैवाद्वैतिनांप्रतिकूलास्तथाग्रे विवेचयिष्यते । श्रीभाष्यमतेतु कारणस्य यादृशं सत्यत्वं तादृशं कार्य्यस्यापि परन्तु कारणायत्तमेव कार्य्यं सत्यत्वमतो न दृष्टान्त विरोधोपि,

एतेन—विवर्तपक्षमाश्रिताः शंकराचार्य्याः विवर्ताः यस्यैत इत्यादिना तदीयपक्षमनुमोदन्तोभामतीकारापि परास्ताः—

विवर्तवादस्य श्रुतिस्मृति सूत्र दृष्टान्तादि विरुद्धत्वात्, यथा सौम्येकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृड्मयंविज्ञातमिति, मृद्दृष्टान्तेन परिणामवाद एव ज्ञायते—

मृदः परिणामिकारणत्वस्य सर्वसिद्धत्वात्, दार्ष्टान्तिकवाक्येऽपि तत्तेजोऽसृजदित्युक्तं नतु तदभ्रमदिति, श्रुत्यन्तरेषु तदात्मानंस्वयमकुरुत इत्युक्तंनतुव्यवर्ततेति । भगवता ब्रह्मसूत्रकारेणापि 'परिणामात्' उपसंहारदर्शनादितिचेन्नक्षीरवद्धि इत्यादिभिः सूत्रैः परिणामवाद एव स्वीकृतः, स्मृतिषु च—कनकमुकुटमणिकर्णिकादिभेदैः कनकमभेदमपीष्यते यथैकम् । क्षितितल परिणामतोऽनिलान्ते । इत्यादिभिः परिणामवाद एव दृश्यते ।

अतो विवर्तवादस्य श्रुतिस्मृतिसूत्रादि विरुद्धत्वेन सकल श्रुतिस्मृतिसूत्राभिप्रेतपरिणामवादस्य शास्त्रीयत्वेन तादृशपरिणा-

मपक्षाभिप्रायकोविशिष्टाद्वैतसिद्धान्त एव वेदान्तार्थः 'अद्वैतमतंतु श्रुतिसूत्रादिविरुद्धमेवेति । एतेन—

(रक्षामणिः—२२२—पृ०—)

नहि "तत्त्वमसीति सामानाधिकरण्यं शरीर शरीरिभाव विवक्षाया मुख्यवृत्तंभवति, शरीर वाचकानां शब्दानां, शरीरि पर्य्यन्तस्यालोकसिद्धत्वात्, नहि केऽपिपक्षमिमं स्वीकुर्वन्ति । अद्वैतिनस्तु रजत इदंशब्दप्रयोगवत् भ्रान्त्यैव तस्य तत्रप्रवृत्तिरिति । मुख्यं शरीरिणि शरीरपदमिति स्वगोष्ठी मात्रघण्टाघोषइत्यनवधानोक्तिरपि परास्ता—

(अत्र श्रीभाष्यानुयायिनः)

शरीरवाचकानांपदानां शरीरिपर्य्यन्तत्वेलौकिकवैदिक प्रमाणादीनां पूर्वमेवोक्तत्वात् ।

शरीर वाचकानां पदानां शरीरिपर्य्यन्तत्वेऽस्त्येव घन्टाघोषोविशिष्टाद्वैतिनाम् , परन्त्वस्त्येवविशेषः, भूयस्यः सगुणश्रुतयः वहूनि सगुणविद्यापराणि वाक्यानि 'सूत्राणि च वहूनि सविशेषब्रह्मपराणि' परन्तु न तात्पर्य्यं तेषां तत्र किन्तु निर्विशेषेतात्पर्य्यं तेषामित्यादि घन्टाघोषोऽद्वैतिनां यथा विनाप्रमाण मूलकस्तथा न विशिष्टाद्वैतिनां किन्तुप्रमाणमूलकएव घन्टाघोष इति ।

इदं रजत तुल्यतया भ्रान्त्यां प्रवृत्ति कथनमप्यसंगतमेव संभवति मुख्यत्वे गौणकल्पनस्यान्याय्यत्वात् ।

गौः, मनुष्यः, इत्यादिस्थले गवादि शब्दैः व्यक्तिबोधो-मुख्य एव, अद्वैतिनं विहाय न केपि वेदनिष्णाताः दार्शनिकाः प्रपञ्चमिथ्यात्वं स्वीकुर्वन्ति, तत्समक्षे भ्रान्त्यादिकथनमुपहास्य-मेवेति। एतेन श्रीभाष्यमते कुत्रचित्कार्य्यकारणभावनिवन्धनं सामानाधिकरण्यं कुत्रचनशरीरात्मभावनिवन्धनमिति वैरुप्योक्ति-रपि निरस्ता, कार्य्यकारणभावनिवन्धन सामानाधिकरण्यस्यै-वासतिवाधके सर्वत्रस्वीकारात्।

तत्सृष्ट्वा तदनुप्रविश्य सच्चात्यच्चाऽभवदितिश्रुतौ, तत्सृ-ष्ट्वेत्यनेन कार्य्यकारणभावम्, तदनुप्रविश्येत्यनेन ततः फलितं शरीरशरीरिभावलक्षणं तादात्म्यमपि सिद्ध्यतीति तद्व्यपदेशः, विशिष्टस्यैवकार्य्यत्व कारणत्व योगेन शरीरात्मलक्षण तादात्म्य-मपि फलति, अतोवैरुप्यवर्णनंविशिष्टाद्वैतसिद्धान्तानभिज्ञत्व-निवन्धनमनन्तकृष्णस्येति।

अचिद्वस्तुनि नास्त्यसत्य शब्ददर्शनेन, नास्त्यसत्य शब्दौ मिथ्यात्वप्रतिपादकावित्यद्वैतिनः

श्रीभाष्यकारास्तु—अत्र चाचिद्वस्तुनि नास्त्यसत्यशब्दौ न तुच्छत्वमिथ्यात्वपरौ, अपितु विनाशित्वपरौ, 'वस्त्वस्ति-किम्' 'महीघटत्वम्' इत्यत्र विनाशित्वमेवह्युपपादितम्, न निष्प्रमाणकत्वं, ज्ञानवाध्यत्वं वा। एकेनाकारेणैकस्मिन्कालेऽनु-भूतस्य कालान्तरे परिणामविशेषेणान्यथोपलब्ध्या नास्तित्वोप-पादनात्, तुच्छत्वंहि प्रमाणसम्वन्धानर्हत्वम्। वाधोऽपिहि-

यद्देशकालादिसम्बन्धितया यदस्तीत्युपलब्धिः, नतु कालान्तरे-ऽनुभूतस्य कालान्तरे परिणामादिना नास्तीत्युपलब्धिः काल-भेदेन विरोधाभावात् । अतो न मिथ्यात्वमित्यादिभिः, नास्त्य सत्यशब्दौ विनाशित्वपराविति वर्णयन्ति ।

तदुपरि रक्षामणिकारेण किमपिनोक्तम्, केवलं श्रीभाष्योक्त पूर्वपक्षमात्रेणैव तृप्तस्तस्यैवोल्लेखः कृतः स्वग्रन्थे, न किञ्चिदपि नूतनो विचारः, युक्तिविशेषो वा प्रदर्शितः, अतोऽस्माभिरपि विरम्यतेऽत्र ।

अग्रे च-श्रीभाष्यकाराः--यदुक्तं-निर्विशेषब्रह्मविज्ञानादेवा-विद्यानिवृत्तिंवदन्तिश्रुतय-इति तदसत् , वेदाहमेतंपुरुषं महान्त-मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् , तमेवं विद्वानमृत इहभवति, नान्यः पन्थाविद्यतेऽयनाय 'सर्वेनिमेषाजज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि' 'न तस्येशेकश्चन' तस्य नाम महद्यशः' 'य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति' इत्याद्यनेकवाक्यविरोधात् । ब्रह्मणः सविशेषत्वादेव सर्वा-ण्यपि वाक्यानि सविशेष ज्ञानादेव मोक्षं वदन्ति —

इत्यादिभिः, निर्विशेषज्ञानवादं निरस्य सविशेषज्ञानमेव मुक्तिसाधनमितिस्थापयन्ति —

(रक्षामणिः—२३२—पृ०)

तस्योत्तरप्रदानेप्यसमर्थाः, अद्वैतिनः—

अद्वैतिनस्तुमन्यन्ते-निर्विशेषज्ञानादेव मोक्षः तन्निवृत्त्यनुपपत्त्या चानाद्यज्ञानमनिर्वचनीयमेव स्वीकुर्वन्ति । इदमेवोत्तरं रक्षामणि-कारस्यापि ।

स्वरूपन्याक्रियैवपराक्रियेतिन्यायावलम्बनेनैवोत्तरमत्रास्मा-
कमिति ।

अनाद्यनिर्वचनीयाज्ञानं तु पूर्वमेव निरस्तम् । यदि श्रुति-
स्मृति सूत्राणि सविशेषज्ञानस्यैव मुक्तिसाधनत्वं ब्रह्मणः सविशे-
षत्वं च वदन्ति तर्हिकथं न ब्रह्मण्यज्ञानादिकल्पनमद्वैतिनाम-
ज्ञानकृत्यमेवेति । <u>यदपिशरीरशब्दानां शरीरिपर्य्यन्तत्वेकेवलं
स्वपूर्वस्वभावेनपिष्टपेषणंकृतं तदपि प्रदर्श्य ।निरस्यते ।</u>

(रक्षामणिः—२३३—पृ०)

तत्त्वमसीत्यत्रसामानाधिकरण्यमप्यैक्योपदेशपरमेव न शरीरशरी-
रिभावनिबन्धनं, शरीर शब्देन शरीरिपर्य्यन्तत्वे प्रमाणाभावात ।
लोकेहिजातिगुणयोरेव द्रव्येण तादात्म्यदृष्टचरम्, द्रव्याणांतु कार्य्य-
कारण भावनिबन्धनमेव, अश्वः, मनुष्य इत्यादौ काल्पनिकमेव
तादात्म्यं न लाक्षणिकमध्यासनिबन्धनं वाधायामपिसामानाधिकरण्यं
मुख्यमेव, अतएव देहादिष्वात्मप्रत्ययोमिथ्यैवेति भगवत्पादानां
राधान्त, इति ।

(अत्र विशिष्टाद्वैतिनः)

तत्र यदुक्तं लोकेहि जातिगुणयोरेव द्रव्येण तादात्म्यं दृष्ट-
चरं न द्रव्याणामिति तदसंगतम्, 'द्रव्याणामपि शरीरभावेन
विशेषणत्वेन, गौरश्वो मनुष्यो देवोजातः पुरुषः कर्मभिरिति
सामानाधिकरण्यस्य लोकवेदयोर्मुख्यत्वस्यैव दृष्टत्वात् ।

खण्डो गौः, शुक्लः पटः इत्यादिस्थले जातिगुणयोरपि
सामानाधिकरण्यं यथा द्रव्यप्रकारत्व निबन्धनं तद्वत् मनुष्यादि

शरीराणामप्यात्मविशेषणतया नियमेन भानात्सामानाधिकरण्ये न किञ्चिद्बाधकमिति ।

तस्माद् द्रव्याणां कार्य्यकारणभावनिबन्धनमेव सामानाधिकरण्यमिति नियमोनास्ति । विनापिकार्य्यकारणभावं मनुष्यः, देवः, अश्वः, इत्यादिस्थले मुख्यसामानाधिकरण्यस्योपपादनात् । ननुद्रव्याणां द्रव्यविशेषणत्वे मत्वर्थीय प्रत्ययोदृष्टः 'दण्डी पुरुषः कुण्डली पुरुषः,' इति चेन्न मत्वर्थीप्रत्यय निरपेक्षसामानाधिकरण्यं प्रति सर्वत्रापृथक्सिद्ध प्रकारवाचित्वमेव प्रयोजकम्, मत्वर्थीय प्रत्ययस्यतु कदाचित्कचिद् द्रव्यविशेषणत्वेसामानाधिकरण्यंप्रति प्रयोजकत्वात् , न नियत प्रकारत्वे, ननु यत्र यत्रापृथक्सिद्धविशेषणत्वं तत्र सर्वत्र सहोपलम्भ नियमः, यथा खण्डो गौः, शुक्लः, पटः इति । देवो मनुष्य इत्यादिस्थलेतु शरीरस्यचक्षुरीन्द्रियग्राह्यत्वेप्यात्मनोऽचाक्षुषत्वेन चक्षुषाग्रहणाभावात् , मनुष्य आत्मेति सामानाधिकरण्यं लाक्षणिकमेवेति चेन्न, सर्वत्रापृथक्सिद्धविशेषणत्वंप्रति तदेकाश्रयत्व तदेकप्रयोजनत्व तत्प्रकारत्वमेव नियामकं जात्यादीनां नियतप्रकारत्वेयथा त्रितयमेवानुगतं तथैवमनुष्यादिशरीराणामप्यात्मैकाश्रयत्वं तदेकप्रयोजनत्वं तत्प्रकारत्वञ्चजात्यादितुल्यमेवेति, आत्मैकाश्रयत्वमात्म विश्लेषे शरीरविनाशात् , अत्मैकप्रयोजनत्वंच तत्तत्कर्मफलभोगार्थतयैव तत् , सद्भावात् तत्प्रकारत्वमपि देवोमनुष्य इत्यात्मविशेषणतयैव प्रतीतेः ।

तथ च जात्यादितुल्यतया मनुष्यादि शरीराणामपि नियत प्रकारत्वेनिश्चितेसति मुख्यसामानाधिकरण्ये न किञ्चिद्बाधकम् ।

सहोपलम्भनियमस्त्वेक सामग्रीवेद्यत्वनिवन्धनः, जाति-व्यक्त्योर्नियमेनसहप्रतीतिस्त्वेकसामग्रीवेद्यत्वेनोभयोर्चाक्षुषत्वात्–आत्मनस्त्वचाक्षुषत्वाच्चक्षुषा शरीरग्रहणवेलायामात्मा न गृह्यते, नच तावतानियत प्रकारत्व हानिः, नियत प्रकारत्वेहि तदेका-श्रयत्व तदेकप्रयोजनत्व तत्प्रकारत्वानामेव प्रयोजकत्वात् , तस्य च जात्यादि तुल्यतया मनुष्यादिशरीरेषु सद्भावात् नियतप्रका-रत्वमक्षतमेवेति ।

यदि च प्रकारतैकस्वरूपत्व सम्पादकलक्षणसत्वेपि पृथग्-ग्रहणयोग्यत्वमात्रेण प्रकारतैकस्वरूपत्वे विवादश्चेत्तदा पृथवी-जलादीनांस्वाभाविकानां गन्धरसादीनामपि पृथग्ग्रहणमात्रेण पृथिवीजलादीनां नियतप्रकारतैकस्वरूपत्वविरोधापत्तेः, तस्मा-त्सिद्धं मनुष्य आत्मेति सामानाधिकरण्यंमुख्यमेवेति–'एवंसति शरीरशरीरिभाव निवन्धन तादात्म्यस्य लोकसिद्धत्वाभाव कथन-मेवालौकिकमनन्तकृष्णस्य, लोकवेदयोस्सामानाधिकरण्यस्या-सकृदुक्तत्वात् ।

एतेन देव मनुष्यादिशब्दानामात्मविशेषणतयानियमेन भानेऽपि काल्पनिकमेवतादात्म्यंस्वीक्रियते, अतएव 'देहादिष्वा-त्मप्रत्ययोमिथ्येतिशंकराचार्य्य सिद्धान्त इति वदन्तोपिपरास्ताः, काल्पनिकत्वेप्रमाणाभावात् , लोकशास्त्रादिसिद्धार्थस्य केवलकपोल कल्पनामात्रेण निरसितुमशक्यत्वाच्च ।

किञ्चाद्वैतिनां सर्वस्याप्यर्थजातस्याधिष्ठाने कल्पितत्वेन मुख्यामुख्यकथैवमुधा केवलं व्यामोहनमात्रमेवतेषामिति ।

शंकराचार्य्योक्तिस्तु तच्छिष्येभ्य एव न प्रामाणिकेभ्यः, एतेनाध्यासनिवन्धनंवाधायां सामानाधिकरण्यमपि मुख्यमेव, इदंरजतमितिवदित्यपि निरस्तम् । अध्यासकथायाः पूर्वमेव निरस्तत्वात् ।

नहि यथार्थख्यातिवादिनां समक्षेऽध्यासकथा कथंचिदपि शोभना, अद्वैताभिमतानिर्वचनीयख्याति पक्षावलम्बनेनापि न युक्ता तस्याः पूर्वमेव निरस्तत्वात् ।

किञ्च शरीरादिशब्दानामिदं रजततुल्यताकथनमप्यसंगतम् । नहि रजत पदार्थस्येदमर्थेन सहापृथक्सिद्धविशेषणत्वमस्तीति, नाप्यद्वैतिनोपि तथा स्वीकुर्वन्ति, नहि मनुष्यादिशरीरं कदाचिदेवचेतनविशेषणं किन्तु चेतनापृथक् सिद्धमेवसर्वदैव, अपृथक्सिद्धत्वंच,

यावत्सत्तमसंवन्धानर्हत्वम् , एतादृशमेवापृथक्सिद्धत्वं- शरीरे न तथा रजतादीनां । किञ्च, इदं रजतमित्यस्यप्रातिभासिकत्वं शरीरादीनां व्यावहारिकत्वमित्यद्वैतदृष्ट्यापि गुरुभेदस्य सत्वेनेदंरजततुल्यत्व वचनमनन्तकृष्णस्यसाहसमात्रमेव ।

तथाचाध्यस्तवाचिनां शब्दानामधिष्ठानेमुख्यवृत्तत्वं वदन्तः शंकराचार्य्यप्रभृतयोपि परास्ताः, अध्यस्तवाचिनांपदानामधि-

ष्ठाने मुख्यवृत्तत्वस्य सकलदर्शनविरुद्धत्वेन विना स्पष्टं प्रमाणं तदङ्गीकारस्यायोग्यत्वात् ।

किञ्चाध्यस्त वाचिपदानामधिष्ठाने मुख्यवृत्तत्वे किंभ्रान्त-प्रयोगोमूलम्, उतप्रबुद्धप्रयोगः—न प्रथमः रजतपुरोवर्तिनो-ऽनध्यस्तत्वानधिष्ठानत्वबुद्ध्यैव तत्र रजतशब्द प्रयोग इति—तस्याध्यस्तवाचिनोऽधिष्ठानपर्यन्तत्वासाधकत्वात् । नह्यदेवदत्तत्वा-ज्ञानाद्देवदत्त शब्द प्रयोगो देवदत्त शब्दस्य यज्ञदत्तवाचित्वे-मूलं भवति । नापि द्वितीयः—रज्जु सर्प इतिप्रयोगः सर्पशब्दस्य प्रागनारोपित बुद्धमूल प्रयोगानुवादरूपत्वात्, आरोपितविषय शक्तिकल्पने मूलं न स्यादिति ।

तस्मादध्यस्तवाचिनामपिपदानामधिष्ठाने मुख्यवृत्त्वमिति कल्पनामात्रमेवेति-अतो बालोयुवा देवदत्त इत्यादौ लोकसिद्ध सामानाधिकरण्य दर्शनेन शरीरशब्देन शरीरिबोधोमुख्य एवेति, एतेनेदमपि व्याख्यातम् ।

(रक्षामणिः—२३५—पृ०—)

यदि देवदत्तो जानाति, इत्यादौ देवदत्तादि शब्देनात्मपर्य्यन्तस्यैव प्रतीतिरितिमन्यते—नेदं युक्तम्, 'शरीरम् नश्वरमित्यादिवाक्यैरात्म-पर्य्यन्त प्रतीत्यभावात्, अन्यथाऽत्मनोऽपिनाश इति समापद्यत इति ।

श्रीभाष्यादर्शननिमित्तमिदंचोद्यं रक्षामणिकारस्य यतः श्री-भाष्यकृद्भिरेवाशंक्य निरस्तम् । ननु च शाब्देऽपि व्यवहारे शरीरशब्देन शरीरमात्रंगृह्यते, इति नात्मपर्यन्तता शरीरशब्दस्य,

नैवम्–आत्मप्रकारभूतस्यैव शरीरस्य पदार्थ विवेकप्रदर्शनाय निरूपणात् निष्कर्षक शब्दोऽयमिति। अयम्भावः–निष्कर्षक शब्दो द्विविधः, 'वैवक्षिकनिष्कर्षकः' नियतनिष्कर्षकश्चेति' तत्र शरीरादि शब्दाः पदार्थविवेकनिरूपणाय नियतनिष्कर्षका अतो न शरीरंनश्वरमिति प्रतीतावात्मनोनाशप्रसंगाद्यवकाशः।

किञ्च देवदत्तो नश्यतीत्यस्य प्रमाणिकत्वेन विशिष्ट वेषेणात्मनोऽपि नाशः प्रामाणिक एव, अन्यथा प्रलयाद्यनुपपत्तेः ब्रह्महत्यादि प्रायश्चितविधायक शास्त्राणां वैयर्थापत्तेश्च—

मा हिंस्यात्सर्वाभूतानि, इति हिंसानिषेधक श्रुतेरसामञ्जस्यापत्तेश्च किञ्च श्रुतिरपि 'एतेभ्यः भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति' अतोविशिष्टवेषेण नाशः प्रामाणिकः, शिखीध्वस्त इत्यादौ–विशिष्टे विधिनिषेधौ भवतः विशेष्यबाधेसति विशेषणमुपसंक्रामतः' इतिनैयायिकैरपि विशेष्येध्वंसप्रतियोगितायाः बाधादेव विशेषण मात्रे स्वीक्रियते, तथैव देवदत्तोनश्यतीत्यादि-स्थले जीवस्य नित्यत्वबोधक श्रुतिबलान्नाशोनिवार्य्यतांनाम, इतित्वन्यादृशीचर्चा सर्वथानाशस्तु प्राप्तएवेति। अतोशरीर शब्देनात्मप्रतीतौ शरीरंनश्वरमिति प्रतीतावात्मनोपिनाश प्रसंग इतीदंचोद्यमनन्तकृष्णस्याज्ञाननिबन्धनं प्रसंगस्यसर्वाभिमतत्वात, जीवनित्यत्व श्रुतिबलेन, वेदान्तिनां नाशशब्दार्थस्यान्यादृशत्वे-नच वारणं त्वन्यादृशमेवेतिप्रौढाः।

(रक्षामणिः—२३५—२३६—पृ०—)

इदंतु न क्षोदक्षमम् , आकृत्यधिकरण विरोधेन गवादिशब्दानां जात्यादिबोधकत्वस्यैव मुख्यत्वेन व्यक्तिनां तत्र लक्षणयैव बोधस्य स्वीकारेण च तद्दृष्टान्तेन शरीरवाचकानामपि शब्दानां शरीरपर्य्यन्तत्वस्य लाक्षणिकत्वापत्त्या शरीरिपर्य्यन्तताया मुख्यत्वाभावात्। एतेन—अयुतसिद्ध विशेषण वाचिशब्दानां विशेष्यलक्षणा प्रतिबन्धकत्व मङ्गीकर्तव्यम्। अन्यथा जात्यदिशब्दानामपि सम्बन्धानुपपत्त्या क्वचिद् व्यक्तिपर्य्यन्तता प्रसंग इति श्रुतप्रकाशिकोक्तमपिपरास्तम् , उक्तप्रतिबन्धकतायां प्रमाणाभावात् , सम्बन्धानुपपत्त्या जातिवाचकशब्दानामपि लक्षणया व्यक्तिपर्य्यन्तताया इष्टत्वादिति।

(अत्र विशिष्टाद्वैतिनः)

इदमपि चोद्यमनन्तकृष्णस्याज्ञाननिबन्धनमेवेति। नहि पदार्थतत्त्वव्यवस्थितौ कस्यचित् सिद्धान्त विशेषेणप्रत्यवस्थानं युक्तम्। वयमप्यभ्युपगच्छामो यत्मीमांसकाः'हि गवादि शब्दानां जातावेव शक्तिः केवलाया जाते आनयनाद्यसंभवेन व्यक्तिपारतंत्र्याच्च व्यक्तौ लक्षणांस्वीकुर्वन्ति। परन्त्वेतावता किमायातम्। शरीरवाचकानां शब्दानां शरीरिपर्यन्तत्व इदमेव बाधकम्।

तर्हि कथं न प्रष्टव्याः स्वगुरवः शंकराचार्य्याः, सर्वस्यकार्य्ये व्युत्पत्तिरिति मीमांसकाः। सिद्धे व्युत्पत्तिरपि वेदान्तिनः। पूर्वभागेनैवोत्तर भागस्यापि गतार्थत्वमित्यन्ये। अगतार्थत्वमिति वेदान्तिनः। अविद्या मायामिथ्यादीनां विद्वेषकाः-

सर्वे । अद्वैतिनस्तुतत्सेवकाः । शरीरवाचकानां शब्दानां शरीरिपर्यन्तत्वे यदि सन्ति बहूनिप्रमाणानि तर्हिकथं कस्यचिदसिद्धसिद्धान्तविशेषेण शरीरिपर्यन्तत्व निराशः ।

गवादि शब्दानामपि व्यक्तौ न लक्षणा किन्तु व्यक्तावपिमुख्या एव शवादि शब्दः । लक्षणास्वीकारस्तु मीमांसकानामयुक्त एव ।

अन्यथा—अयुत सिद्धविशेषण वाचिशब्दस्यविशेष्यलक्षणांप्रति प्रतिबन्धकत्वकल्पने प्रमाणाभावेन जात्यादि शब्दानामपि सम्बन्धानुपपत्त्यविशेषेण क्वचिद् व्यक्तिपर्यन्तप्रयोग प्रसंगः। नच जात्यादि शब्दैः लक्षणयाव्यक्तिपर्यन्त प्रयोगइष्टः, गामानयेतिवत् जातिमानयेति प्रयोगप्रसंगात् ।

एतेन सम्बन्धानुपपत्त्या जातिवाचकशब्दानामपि लक्षणाव्यक्तिपर्पन्तताया इष्टत्वेन—

अयुतसिद्धंविशेषणवाचिशब्दानां विशेष्यलक्षणाप्रतिबन्धकत्वमंगीकर्तव्यम् , अन्यथा जात्यादिशब्दानामपिसंबन्धानुपपत्त्या क्वचिद्व्यक्तिपर्यन्तता प्रसंग इति, परास्तम् , इत्यनन्तकृष्णभ्रान्तोक्तिरपि निरस्ता—

जातिवाचकशब्दानामपि लक्षणयाव्यक्तिपर्यन्तताया इष्टत्वापादनस्यस्वेच्छाचारमात्रत्वात् । गामानयेतिवत्जातिमानयेति प्रयोग प्रसंगाच्चेति नच जातिमानयेतिप्रयोगः कैरपिदार्शनिकै-

रन्यैश्चस्वीकृतः, येनात्रापीष्टत्वापादने न निस्तारोऽद्वैतिनामिति।
तथाच गवादि शब्दानां व्यक्तिपर्य्यन्तबोधोमुख्य एव।

किञ्च—यदि जातिमात्रमेवमुख्यार्थस्तर्हिअमुख्यभूतद्रव्य-पर्यन्तप्रयोगादपि जातिमात्रे गवादि शब्दानां प्रचुरप्रयोगप्रसंगः, मुख्यार्थगुणसम्बन्धिविषय प्रयोगादपि मुख्यार्थेप्रचुरप्रयोगदर्शनात्, गंगाग्निसिंहादिशब्दानां कूलमाणवकादिविषयप्रयोगादपि मुख्यार्थेप्रचुरप्रयोगोदृष्टः, नतु व्यक्तिनिष्ठा गौः, व्यक्तिनिष्ठो महिष इति प्रयोगः। जातिरेवमुख्यार्थश्चेत् गवादिशब्दानां त्वतलादि नैरपेक्ष्यं च स्यात्, नहि गंगादिशब्दाः प्रवाहादि विषयप्रयोगे भावप्रत्ययान्ताः प्रयुज्यन्ते।

अतो गवादि शब्दानां व्यक्तिपर्यन्त प्रयोगोमुख्य एवेति सिद्धम्। विस्तरस्तु श्रुतप्रकाशिकायां दृष्टव्यः, यत्र व्यासाचार्य्यैः श्रीसुदर्शनसूरिभिरत्यन्तगम्भीरार्थपरिपूरितया गिरया निरस्ता लक्षणामीमांसकानामिति। न दृष्टाश्रुतप्रकाशिका-भवता। दर्शनेपि कीदृशीस्थीतिस्तत्रभवादृशानाम्।

किञ्च गवादिशब्दानां जातिबोध एव मुख्यः, व्यक्तिबोधस्तुलक्षणयेति मीमांसकमतंतु—

जातिं व्यक्त्या विहीनांस्पृशति न धिषणा तेन जातौ प्रवृत्ता,
शक्तिर्व्यक्तिंस्पृशेच्चेत् स्थितइह वचसां तद्विशिष्टावगाहः।
जातेर्बोधःस्वहेतोः स्थितिरपिहि भवेत् क्वापि गोत्वोक्ति-
नीत्या, शब्दात्तत्पारतंत्र्यंस्फुरति यदि परावोधने तन्न शक्यम्॥

इत्यादिभिः पदार्थतत्त्वविवेकरसिकैः श्रीमद्वेदान्ताचार्य्यैःरपि तत्त्वमुक्ताकलापे निरस्तम् ।

तस्मात् गवादि शब्ददृष्टान्तेनापि शरीरवाचक शब्दानां शरीरिणिमुख्यत्वेन 'तत्त्वमसीत्यादौ बोधोमुख्यएव श्रीभाष्यकाराणाम् । यतः तत्पदंहि सर्वज्ञं सत्यसंकल्पं जगत्कारणंब्रह्म परामृशति, तदैक्षतबहुस्यामित्यादिषु तस्यैव प्रकृतत्वात्, तत्समानाधिकरणंत्वंपदंचाचिद्विशिष्टजीवशरीरकंब्रह्मप्रतिपादयति, प्रकारद्वयावस्थितैकवस्तुपरत्वेन सामानाधिकरण्यं मुख्यमेवेति ।

अद्वैतिनांतु—प्रक्रान्त सर्वज्ञत्वसत्यसंकल्पत्वादीनां परित्यागः, तच्छब्दस्य प्रकृतपरामर्शित्वभंगः, सविशेषाभिधायितत्पदस्यत्वंपदस्य च केवले चितिमात्रे स्वरूपलक्षणास्वीकारः, तदर्थमविद्याद्यप्रामाणिक वस्तुकल्पनम् , यतोहि—अविद्या, भ्रमः, अध्यास, मिथ्यात्व, सत्तात्रैविध्यवाद, सत्त्वैक्यवादादिभिरेवाद्वैतिनः स्वाभिमतंपोषयन्ति, परन्त्वत्र न श्रुत्यनुग्रहं सूत्रानुग्रहं किञ्चिदपिपश्यामः, प्रत्युत—'अधिकन्तुभेदनिर्देशात्' 'अश्मादिवच्चतदनुपपत्तिः' इत्यादिभिः सूत्रैः, शंकराचार्य्याभिमतं जीवब्रह्मणोरभेदंनिरस्यन्ति वादरायणाचार्य्याः स्थापयन्ति च विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तम् ।

किञ्च—ब्रह्मण्यविद्याद्यप्रामाणिकार्थस्वीकारेऽपि नैकविधंसामानाधिकरण्यमद्वैतिनां 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यत्र: सर्वपदार्थघटकाचेतनस्य चेतनेन सहैक्यासंभवात् तत्रागत्याबाध स्वी-

कार:, चेतनांशेस्वरूपैक्यमिति काशकुशावलम्बनमेवेति। विशिष्टाद्वैतिनांतु शरीरशरीरिभावरूपमेकविधमेव सामानाधिकरण्यं सर्वत्र न वैरुप्यं क्वचिद्।

किञ्च–तत्त्वमसीत्यत्र ब्रह्मपृथक्सिद्धस्त्वमसीतिबोधस्त्वमर्थस्यापृथक्सिद्धत्वसंबन्धेन तत्पदार्थे ब्रह्मण्यन्वयः सामानाधिकरण्यंतु–अभेदापृथक् सिद्ध्यैतदन्यतरसम्बन्धावच्छिन्न प्रकारताशालिबोधजनकवाक्यमेव—

तथा च विनापिलक्षणादिक्लेशं तत्त्वमसीत्यस्यमुख्यार्थ निर्वाहे ब्रह्मणितिरोधानादिकल्पनंमद्वैतिनांस्वज्ञानतिरोधाननिबन्धनमेवेतिकश्चित्। नच जीवब्रह्मणोऽपृथक्सिद्धत्वबोधकप्रमाणाभाव इति वाच्यम्, न तदस्ति विनायत्स्यात् मयाभूतं चराचरम्, इत्यस्यैव सद्भावादिति–अतएव जीवब्रह्मणःपृथक्त्वं ज्ञानस्य मोक्षोपायत्व परा पृथगात्मानमिति श्रुतिरपि संगता भवति।

(रक्षामणिः—२४५—२४६—पृ०)

एतेन–'पृथगात्मानमिति श्रुतिरपि व्याख्याता, अविद्याऽन्तःकरणादि विविक्तस्वरूप चैतन्यज्ञानस्यैव 'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वेत्यनेन' विवक्षणात्, पृथक्तया परमात्मग्रहणस्य मोक्षसाधनतायामतात्पर्य्यात्, संमतंचैतत् श्रीभाष्यकारणामपि, ये चिदचिद्विशिष्ट परमात्मज्ञानमेव मोक्षसाधनं मन्यते। अत्र 'आत्मानं प्रेरितारं च पृथग्मत्वा' इत्युभयोः पृथग्ज्ञानं मोक्षसाधनतया यद्विवक्ष्यते' तदिदं

जीवात्मपरमात्मभेदज्ञानमोक्षसाधनताभिप्रायेण वा स्यात्, अथवा-उभयोरपि गृह्यमानरूपातिरेकेण केवलचैतन्यमात्र ज्ञानमोक्ष साधनताभिप्रायेण वा, नतु चिदचिच्छरीरक परमात्मज्ञान मोक्षसाधनताभिप्रायेण। तत्र प्रथमः कल्पोऽद्वैतिनामिव श्रीभाष्यानुयायिनामपिविरुद्ध एव, इत्यगत्या द्वितीयकल्प एव पर्यवसानं भवतीति।

(अत्र विशिष्टाद्वैतिनः)

तदपि श्रुतिविरोधादेवासंगतम्, 'पृथगात्मानं प्रेरितारंच मत्वाजुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति' इयं श्रुतिः जीव ब्रह्मणः पृथक्त्व ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनतां यदि वदति तर्हि अविद्याऽन्तः करणादि विविक्त चैतन्यज्ञानस्यैव मोक्षसाधकत्व वचनं भवतोऽत्यन्तमवद्धमक्षराननुगुणं च तत्रस्पष्टतः आत्मानं पृथगित्यनेनात्मपरमात्मपृथक्त्वज्ञानस्य मोक्षसाधनं वदति भगवती श्रुतिः, तत्राविद्याकेवलचैतन्यादिबोधक पदाभावेपि, अविद्यादि विविक्तचैतन्यज्ञानस्यैवमुक्तिसाधनत्वे श्रुतेस्तात्पर्य्यमुन्नयनमद्वैतिनां केवलं स्वैराचारादृते न किञ्चित्कारणंपश्याम इति।

पृथक्त्वज्ञानस्य श्रीभाष्यकारा अपि मोक्षसाधनतांनांगीकुर्वन्तीति भवतोऽज्ञानमत्र, श्रुति प्रमाण परतंत्राणां श्रीभाष्यकाराणां श्रुत्युक्तजीवपरमात्म पृथक्त्व ज्ञानस्यैवमोक्षसाधनतास्वीकारात्। स एव भेदः शरीरशरीरिभाव लक्षण इतितु घटक श्रुत्यादिप्रमाणाधीनत्वादेव, सर्वथातु पृथकत्वज्ञानस्यमोक्षोपायत्वे न विवादः, प्रमाणतंत्राणां शब्द एव परं प्रमाणम्। यथाचाह-भगवान्पतञ्जलिः-शब्दप्रमाणकाःवयम्, यच्छब्दाह

तदेवास्माकं प्रमाणमिति' तथा च पृथक्कृत्त्व ज्ञानस्य मोक्षोपायस्य स्पष्टत्वेऽपि केवलचैतन्यत्वे श्रुतेस्तात्पर्य्यवर्णनमनन्तकृष्णमहामहोपाध्यायस्य, अक्षराननुगुणमेवेत्याबालगोष्ठी प्रसिद्धमेतदिति।

अपिच भवदभिमतस्यापि निवर्तकज्ञानस्यमिथ्यारूपत्वात् तस्य निवर्तकान्तरंमृग्यम्। निवर्तकज्ञानमिदंस्वविरोधिसर्वभेदजातंनिवर्त्य क्षणिकत्वात्स्वयमेव विनश्यतीति चेन्न—तत्स्वरूप तदुत्पत्ति तन्नाशानां काल्पनिकत्वे न विनाशतत्कल्पनाकल्पक रूपाविद्याया निवर्तकान्तरमन्वेपणीयम्। तद्विनाशोब्रह्मस्वरूप मेवेति चेत्, तथा सति—निवर्तकज्ञानोत्पत्तिरेव न स्यात्, तद्विनाशेतिष्ठति तदुत्पत्यसंभवादिति श्रीभाष्यग्रन्थमनुद्य।

(रक्षामणिः—२४७—पृ०—)

घटस्वरूप तदुत्पत्त्यो मृदपेक्षायामपि घटनाशस्योपादानान्तरापेक्षा न दृश्यते घटनाशस्य मृद्रूपत्वादितिसत्कार्य्य वादिनां सर्वेषां सम्मतमिदम्, सतिचैवम्—अज्ञाननिवर्तिक ब्रह्मज्ञानस्याविद्यकत्वेपितन्नाशस्य निवृत्ताज्ञानरूपत्वस्यैवोचितत्वाद्, नाविद्यान्तर मपेक्ष्यते। तथाचाखण्डाकारवृत्तिनाशस्यस्वरूपमविद्या स्वरूपमेववक्तव्यम्। तच्च यदानष्टं ब्रह्मज्ञानेन तदाकथं तन्नाशार्थं निवर्तकान्तरमपेक्ष्येत। अखण्डाकारवृत्तिस्तु दग्धेन्धानाग्निवत् स्वयमेवोपशाम्पति, इति न तन्निवर्तनार्थ मधिष्ठानज्ञानान्तरमयेक्ष्यते, रजतादि निवर्तक शुक्तिज्ञान निवर्तनार्थं शुक्तिज्ञानान्तराद्यपेक्षापत्ते रिति तथाच न श्रीभाष्योक्त दोषप्रसरोऽद्वैतिनामिति॥

(अत्र श्रीभाष्यानुयायिनः)

तदपि तिमिराक्रान्तनेत्रेण सर्वानूभूतचन्द्र तिरस्कारमात्रमेवेति, तथाहि यदिदं वारंवारमिदमेवरटन्त्यद्वैतिनोऽखण्डाकारवृत्तिरेवाज्ञाननिवर्तिका, तत्र पृच्छामः, अखण्डाकारवृत्त्यात्मकं ज्ञानं किं शुद्धब्रह्मविषयकम् , उताविद्योपहितविषयकंवेति, नाद्यः, अधिष्ठानभूतस्वरूपस्यैवास्याप्यनिवर्तकत्वात् , अखण्डाकारवृत्तौ विशेषाभ्युपगमेऽस्मत्सिद्धान्त प्रवेशः, निर्विशेषभंगेन तवापसिद्धान्त प्रसंगस्त्वधिकः। नाप्यभिज्ञाप्रत्यभिज्ञादिदृष्टान्तवलान्निवर्तकत्वसंभवः, तत्रापिप्रत्यभिज्ञावाक्यस्यविशेषाभ्युपगमात् । अन्यथा तस्यापिभ्रमानिवर्तकत्वप्रसंगात् , स्वीकृतं च सर्वैरपि दार्शनिकैः प्रत्यभिज्ञावाक्यस्य विशेषत्वम् । नद्वितीयः–साक्षिप्रत्यक्षवत्भ्रमोपकारकत्वात् । नहि कारागारे स्वयंशृङ्खलानिगडितः कदाचिदपि परान् मोचने समर्थः, इत्याद्यभिप्रायेण कन्दूकवदद्वैतमतस्योत्क्षेपणेरतानां श्रीभाष्यकारवचनानामुत्तरमदत्वा केवलं किंचिदंशोद्धरणमात्रमप्ययुक्तमेव भवताम् । सत्कार्य्यावलम्बनमपिवैपरीत्यमेव—

घटनाशस्योपादानान्तरानपेक्षत्वेपि कारणान्तरापेक्षाऽस्त्येव, नहिकारणं विनास्वयमेव, घटादीनां नाशः, नच वध्यघातुकयोस्तादात्म्यं दृष्टम् ।

घट नाशस्य मृद्रूपत्वेऽपि तत्रावस्थाविशेषविशिष्टवेषेणोत्पत्तिनाशव्यवहारोपि विशिष्ट विषय एव, अन्यथा तत्राप्युत्प-

त्तिनाशव्यपदेशयोरसामञ्जस्यमेवस्यात् तथाहि—अद्वैतमते ब्रह्माज्ञाननाशः किं ब्रह्मस्वरूपातिरिक्तः, आहोस्वित्-ब्रह्मस्वरूपानतिरिक्तः, न प्रथमः, नाशस्यसत्यत्वस्वीकारे निर्विशेषत्वभंगेन सगुण सिद्धान्तापातात् , तापसिद्धान्तप्रसंगाच्च, तस्यमिथ्यात्वे च, मिथ्यापदार्थाणांकाल्पनिकत्वेन, तत्कल्पकाऽविद्यादीनामावश्यकत्वेन, न कदाचिदपि निःशेषाज्ञाननिवृत्तिः, तस्यापिनिवृत्तिस्वीकारे, तत्रापि सत्यत्वमिथ्यात्व विकल्पेन, अनवस्था प्रसंगः, निःशेषाविद्यानिवृत्त्यप्रसंगश्चेति। नापि द्वितीयः, पूर्वसिद्धाकारादिदानीन्तनाकाराद्वैषम्यमस्ति न वा, न प्रथमः, निर्विशेषत्वविरोधात् , तादृशस्यब्रह्मणः साध्यत्वेनानित्यत्वप्रसंगाच्चेति, नापि द्वितीयः, प्रतियोगिना साकमभावस्य विरोधात् , नहिघटध्वंसे घटोत्पत्तिः, तस्मादविद्यानाशोब्रह्मस्वरूपमिति स्वगोष्ठिजल्पनमप्यद्वैतिनां निर्मूलमेवेति।

एवंब्रह्माज्ञाननिर्तकतत्त्वमस्यादिवाक्यजन्याखण्डाकारवृत्तिविकल्पेनाप्यद्वैतिनां विद्रावणम्। अखण्डाकारवृत्तिनाशस्यब्रह्मस्वरूपत्वे निवर्तकज्ञानोत्पत्तिरेव न सेत्स्यति, तद्विनाशे तिष्ठति तदुत्पत्त्ययोगात् , नहि तद्घटध्वंसे तद्घटोत्पत्तिसंभवः, ब्रह्मस्वरूपातिरिक्तत्वेतु तदतिरिक्तस्यसर्वस्यमिथ्यात्वेनमिथ्या पदार्थाणांकाल्पनिकत्वेन तत्कल्पकाविद्यादीनामपि सद्भावावश्यकत्वेन, निवर्तकान्तरान्वेषणेत्वनवस्था, नाशस्यसत्यत्वे निर्विशेषत्वभंगश्चेति।

अखण्डाकारवृत्तिस्तु ब्रह्माज्ञानं नाशयति, वृत्तेः केन नाशः, तस्याः नाशकान्तरान्वेषणेऽनवस्था--एतेन —'अखण्डाकारवृत्तिस्तु दग्धेन्धनवत्स्वयमेवोपशाम्यती'ति शांकरभाष्योक्तिरपि परास्ता, अकारणकार्य्योत्पत्तिप्रसंगेन चार्वाकमत प्रवेशात्। सत्कार्य्यवाद सिद्धान्तविरुद्धत्वाच्च। दग्धेन्धनस्यापि न स्वयमेव नाशस्तत्रापिसत्कार्य्यवादिभिः परमेश्वर संकल्पस्य दाह्यभस्मीभावावस्थायाश्चकारणत्वस्वीकारात्, रजतादिनिवर्तकशुक्तिज्ञाननिवर्तनार्थशुक्तिज्ञानान्तरापत्तिरूपदूषणमद्वैतिनां शिरसितिष्ठत्येवेति। अखण्डाकारवृत्तेर्भ्रमरूपत्वमपियुक्तमेव, भामतीमताभिप्रायकत्वात्, तन्मते, उपहितस्यैववृत्तिविषयत्वम्, तस्य च मिथ्यात्वात्, वदन्तु महामहोपाध्याया एतेषां दूषणानां किमुत्तरमद्वैतिनां केवलं जीर्णगीतमेव भवन्तोऽपिपुरस्कुर्वन्ति, स्थले स्थले श्रीभाष्योक्तिपरास्ता इत्येव रटन्ति नच किञ्चिदपि विचारं प्रदर्शयन्ति यद्यनेनैव संतोपस्तर्हिसंतुष्यन्तु-अद्वैतिनां विचारस्तु-उत्तराभास इत्येवास्माकं पक्षः सच दृढ़ एवेति। यदपि कोऽयमध्यासस्य ज्ञाता इति श्रीभाष्यमुपलक्ष्योक्तम्।

(रक्षामणिः—२४८—पृ०—)

तत्रेदं विचारणीयम्-यद् श्रीभाष्यमते बन्धनिवर्तकं ब्रह्मज्ञानं, बद्धाश्रितम्, उत ब्रह्माश्रितम्, आद्येनिवर्तकज्ञानकर्मणोबद्धस्य तत्कर्तृत्वानुपपत्तिः, अथ यदि तत्र बद्धोननिवर्तते, किन्तु तद्विशेषणबन्धमात्रमितिस्वरूपानाशाद् न दोषस्तर्हि प्रकृतेपिजीवविशेषणान्तः कर-

णाद्यध्यासमात्रनिवृत्तिः, सतु स्वरूपनिवृत्तिः, अध्यस्तस्यजीवस्य निवर्तकज्ञानाश्रयत्वेऽपि चैतन्यस्वरूपानाशात् न विरोध इति ॥

तदपि कर्णेस्पृष्ट्वाकटिचालनमात्रमेवेति, तथाहि-ज्ञाता किं ब्रह्मव्यतिरिक्तः, उत अनतिरिक्तः, इत्येव श्रीभाष्यकाराणां विकल्पः, न प्रथमः, ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य भवन्मतेनिवर्त्यान्तर गतत्वेन कथमेकस्यैककालावच्छेदेन विरुद्धकर्मत्वकर्तृत्वद्वयसद्भावः, न द्वितीयः, तादृशनिवर्तकज्ञानंप्रति ब्रह्मणः, ज्ञातृत्वं किंस्वरूपमुताध्यस्तम् , न स्वरूपम् , निर्विशेषब्रह्मवादविलय प्रसंगात् , विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त स्वीकाराच्च, न द्वितीयः, अयमध्यासस्तन्मूलाविद्यान्तरंच निवर्तकज्ञानाविषयतया तिष्ठत्येव, निवर्तकज्ञानान्तराभ्युपगमे तस्यापि त्रिरूपत्वात् , ज्ञात्रपेक्षयानवस्थास्यात् ।

एवं स्पष्टाशयं श्रीभाष्यकाराणामजानन्तोभवन्तः, वृथैवश्रीभाष्योत्तरे यतन्ते । एतेन जीवः, न निवर्तक ज्ञानाश्रयः, निवर्तकज्ञानकर्मत्वात् , इत्यस्येन्धनादौ व्यभिचारापादनप्यपास्तम् । भावानवबोधात् , विरुद्धकर्तृत्वकर्मत्व प्रसंगस्य विषयत्वात् । नहि कालभेदेनैकस्यकर्तृत्वं कर्मत्वं निषिद्ध्यते किन्त्वेककालावच्छेदेनैव तादृश विरोधस्तु स्थिर एवेति, श्रीभाष्यमते जीवस्तु श्रुतिस्मृतिप्रतिपाद्यः, ज्ञानाधारः पदार्थभूतः, अद्वैतमते को नाम जीवपदार्थः यथाकाष्ठमयो हस्तीत्येवजीवस्तथा च कथं श्रीभाष्यसाम्यापादनमद्वैतिनामिति ॥

(अथ श्रुत्यर्थविचारः)

सदेव सौम्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयंब्रह्मेति सद्विद्याप्रकरणगतं वाक्यमिदं किंसजातीय विजातीयस्वगतभेदशून्यं निर्विशेषं ब्रह्मप्रतिपादयति, उतविशिष्टं ब्रह्म, तत्र यदिसृष्टिप्रकरणेषु मायोपहितं ब्रह्म कारणमुपात्तं स्यात्तदा निर्विशेषे तात्पर्य्यमुन्नेतुं शक्येत, नतुतदस्ति, चिदचिद्विशिष्टमेव ब्रह्मकारणंकारणप्रकरणेस्ववगम्यते-विस्तृतश्च श्रीभाष्यकारैः-तथाच सदेवेत्यादिवाक्यं विशिष्टमेव ब्रह्मप्रतिपादयति नतु मायावादि कल्पितं निर्विशेषं तस्य तु शश भृङ्गायमाणत्वात् ।

(रक्षामणिः - ८७ – पृ० —)

सदेव सौम्येदमग्र आसीदिति वाक्यं निर्विशेषवादस्यैवानुगुणम्, नतु सगुण ब्रह्म पारमार्थिकतावादस्य, नासदासीद् नो सदासीत तदानिम्। तम आसीत्, इत्यादिवाक्यानि सद्रूपं कारणं तमसाऽवृतमासीदिति बोधयन्त्यपि चित्सम्बन्धे कारणावस्थायां न प्रतिपादयन्ति, एतेन मायांतु प्रकृतिं विद्यात् मायिनन्तु महेश्वरम् इति श्रुतिरपि व्याख्याता। सतिचैवमज्ञानेन तमः शब्दवाच्येनावृतं सद्रूपेण प्रकाशमानं ब्रह्मैव जगतः कारणमिति ॥

(अत्र विशिष्टाद्वैतिनः)

यदुक्तं नासदासीद् नो सदासीत् तदानिं तमआसीदित्यनेन तमःशब्दवाच्येनाज्ञानेनावृतं ब्रह्मेति तदसंगतम्। तमः

शब्दस्यसूक्ष्मप्रकृतिवाचकत्वेनानिर्वचनीयाज्ञानवाचकत्वाभावात् , ब्रह्म, आवृतमित्यप्यसंगतं सर्वावभासकस्य ब्रह्मणः, अज्ञानेनावरणस्यासंभावितत्वात्—यथा च तम, माया, शब्देनानिर्वचनीयाज्ञानसिद्धिः, यथाच ब्रह्मणो नाज्ञानाद्यसंभवस्तथापूर्वमेव विवेचितः, श्रुतिगतैकाद्वितीयादिपदेनापि न निर्विशेष सिद्धिः, यथैको घट इत्युक्ते, एकशब्देन न घटगत रूप संख्यादीनां निषेधस्तद्वदत्रापि, एकं ब्रह्म इत्युक्तेऽपि—

न ब्रह्मगत ज्ञानगुणादीनां श्रुत्यन्तर प्रमितानां निषेधः प्रामाणिकः। एवमद्वितीय पदेनापि न निर्विशेषवस्तु सिद्धिसंभवः, अद्वितीयपदस्य तत्तुल्यत्व निवारणे तात्पर्य्यात् , व्युत्पत्तेर्लोकानुसारित्वाच्च, यथोक्तं श्रीभगवद्यामुनाचार्य्यस्वामिपादैः, संवित्सिद्धौ,

यथैक एव सविता न द्वितीयो नभः स्थले।
इत्युक्त्या नहि साविन्त्रा निषिध्यन्तेऽत्र रश्मयः॥
यथा चोलनृपस्सम्राडद्वितीयोऽत्र भूतले।
इति तत्तुल्य नृपति निवारणपरं वचः।
नतु तत्पुत्र तद्भृत्य कलत्रादि निवारणम्॥

अतः सदेवेत्यादिवाक्यस्य सविशेषत्व प्रतिपादने न किञ्चिद्बाधकमिति, श्रुत्यन्तरैकार्थ्यमपि भवति, यतः यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयंतपः पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते

(अथ श्रुत्यर्थविचारः)

सदेव सौम्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयंब्रह्मेति सद्विद्याप्रकरणगतं वाक्यमिदं किंसजातीय विजातीयस्वगतभेदशून्यं निर्विशेषं ब्रह्मप्रतिपादयति, उतविशिष्टं ब्रह्म, तत्र यदिसृष्टिप्रकरणेषु मायोपहितं ब्रह्म कारणमुपात्तं स्यात्तदा निर्विशेषे तात्पर्य्यमुन्नेतुं शक्येत, नतुतदस्ति, चिदचिद्विशिष्टमेव ब्रह्मकारणंकारणप्रकरणेऽस्ववगम्यते-विस्तृतश्च श्रीभाष्यकारैः-तथाच सदेवेत्यादिवाक्यं विशिष्टमेव ब्रह्मप्रतिपादयति नतु मायावादि कल्पितं निर्विशेषं तस्य तु शश शृङ्गायमाणत्वात् ।

(रक्षामणिः - ८७ - पृ० —)

सदेव सौम्येदमग्र आसीदिति वाक्यं निर्विशेषवादस्यैवानुगुणम्, नतु सगुण ब्रह्म पारमार्थिकतावादस्य, नासदासीद् नो सदासीत तदानिम्। तम आसीत्, इत्यादिवाक्यानि सद्रूपं कारणं तमसाऽऽवृतमासीदिति बोधयन्त्यपि चित्सम्बन्धे कारणावस्थायां न प्रतिपादयन्ति, एतेन मायांतु प्रकृतिं विद्यात् मायिनन्तु महेश्वरम् इति श्रुतिरपि व्याख्याता। सतिचैवमज्ञानेन तमः शब्दवाच्येनावृतं सद्रूपेण प्रकाशमानं ब्रह्मैव जगतः कारणमिति ॥

(अत्र विशिष्टाद्वैतिनः)

यदुक्तं नासदासीद् नो सदासीत् तदानिं तमआसीदित्यनेन तमःशब्दवाच्येनाज्ञानेनावृतं ब्रह्मेति तदसंगतम् । तमः

शब्दस्यसूक्ष्मप्रकृतिवाचकत्वेनानिर्वचनीयाज्ञानवाचकत्वाभावात् , ब्रह्म, आवृतमित्यप्यसंगतं सर्वावभासकस्य ब्रह्मणः, अज्ञानेनावरणस्यासंभावितत्वात्—यथा च तम, माया, शब्देनानिर्वचनीयाज्ञानसिद्धिः, यथाच ब्रह्मणो नाज्ञानाद्यसंभवस्तथापूर्वमेव विवेचितः, श्रुतिगतैकाद्वितीयादिपदेनापि न निर्विशेष सिद्धिः, यथैको घट इत्युक्ते, एकशब्देन न घटगत रूप संख्यादीनां निषेधस्तद्वदत्रापि, एकं ब्रह्म इत्युक्तेऽपि—

न ब्रह्मगत ज्ञानगुणादीनां श्रुत्यन्तर प्रमितानां निषेधः प्रामाणिकः। एवमद्वितीय पदेनापि न निर्विशेषवस्तु सिद्धिसंभवः, अद्वितीयपदस्य तत्तुल्यत्व निवारणे तात्पर्य्यात् , व्युत्पत्तेर्लोकानुसारित्वाच्च, यथोक्तं श्रीभगवद्यामुनाचार्य्यस्वामिपादैः, संवित्सिद्धौ,

यथैक एव सविता न द्वितीयो नभः स्थले।
इत्युक्त्या नहि सावित्रा निषिध्यन्तेऽत्र रश्मयः॥
यथा चोलनृपस्सम्राडद्वितीयोऽत्र भूतले।
इति तत्तुल्य नृपति निवारणपरं वचः।
नतु तत्पुत्र तद्भृत्य कलत्रादि निवारणम्॥

अतः सदेवेत्यादिवाक्यस्य सविशेषत्व प्रतिपादने न किञ्चिद्बाधकमिति, श्रुत्यन्तरैकार्थ्यमपि भवति, यतः यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयंतपः पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते

स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च एताः; श्रुतयः, ब्रह्मणः सविशेष-त्वं स्पष्टं प्रतिपादयन्ति, एतेन दृष्टान्तमपि व्याख्यातं भवति, यथा सौम्येकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं वाचारम्भणो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति मृत्पिण्ड दृष्टान्तेन परिणामवाद एव ज्ञायते--मृत्तिका-परिणामि कारणमिति सर्वं प्रसिद्धम्।

अद्वैतमतेतु ब्रह्म न परिणामिकारणम्, किन्तु विवर्तोपादानमेव, तथाच मृत्तिकादृष्टान्त विरोधोप्यद्वैतमते, उपसंहार दर्शनादितिचेन्न क्षीरवद्धि, 'परिणामात्' इति परिणामवादपरकबहु ब्रह्मसूत्र विरोधोप्यपरः विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तेतु-ब्रह्मणः परिणामि कारणत्वस्यस्वीकारात्, श्रुतिसूत्राणां सामञ्जस्यमेवेति।

इयान्विशेषोयत् 'तद्धीदंतर्ह्य व्याकृतमासीत्तन्नाम रूपाभ्यां व्याक्रियते' 'सन्मनोऽकुरुत' इत्यादि श्रुतिप्रामाण्यात् विशिष्टमेवब्रह्मकारणंविशिष्टाद्वैतसिद्धान्ते, तत्र 'खट्वायांशेते, प्रासादेशेते, इतिव्यवहारोयथा मुख्यस्तथा ब्रह्मपरिणमते' इतिव्यवहारोऽपि-मुख्य एवभवति। साक्षात्सम्बन्धेन ब्रह्मणः, निर्दोषत्वादि प्रतिपादकश्रुतयोऽपि सुरक्षिताः भवन्ति। अद्वैतमतेतुसर्वमेतत् श्रुतिसूत्रादि जातं वैयर्थ्यमेवेति। एतेन—

(रक्षामणिः—६०— पृ०—)

मृत्तिका दृष्टान्तेन न ब्रह्मस्वरूपं सिसाधयिषितम्, तस्य स्वतः सिद्धत्वात्, किन्तु तत्कार्य्यं प्रपञ्चमिथ्यात्वमेव। तच्चानुमान समर्पणेनाप्युपयुज्यते—

अयंपटः, एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव प्रतियोगी, पटत्वात्, पटान्तरवत्, इतिमिथ्यात्वानुमान प्रयोगएव सूचितो भवति। मृत्तिकेत्येव सत्यमितीत्तिशब्दप्रयोगस्तु मृद्घटयोरभेदेन कदाचित् मृत्तिका शब्देन घटस्यापि ग्रहणेन घटसत्यत्वमेवात्र वर्णितमिति शंका परिहारार्थम्। मृद्रूपं कारणरूपमेव सत्यम्, नतु कार्य्यरूपमिति ज्ञापनार्थंच। श्रीभाष्यमतेतु घटरूपेणापि घटस्य सत्यत्व स्वीकाराद् मृत्तिकैव सत्यमित्यनेनापि नेष्टसिद्धिरिति वैयर्थ्यमपरिहरणीयम्। तथाचाद्वैतिनामेव दृष्टान्त वाक्य स्वारस्यमित्युक्तिरपि परास्ता दृष्टान्तस्य मिथ्यात्वे तात्पर्य्याभावात्।

तथाहियदुक्तं नह्यत्र ब्रह्मस्वरूपं सिसाधयिपितंतस्य स्वतः सिद्धत्वात् किन्तु तत्कार्य्यप्रपञ्च मिथ्यात्वमेव। तत्र दृष्टान्तवाक्यस्य 'तत्कार्य्यप्रपंच मिथ्यात्ववर्णनमसत्। प्रपञ्च मिथ्यात्वस्य प्रागनवगमात्, तं प्रतिबुबोधयिषाविरहात्। अस्मिन्नवसरेदृष्टान्तोपदेश 'आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्ट' इतिवदस्वारस्यमेवाद्वैतिनाम्।

यदिच प्रपञ्च मिथ्यात्वस्यापरिज्ञानेपि वाचारम्भणमित्यनेनोपपाद्यत इति, तदपि न-प्रपञ्चमिथ्यात्व ज्ञानात्प्राक्, अद्वैताभिमतवाक्यार्थाज्ञानात्।

किञ्च—श्वेतकेतुं प्रति मिथ्यात्वबुबोधयिषाचेत्तदासर्वप्रसिद्ध 'यथा सौम्यैकया रज्वा सर्वं सर्पभूदलनाम्बुधारादि विज्ञातं भवतीति' रज्जुसर्पादि दृष्टान्तोपदेश एवावदत्, नचोक्तं तथा किन्तु सर्व प्रसिद्धसत्यभूतमृद्घटादि दृष्टान्तोदाहरणेन कार्य्यकारणयोरनन्यत्व एव तात्पर्य्यं तादृशदृष्टान्त वाक्यस्य,

कार्य्यकारणयोरनन्यत्वं तात्पर्य्यं तादृश दृष्टान्तवाक्यस्येति सूत्रकारः कण्ठरवेण स्पष्टं वक्ति—'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इति, तथाच मिथ्यात्वे तात्पर्य्योन्नयनमज्ञाननिबन्धनमेवेति।

अपिच मिथ्यात्वे प्रतिपिपादयिषिते 'वाचारम्भणमात्रमेव पर्याप्तम्:, मृत्तिकादिपदानां वैयर्थ्यमेव। किञ्च वाचारम्भण पदेन मिथ्या प्रतिपादनमपि भ्रम एव तेनतस्यालाभात्। हेतुवाक्यात्पूर्वमेव साध्यनिर्देशस्य सकल तार्किकाभिमतत्वेन प्रथमं हेतु निर्देशस्यान्याय्यत्वाच्च, नहि धूमात् पर्वतोऽग्निमानिति तार्किक सम्प्रदायः।

अतो दृष्टान्त वाक्यस्य तत्कार्य्य प्रपञ्च मिथ्यात्व वर्णनमनन्तकृष्ण महोदयस्यात्यन्तासंगतमेवपदपदार्थाज्ञान निबन्धनत्वमपि।

मृत्तिकापदेन घट ग्रहणेन घट सत्यत्व निवारणेन मृद्रूपं कारणरूपमेव सत्यं नतु कार्य्यरूपमित्यर्थवर्णनेन, इतिपदसार्थक्य कथनमप्ययुक्तमेव, मृद्घटयोः, सत्यत्वे विशेषाभावात्। यादृशं व्यावहारिकं सत्यत्वं मृदस्तादृशमेव व्यावहारिकत्वं घटस्यापि तथाच व्यावृत्त्या न किञ्चिदपि प्रयोजनम्।

किञ्च, मृद्रूपं कारणरूपमेव सत्यम्, नतुकार्य्य रूपमिति ज्ञापनार्थमितिपदमितिभवद्वाक्येनैवेतिपदेन कारण मात्रस्य सत्यत्वं

विकाररूपस्य घटस्य मिथ्यात्वमिति सिद्धौसत्यां मृत्तिकेत्येवेति श्रुतिघटक अन्ययोगव्यवच्छेदार्थक, एव शब्द वैयर्थ्येन पुनरपि घट्टकुट्टी प्रभातायितमेवाद्वैतिनामिति ।

किञ्च—अद्वैतदृष्ट्या विकारस्य वाचारम्भण पदेन मिथ्यात्वे सिद्धेसति, मृदः कारणत्वस्य, विकार पदेन घटग्रहणस्य च सकललोक सिद्धत्वेन मृद्रूप कारणमात्रस्यैव सत्यत्वे सिद्धेसति, इति, एव, पदयो वैयर्थ्यमपरिहरणीयमेव ।

अपिच—मृत्तिकाशब्देन घटस्यग्रहणेऽपि मृत्तिकात्व प्रकारक ज्ञानविषयत्वस्य मृत्तिकायामेव सम्भवेन तन्मात्रसत्यत्वेबाधाभावेन, इति पदसार्थक्यवर्णनमद्वैतिनामसंगतमेव; तस्मात् मिथ्यात्ववादिनाम् , इतिपदमेवपदंच वैयर्थ्यमेवेति विस्तरस्तु महाचार्य्यग्रन्थादिषुद्रष्टव्यः ।

तस्मात्—स्तब्धोऽस्युत्तमादेशमप्राक्ष्यः, येनाश्रुतंश्रुतंभवति अमतमतमविज्ञातं विज्ञातमितिपूर्ववाक्येन, अन्यज्ञानेनान्यज्ञानस्याघटमानतां मत्वाप्रष्टारं पुत्रं प्रति शिक्षयन् पिता, यथासौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातंस्यात् वाचारम्भणोनामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमित्याह—तत्र कार्य्यकारणयोः, द्रव्यैक्यमेव विवक्षितम् तथाच कारणज्ञानेन सर्वमपि कार्य्यजातं ज्ञातंभवतीत्यर्थः, तादृश दृष्टान्त वाक्यस्य विशिष्टाद्वैत सिद्धान्ते स्वारस्यं सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टं ब्रह्मैवकारणं तदेव स्थूलचिद-

चिद्विशिष्टवेषेणकार्य्यं च भवति, तथाच कारणरूप सूक्ष्मचिद-चिद्विशिष्ट ब्रह्मज्ञानेन कार्य्यभूतं स्थूलचिदचिद्विशिष्टं ब्रह्मज्ञातं भवतीति, अस्मिनपक्षे वैशिष्ट्यनियामकमपिदृष्टान्त वाक्यम-परमनुकूलंभवति।

नात्र, इतिशब्द वैयर्थ्यम्, यतो मृद्घटयोरुभयोः सत्यत्वावि-शेषेऽपि, इति हेतुप्रकरण प्रकारादि समाप्तिषु इतिकोश बलादिति शब्दस्य प्रकारार्थत्वेन मृत्तिकात्त्वप्रकारेणैव घटादीनां सत्यत्व प्रतिपादनेन, इतिपदं सार्थक्यमेवेति। एतेन---श्रीभाष्य मतेतु घटरूपेणापि घटस्य सत्यत्वस्वीकाराद् मृत्तिकैव सत्यमि-त्यनेनापि नेष्टसिद्धिरिति वैयर्थ्यमपरिहरणीयमिति रक्षामण्य-ज्ञानमपि निरस्तम्। घटरूपेणापि घटस्य सत्यत्व स्वीकारादि-त्यत्र, अवयविनोद्रव्यान्तरत्वेन यदि प्रश्नस्तर्हि, प्रश्नएवायुक्तः वेदान्तिमतेऽवयविनोद्रव्यान्तरत्वा स्वीकारात्, यदि तु कारणा-भिप्रायेण प्रश्नस्तर्हि--कार्य्यकारणयोः, सत्यत्वाविशेषेऽपि मृ-त्तिकात्व प्रकारेणैव घटसत्यत्व स्वीकाराददोष .इति---सन्तु-ष्यन्तु कारणाव्यतिरेकेणैव कार्य्याणां सत्यत्वं नतु कारणव्यति-रेकेणेति कार्य्यकारणयोर्द्रव्यैक्यादिति। अद्वैतिनांतु कार-णातिरेकेण।

कार्य्यस्यैवाभावात्, कथंकार्य्यकारणयो द्रव्यैक्य निया-मकंदृष्टान्तवाक्यं संगतं भवति। यदपि दृष्टान्त वाक्यस्य अयं पटः, एतत्तन्तु निष्टात्यन्ताभावप्रतियोगी पटत्वात्, प-

टान्तरवदिति मिथ्यात्वानुमाने तात्पर्य्यमुक्तम्, तदपि स्वगोष्ठिजल्पनमात्रमेव चित्सुखानुमानमिदं तदपि पूर्वमेव निरस्तम्। अतः, सदेवेत्यादिवाक्यं सविशेष विषयं न निर्विशेष विषय मितिसिद्धम्।

(रक्षामणिः—९८—पृ०—)

निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति, अत्रपरम विशेषणात्, भोगमात्र साम्यं सूत्रकारोक्तं वार्य्यते, किन्तु स्वरूपैक्यमेव वोध्यते, अतएव-आत्मा परेऽव्यये सर्वं एकी भवन्ति ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति इत्यादि श्रुतयोपि संगता भवन्तीति॥ तदप्यसंगतम्, परमशब्देन स्वरूपैक्यासंभवात्—

नहि जीव ब्रह्मणोः, स्वरूपैक्यं परमशब्देन वक्तुं शक्यते तेन तस्यालाभात्, 'साम्यशब्दः सादृश्यपरः, तत्रयदंशे जीव ब्रह्मणोः सादृश्यं तत्र निरवधित्वमेव परम शब्दकृत्यम्, 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' इति श्रुतौजीवस्य ब्रह्म गुणानुभवरूपं फलं श्रूयते, अतः परत्वविशेषणेन भोगमात्रे निरवधित्वमेवयुक्तं, सूत्रकारः स्वयमेव श्रुत्यर्थं वक्ति–'भोगमात्र साम्यलिङ्गाच्च' "जगद्व्यापारवर्ज्यं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्चे" त्याहिभिः। अत्र परमविशेषणेन 'भोगमात्रसाम्यंसूत्रकारोक्तं-वार्य्यते, इतिभवदुक्तिः, सूत्रकारद्रोहमूला, किं भोगमात्रेनास्ति-परत्वं येनैवमुच्यते 'परमज्ञानी' परमभोगीत्यादि स्थले, परमविशेषणेनोत्कृष्टत्वमेव सर्वसंमतम्, तद्वदत्रापि निरञ्जनः

परमंसाम्यमित्युक्तौ परमात्मा यथा आनन्दी तथा जीवोऽपि-मुक्तौ परमानन्दवान् भवति नच तत्र दुःखलेशोऽपि इत्येव परम शब्द कृत्यमिति ।

नहि देवदत्तस्यपरमसाम्योयज्ञदत इति कथनेन, देवदत्त यज्ञदत्तयोः, स्वरूपैक्यमपि दृष्टचरम् । किन्तु सादृश्ये, आत्यन्तिकत्वमेव परशब्दाभिप्रेतम् । तथाच—

'इदं ज्ञानमपाश्रित्य ममसाधर्म्य मागताः ।
सर्गेपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्तिते ॥

इति जीव ब्रह्मणो मुक्तौसाधर्म्य प्रतिपादक गीतावाक्यमपिपर मनुकूलं भवति । यतः स्पष्टमेव गीताचार्य्याः, मुक्तौ जीव ब्रह्मणोः, स्वरूपैक्यनिषेध पूर्वकं ब्रह्मसाधर्म्यं स्पष्टयन्ति । स्वरूपैक्यवादिनान्तु—'भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च' 'जगद्व्यापारवर्ज्यं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च' 'ममसाधर्म्य मागता' इत्यादि ब्रह्मसूत्राणांगीतावचनानांच विरोधोदुर्वारएव । ब्रह्मवेद ब्रह्मैवभवतीत्यत्रापि न स्वरूपैक्यमुक्तम् । इवार्थक एवशब्दः, 'इववद्वैवमेवेतिनैघन्टुकाः, इवार्थकमेवशब्दं वदन्ति, अतो ब्रह्मवेद इत्यस्य ब्रह्मसादृश्यं भवतीत्येवार्थस्तत्रापि मुख्यः । यथा 'वैष्णवं वामनमालभेत् , स्पर्धमानो विष्णुरेव भूत्वा, स इमान् लोकान् जयति' इत्यत्र विष्णुरेव भूत्वा, इति श्रवणेपि न स्पर्ध-

मानस्य साक्षात् विष्णुत्वम्, तथैव ब्रह्मवेदेत्यत्रापि न स्वरूपै-क्यम् । स्वरूपैक्यन्तु-

'आत्म परमात्मनोर्योगः परमार्थइतीष्यते ।
मिथ्यैतदन्यद्द्रव्यंहि नैतितद्द्रव्यतां यतः ॥

इत्यादिभिः, भगवता पराशरेणापि निषिद्धम्-जीवब्रह्मणो-र्योगः, स्वरूपैक्यम्, परमार्थ इति यदिष्यते, तन्मिथ्या, अर्थान्न स्वरूपैक्यं युक्तम्, अन्यस्य द्रव्यस्य तद् द्रव्यत्वायोगादित्यर्थः। एतेनैकीभवतीत्यपि व्याख्यातम्, प्रकृतनामरूपादिप्रहाण पूर्वकं तत्सादृश्यमेवाभिधत्ते श्रुति-'यथा नद्यःस्पन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपेविहाय' अत्रहि स्पस्टमेव नामरूपप्रहाण पूर्वकं तत्सादृश्यमुक्तम् । नहि नदीजल समुद्रजलयोः स्वरूपैक्यं किन्तु सादृश्यमेव अन्यथा, एकप्रस्थे जले द्विप्रस्थ जलमेलनेन त्रिप्रस्थो-पलब्धिरेवनस्यात्, उपलभ्यतेतु सर्वैरपि, अतोनस्वरूपनाशपूर्वक ब्रह्मस्वरूपापत्ति लक्षणोमोक्षः, किन्तु ब्रह्मस्वरूप रूपगुणानामपरि-च्छिन्नतयानुभवरूपं तत्किंकरत्व लक्षणमेव मोक्षः ॥ एतेन 'सत्यंज्ञान मनन्तं ब्रह्मे' तिश्रुतिरपि व्याख्याता, श्रुतिरियं सत्यत्वादि विशिष्टमेवब्रह्म प्रतिपादयति । अत्ररक्षामणि निष्कर्षः

(रक्षामणिः—१०२—१०३—पृ०—)

अद्वैतिनस्तुमन्यते सत्यंज्ञानमनन्तमितिलक्षणवाक्यं निर्विशेषपरमेवेति, नतु सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट कारणस्वरूप निरूपणपरम्। चिदचिद्विशिष्ट

ब्रह्मस्वरूपे ज्ञेयतया विवक्षितेऽसत्याज्ञानत्वान्तवत्त्वादिशंकाया, अनुद-येन सत्यत्वादि विशिष्टतया तल्लक्षणस्याप्रयोजनत्वात्, विशेषण भेदेन विशेष्यभेदापत्तेश्च, सत्यत्वज्ञानत्वानन्तत्वादीनामपि भिन्नाश्रयत्वाच्च, लोकेहि ज्ञानमन्तवदेव दृश्यते नानन्तम्। घटोऽनित्य इत्यादौ विशे-ष्यमात्रस्यानित्यत्वेनान्वयेपि, विशिष्ट वाचकस्य शब्दस्य विशेष्य मात्रपरत्वे न स्वारस्य हानिः, एवमत्रापि भवितुमर्हत्येव। सर्वेषां स्वरूप चैतन्यपरत्वे पदत्रय वैपर्थ्यापत्तिस्तु व्यावर्त्य भेदाङ्गीकाराद् नावसरति, तद्यथा सत्यपदेनासत्यव्यावृतिः ज्ञानपदेन जडव्यावृत्तिः अनन्त पदेन परिच्छिन्नव्यावृत्तिः। व्यावृत्तिश्चेयं शौक्ल्यादिकं यथा कार्ष्ण्यादि व्यावृत्तिः, तथा ब्रह्मस्वरूपमेव। शौक्ल्य ज्ञाने सति कार्ष्ण्याध्यास इवाखण्डब्रह्माकार वृत्त्यनन्तरं ब्रह्मण्यपर प्रपञ्चाध्या-सोऽपि बाधितएव, इति कथं शौक्ल्यादि वैषम्यमिति ॥

तदपिरक्षामणि कारस्य पिष्टपेषणमात्रमेवेति, 'सामानाधि-करण्यस्य स्वरूपमात्रपरत्वस्यादर्शनात्, सर्वत्र 'नीलोत्पलमित्या-दिस्थले-प्रवृत्तिनिमित्तभेदेन विशिष्टार्थाभिधायित्वमेव सामाना-धिकरण्यस्य। यदिच, लक्षणया स्वरूपमात्र परत्वमुच्यते, तर्हि सम्भवति स्वारसिकापगतौ, लक्षणाश्रयणमयुक्तमेव। गंगायां घोषः गभीरायांनद्यां घोप इत्यादौतु गत्यन्तराभावाल्लक्षणा-श्रीयते। नहि जले मत्स्याः, 'स्थलेघोष' इत्यादिष्वपि लक्षणा दृष्टा, यत्र स्वारसिकेन, अर्थावगतिस्तत्र कीदृशो लक्षणा। 'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति श्रुतौ, सत्यज्ञानादि पदानां ब्रह्म-विशेषणत्वेसिद्धेसति सत्यज्ञानादिपदैः, विशेषणांश त्यागेन लक्षणया स्वरूपमात्रोपस्थापकत्वमन्याय्यमेव। विशेषणानां

भिन्नाश्रयत्व कथनमप्यसंगतम् । देवदत्तो युवाश्यामः लोहिताक्षः, इत्यादौ वहूनां विशेषणानामुपसंहारदर्शनात् 'यदिच-'खण्डोगौः' मुण्डोगौः' इत्यादि निदर्शनेन भिन्नाश्रयत्वमुच्यते, तर्हीदमेव वक्तव्यं विरोधिविशेषणानां भिन्नाश्रयत्वम्, अविरोधि विशेषणानामेकाश्रयत्वमिति—अनुग्राहक विशेषस्योभयत्रसद्भावात् सत्यत्वज्ञानत्वानन्तत्वादीनां भिन्नाश्रयत्वोक्तिरप्यसंगता, लोकेतस्यादर्शनात्, एकस्मिन्नेव पुरुषे सत्यज्ञानादीनांसमावेश दर्शनाच्च यदि 'सर्वदेश' सर्वकाल 'सर्ववस्तु' परिच्छेदाभाव रूपमनन्तत्वमभिप्रेत्य विरोध उद्भाव्यते तर्हिताद्दशस्य लोकेऽदर्शनमात्रेण ब्रह्मण्यप्यनन्तत्वासंभवेन ताद्दश्याः श्रुतेरेववैयर्थ्यापत्तेः ज्ञानस्यलोकेऽन्तवत्वेन, ज्ञानस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽप्यन्तत्वापत्तेश्च, श्रुतिप्रामाण्यात्तु-सत्यज्ञानादीनामपि नित्यत्वमेव स्वाभाविकीज्ञानवलक्रियाचेत्याहश्रुतिः,

किंचसत्यज्ञानादीनामनित्यत्वेपि विरोधोद्भावनमेवाज्ञानकृत्यं, नहिविशिष्टे विशिष्टान्तरान्वयः क्रियते, किन्तु खलेकपोतन्यायेन सर्वेषां विशेष्य एव । तथाच सर्वेषांपदानां विशिष्टबोधकत्वे न काप्यनुपपत्तिलेशः । घटोऽनित्यइति निदर्शनेन विशिष्टवाचकस्य विशेष्यमात्रोपस्थापकत्वमपि स्वगन्धेनैवोक्तंभवता, घटोऽनित्य इत्यत्रापि घटत्व विशिष्टघट एवार्थः, घटपदस्य । तत्रानित्य पदार्थान्वयस्तु विशेष्यतायामेव नतु प्रकारतायाम्,

पदार्थः पदार्थेनान्वेति नतुपदार्थैकदेशे इतिव्युत्पत्तिविरो-

धात्. तन्मूलन्तु यत्किञ्चिदर्थनिष्ठ आकांक्षाभाष्यसंसर्गावच्छिन्न प्रकारता निरूपिताविशेष्यतासम्बन्धेन शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रतिमुख्यविशेष्यता सम्बन्धेनोपस्थितिः कारणमिति मुख्यत्वंच प्रकारत्वासामानाधिकरण्यरूपम् । अतएव घटत्वान्वयतात्पर्य्येणनित्योघटः इतिवाक्यस्याप्रामाण्यमिति, विस्तरस्तु-व्युत्पत्तिवादादिषु द्रष्टव्यः, तस्माद्विशिष्टवाचकस्य शब्दस्य विशेष्य परत्वमयुक्तमेव ।

सर्वेषां स्वरूपचैतन्यपरत्वे-लक्षणाप्रसंगः, पदत्रयाणांवैयर्थ्य प्रसंगश्च, नचसत्यपदेन, असत्यव्यावृत्तिः ज्ञानपदेन जडव्यावृतिः अनन्तपदेन परिच्छिन्न व्यावृत्तिः इति न वैयर्थ्य प्रसंग इतिचेन्न, व्यावृत्तेः, विशेषणत्वे विशेषणभेदात् विशेष्यभेदप्रसंगः, उपलक्षणत्वे पदान्तराणांवैयर्थ्य प्रसंगः यदिसर्वेभ्यः पदेभ्यः स्वरूपमात्रमेवोपस्थाप्यते तर्हि, एकेनैवपदेन स्वरूपस्य प्रतिपन्नत्वेन पदान्तराणां वैयर्थ्यमनिवार्य्यमेव ।

<u>सत्यादिपदानामर्थं विविच्य निरस्तं चाद्वैतमतं, भगवद्व्यासार्य्यैः, श्रीश्रुतप्रकाशिकाचार्य्यैः</u>,-तथाहि-स्वरूपमात्रैक्यपरत्वं सत्यादिसामानाधिकरणपदानामिति, तद्युक्तं विकल्पासहत्वात्, किं सत्यादिपदानि—तत्तत्पदार्थविरोधि व्यावृत्तिमात्रपराणि, उत स्वरूप मात्रपराणि उत विरोधिव्यावृत्त्यवच्छिन्न स्वरूपपराणीति, विवेचनीयम् । नतावद्विरोधिव्यावृत्तिमात्रप-

राणि, व्यावर्तमानानामनेकत्वे नैकार्थत्वासिद्धेः, व्यावर्त्यानेकत्वा-द्व्यावृत्तयोह्यनेकाःस्युः। नापि स्वरूपपराणि; तथा सतिपदा-नां पर्यायत्वप्रसंगात्, प्रवृत्ति निमित्त भेदाभावेन सामानाधि-करण्यलक्षणहानिप्रसंगात्, एकतरपदवैयर्थ्यप्रसंगाच्च। नापि-तदवच्छिन्न स्वरूपपराणि, विकल्पासहत्वात्, किं विरोधि व्यावृत्तीनां स्वरूपावच्छेदकत्वमुपलक्षणतया, विशेषणतया वा, न तावदाद्यःकल्पः, एकेनैवोपलक्षणेन स्वरूपंप्रतिपन्नमिति— उपलक्षणान्तरवैयर्थ्यात्। उपलक्ष्याद्बहिर्भूतोपलक्ष्य प्रती-त्युपायोधर्म उपलक्षणम्, इति ह्यु पलक्षणविदः, इत्यादिभिः सर्वमप्यद्वैत कुचेष्टितं निरस्तं विस्तरस्तु, श्रुतप्रकाशिकायामेव द्रष्टव्यः।

शौक्ल्यादि दृष्टान्तेन स्वरूपस्यैव व्यावृत्ति प्रतिपादनम-प्ययुक्तमेव, कार्ष्ण्य व्यावृत्तं शौक्ल्यमित्यादिषु, प्रतियोगिभेदस्य तत्तद्व्यावृत्त स्वरूपस्यच, शब्दोपात्तत्वात्। न च सत्यादिवाक्येन तथाप्रतीयते, येन स्वरूपं व्यावृत्तिरिति। किञ्च शौक्ल्यादेः कस्यचिद् द्रव्यस्य द्रव्यान्तराद् व्यावर्तकधर्मतया धर्मान्तरान-पेक्षत्वं युक्तम्, ब्रह्मणस्तुनतथात्वमिति, स्वरूपातिरिक्त व्यावर्तक धर्मान्तरापेक्षाऽस्त्येव। नहि परनिर्वाहकत्वं विना स्वनिर्वाहकत्वं कुत्रापिदृष्टम्। अतोनस्वरूपस्य व्यावृत्तित्वं परनिर्वाहकत्वाभा-वात्।

अपिच—शौक्ल्यादिस्वरूपस्फुरणे नकार्ष्ण्याद्यध्यासः, अत-

स्तत्र स्वरूपमेवव्यावृत्तिः, ब्रह्मणस्तुस्वरूप स्फुरणे तदितराध्यासा-भ्युपगमात्, अतः शौक्ल्यादि दृष्टान्तस्य बहुवैषम्यान्न-स्वरूपं व्यावृत्तिरिति। तथाच, रजतव्यावर्तकाधिष्ठानस्वरूपातिरिक्त शुक्तित्वादिवत्, अधिष्ठानब्रह्मस्वरूपातिरिक्त व्यावर्त्तक धर्मोऽभ्यु यगमनीय इति न स्वरूपं व्यावृत्तिः। यदप्युक्तं-शौक्ल्यादौ-दर्शनात्तथाभ्युपगम्यते, ब्रह्मण्यदर्शनात्स्वरूपमेवेति, तदपिनिर-स्तं पूर्वोक्तदिशैव,

व्यावृत्तिश्चेयं न भावरूपा, नाप्यभावरूपा, किन्तु, स्वरूप-मेवेति, तर्हिकेन प्रमाणेनेति, वदन्तु शांकरभाष्यकाराः, शंकरानु-यायिनोवा, श्रुतिप्रामाण्येन प्रत्यक्षेणवा, अथवा स्वगोष्ठिसंवादेन उत शौक्ल्यादि दृष्टान्तेन, नाद्यः, तथा विधायाः श्रुतेरभावात्, अद्याप्यनुपन्यासाच्च। नापिद्वितीयः, ब्रह्मणश्चक्षुरगोचरत्वात्, तथा-त्वेन चक्षुषापश्यति, इति श्रुति विरोधापत्तेश्च। नापितृतीयः, तस्य निरर्थककथामात्रत्वात्, प्राज्ञगोष्ठिबहिर्भावाच्च। नापिचतुर्थः तस्यचपूर्वमेव निरस्तत्वात् ब्रह्मणोऽपिगौणत्वापत्तेश्चेतितस्मान्न स्वरूपंव्यावृत्तिः।

सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्मकारणतावादे, 'असत्यत्व 'अज्ञान-त्व, अन्तवत्वादिशंकाया, अनुदयेन, लक्षणमेव वैयर्थ्यमित्यनन्त कृष्णमहोदयः। तत्रकारणप्रदर्शनमन्तरेणैवंविधोलेखः प्रामादि-कोऽप्रामादिकोवेति, जानन्तु विद्वांसः, नकिञ्चित्त्र कारणमुक्तं

तेन, अतोऽनावश्यकस्तत्र विचारः । अथ सगुणनिर्गुण श्रुतिं विमृशामः ॥

(रक्षामणिः—१०८—१०६—पृ०)

अद्वैतिनोऽपिनात्रविप्रतिपद्यन्ते - यत्सगुणनिर्गुणवाक्यानां सर्वेषां प्रामाण्यमिति । व्यावहारिक प्रामाण्यंहि सगुणवाक्यानामपिते स्वीकुर्वन्त्येव । पारमार्थिक प्रामाण्यमेवहि ते न स्वीकुर्वन्ति । सगुणवाक्यानि हि सगुणत्वं ब्रह्मणोबोधयन्ति नतु पारमार्थिकत्वमपि । नहि घटवान्देवदत्तो मासानन्तरं देवदत्तोघटाभाववानिति वाक्ययोर्विरोधोवाध्यबाधकभावोवा । तथाच तत्वसाक्षात्कारिपुरुषदृष्ट्या निर्गुणत्वं तद्रहित पुरुषदृष्ट्या सगुणत्व मिति, पुरुषभेदप्रयुक्त एव प्रामाण्याप्रामाण्ये तथाच न विरोधः, निर्गुणसगुणवाक्ययोः। किञ्च—व्यवहार दशायां गुणानां सगुणनिष्ठतया-प्रतीतिः, साक्षात्कारदशायां तु शुद्धचैतन्य सम्बन्धितया तदभावस्य प्रतीति, इतिदेश भेदादपि न विरोधः । तथाच निर्गुणादि वाक्येषु गुणपदस्य विना संकोचमविरोधोऽद्वैतिनाम् तत्सङ्कोचेनाविरोधसम्पादनमिति मुख्यार्थता हानिः श्रीभाष्यमते । किञ्च मुक्तिकालेऽपि सगुण ब्रह्मावस्थानेपि नास्माकं विरोधः, यतः, सोप्यस्माकं व्यवहारकाल एव छागपशुन्यायेन सगुणनिर्गुण श्रुत्योर्विरोधपरिहारोऽप्ययुक्तएव, सहि-न्यायः, भावरूप सामान्य विशेष विषयः, नतु—अभावरूप सामान्य विषयः अन्यथा-अग्नि षोमीयं पशुमालभेत इत्यस्य छागे, उपसंहारवत् , न हिंस्यात्सर्वाभूतानि इत्यस्य—न ब्राह्मणंहन्यात , इत्यनेनोपसंहारः तस्यच, नात्रेयं हन्यादित्यनेनोपसंहारः, समापद्येत । तथाचापहतपाप्मत्वादि विशेषनिषेधै र्न निर्गु णवाक्यानामुपसंहारः ।

किञ्च—छागपशुन्याये विशेषो व्यवस्थाप्यमान एक एव भवति,

ननु वहवः, अत्रतु वहवो विशेषाभावा व्यवस्थाप्यतया मन्यन्ते, इति न छाग पशु न्याय विषयतायां निर्गुणवाक्यानाम्, न केवलं न तन्न्यायानुगुण्यम्। किन्तु विशांकृत्वमात्रं ब्रह्मणः, स्यात् नापहत-पाप्मत्वादिकमिति, विराधाधिकरणन्यायोपस्थापनमप्ययुक्तम्, श्रुति-स्मृत्योर्विरोधेकस्य प्रावल्यमितिहि तत्रचर्चा नतु श्रुतिद्वयविषय इति।

(अत्र विशिष्टाद्वैतिनः)

तथाहि—यदुक्तं सगुणवाक्यानां व्यावहारिकत्वं प्रामाण्यं, निर्गुणवाक्यानांपारमार्थिकत्वमिति, तदयुक्तम्—सत्तात्रैविध्येप्र-माणाभावात्—तस्यचाद्वैतिनां कपोलकल्पितत्वात्। सगुणनि-र्गुणश्रुतीनांव्यावहारिकपारमार्थिकादिभेदमन्तरेण ब्रह्मणिप्रवृ-त्तत्वाच्च,

किञ्च—व्यावहारिकत्वस्याद्वैतदृष्ट्या मिथ्यात्वेन 'सगुण-श्रुतीनांमिथ्याविषयत्वेप्रमाणाभावात्' यावन्न किञ्चित् मिथ्यात्वे स्पष्टतरप्रमाणंप्रदर्श्यते तावन्निर्गुणश्रुतीनांव्यावहारिकत्व कथनं प्रतिज्ञामात्रमेव। किञ्च 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' 'निर्गुणं निष्क्रियंशान्तंनिरवद्यम्' इत्यत्र व्यावहारिक पारमार्थिक भेदक-पदाभावेपि, यदि स्वेच्छाचार मात्रेण व्यवस्था तर्हि—निर्गुण श्रुतीनांव्यावहारिकत्वेन मिथ्याविषयत्वं, सगुणश्रुतीनां पारमा-र्थिकत्वेनप्रामाणिकत्वमित्युक्तौ किमुत्तरमद्वैतिनां, वस्तुतो न किञ्चिदित्येव, एतेन—गुणबोधकश्रुतीनां सार्वदिकगुणवत्वे न किञ्चित्प्रमाणमित्युक्तिरपिनिरस्ता,—'परास्यशक्तिर्विविधैव

श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानवल क्रिया च यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादि श्रुतिभिः स्वरूपस्येव तद्गुणानामपिनित्यत्वस्यस्पष्टोक्तत्वात् , स्वाभाविकत्वंनाम—यावत्सत्तमसम्बन्धानर्हत्वं, तथा च स्वरूपस्यनित्यत्वे गुणानामपि नित्यत्वंसिद्धमेवेति ।

घटवान् देवदत्तोमासानन्तरं घटाभाववान् देवदत्तः, इति वदविरोधवर्णनमप्यसत्—दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यात् , घटस्य देवदत्तात् पृथक्सिद्धत्वं प्रत्यक्षप्रमाणेनावगतम् , अतएव कालभेदेन भावाभावयोर्न विरोधस्तत्र । शास्त्रैकसमधिगम्ये ब्रह्मणि शास्त्रमेव प्रमाणम् , तत्र सगुणत्व निर्गुणत्वयोरेकदैव कथनेन विरोधस्थित एव, अयम्भावः—यद्देशावच्छेदेन यत्कालावच्छेदेन देवदत्तेसंयोगेन घटवत्ता प्रत्ययः, न तद्देशावच्छेदेन तत्कालावच्छेदेन घटाभाववान् देवदत्त इति प्रत्ययः, तथात्वेतु—विरोधोबाध्यबाधकभावश्च दुर्वार एव, अतस्तत्र पृथक्सिद्धत्वेनदृष्टानांपदार्थाणां देशकालादिभेदेन निर्वाहः, नहितद्वत् ब्रह्मकिंचितकालमात्रं गुणवत् ततोनिर्गुणमित्याकारकंवाक्यमुपलभ्यते; येन देवदत्तोघटवान् मासानन्तरं घटाभाववानिति प्रयोगसाम्यत्वोक्तिः समीचीना ।

नच तत्वसाक्षात्कारिपुरुषदृष्ट्यानिर्गुणत्वमन्यापेक्षया सगुणत्वमिति न विरोधइति चेदिदमपि भ्रान्तजल्पितम् , वाक्यार्थज्ञानंप्रति, आकांक्षादिविशिष्ट पदार्थोपस्थितेरतिरिक्तस्य तत्त्वसाक्षात्कारादिरूपस्याकारणत्वात् ।

किञ्चाद्वैतदृष्ट्या तत्त्वसाक्षात्कारदशायां ब्रह्मातिरिक्तस्य सर्वस्याप्यभावात् , तत्रनिर्गुणसगुण श्रुतीनामप्यभावेन तेन विरोध निवारणमज्ञानकृत्यमेव ।

अपि च, तत्त्वसाक्षात्कार्य तत्त्व साक्षात्कारिपुरुषभेदेन व्यवस्थातदायुक्ता यदि 'एतेभागाः तत्त्वसाक्षात्कारि पुरुषंप्रतीतरेऽतत्त्वाधिकारिणंप्रतीति' वेदे विभागः क्वचिदुक्तस्स्यात् , नच तथोक्त अतोऽयुक्तएव तथा विभागः ।

किञ्च यावत्कालं तत्त्वसाक्षात्कारो न जातस्तावदुभयोनिर्गुणसगुणयोर्विरोधपरिहारः कथमद्वैतिनां तद्दृष्ट्या निर्गुणवाक्यानां वैयर्थ्यमपरिहार्य्यमेव ।

किञ्च—ग्राह्यभेदस्य ग्राहकभेदाधीनत्वे रूपस्पर्शादि भेदानां विलय प्रसंगः, एकस्मिन्नेवयागे हिंसाऽहिंसा वाक्ययोरन्वयेपि विरोधाभावश्च श्रुतीनामातात्त्विकत्वापत्तिश्च, अतः पुरुषभेदेननिर्वाहोऽतिजघन्यएवाद्वैतिनाम् । एतेन देशभेदेन निर्वाहोपि प्रत्युक्तः, निरवयवे ब्रह्मणि देशभेदादिकल्पनायाः निर्मूलत्वात् , देशभेदादिमन्तरेण श्रुतीनां प्रवृत्तत्वाच्चेति ।

तस्मादुपनिषत्सु परंब्रह्माधिकृत्य प्रवृत्ताः, सगुणश्रुतयः, निर्गुणश्रुतयश्च, तेषां च विषयविभागमन्तरेण विरोधस्य दुर्वचत्वेन विषयविभागेनैवाविरोधः समर्थनीयः, नच सगुणश्रुतीनामुपाधिविषयतया निर्गुणश्रुतीनामनुपाधिविषयतया विरोधाभाव इति वाच्यम्—'तद्धर्मावच्छिन्नवोधक पदा-

समभिव्याहृतस्य वाक्यस्यासतिबाधके धर्मिणि तद्धर्मावच्छिन्ना-भावबोधजनकत्वस्वाभाव्यत्वनियमेन' सगुणश्रु तीनामुपाधि विषयत्वाभावेनानुपाधिविषयत्वात् ।

अतस्सगुणनिर्गुण श्रु तिवाक्यानां सर्वेषामविशेषेण प्रामाण्ये स्थिते सति, 'उत्सर्गापवादन्यायेन' सामान्य विशेषन्यायेनवेति व्यवस्थेति श्रीभाष्यकाराः श्रीभगवद्रामानुजाचार्य्यस्वामिपादाः,

अयम्भावः—विरोधपरिहाराय सामान्यशास्त्रे विशेषशास्त्रेणसंका-चायोत्सर्गापवादन्यायः, सचन्यायः, वैयाकरणमीमांसकादिभि-स्सर्वैरपिदार्शनिकैराश्रीयते, तेनैवन्यायेन निर्गुण श्रुतेर्विहित' गुणव्यतिरिक्तत्वेन संकोचन विनापि बाध्यबाधकभावं निर्गुण सगुण श्रुतीनां परमं प्रामाण्यमिति । किञ्च सामान्य शब्दानां विशेषपर्यवसायित्वं 'गामानय' गांवधानेत्यादि' लौकिक व्यु-त्पत्तिसिद्धं तेन निर्गुण श्रुतेर्हेयगुणनिषेधविषयत्वेन न सगुण वाक्येन सह निर्गुणश्रुतेर्विरोधः ।

किञ्ज—अध्यात्मशास्त्रेषु गुणशब्दः सत्त्वरजस्तमस्सुप्रसिद्धः नहि तस्य गुणाः सर्वे सर्वैमुनिगणैरपि । वक्तुं शक्याबियुक्तस्य सत्त्वाद्यैरखिलैर्गुणैः । सत्त्वंरजस्तमइति प्रकृतेर्गुणाः, इति तथाच निर्गुणश्रुतेर्सत्त्वादिगुणनिषेधविषयत्वान्नविरोधः, दोष्यगुणबोध-कश्रुत्यादिभिस्सह ।

किञ्च सामान्यशब्दानां विशेषपर्यवसानस्य पश्वधिकरण सिद्धत्वेन, तेनैवन्यायेन निर्गुणश्रुतेर्हेयगुणपरत्वादपि न विरोध इति, तथाच,

ज्ञानं शक्तिबलैश्वर्य वीर्य्यतेजांस्यशेषतः ।
भगवच्छब्दवाच्यानि विनाहेयैर्गुणादिभिः ॥

इतिहेयदीव्यगुणनिषेध विधिपरं भगवत्पराशरवचनमपि परमनुकूलंभवतीति, एवं बहुधा-निर्वाहप्रकाराः दार्शनिकाः श्री-भाष्यकाराणां सिद्धान्ते, श्रीश्रुतप्रकाशिकाचार्य्यैः श्रीसुदर्शन-सूरिभिः विस्तृताश्चायमर्थाः । एतेनेदमपि निरस्तम्—

(रक्षामणिः—११४—पृ०—)

श्रीभाष्यकारमते तूपासनान्तरेषु प्रतीतानां ब्रह्मधर्माणां मोक्षसाधन ब्रह्मज्ञानेऽपि समन्वयस्य गुणोपसंहार विधया, स्वीकारात्, तत्र श्रुत-विशोकत्वाद्यपेक्षया नूतनो धर्मः कोवा निर्गुणवाक्येनोपदिश्यते—इति निर्गुणवाक्य वैयर्थ्यमपरिहरणीयमेवेति ॥

सत्यं, श्रीभाष्यकाराः, गुणोपसंहारविधया, उपासनान्तरेषु प्रतीतानां ब्रह्मधर्माणां मोक्षसाधन ब्रह्मज्ञानेपिसमन्वयंस्वीकुर्वन्ति, बादरायणाचार्य्याभिप्रेतश्चायमर्थः परन्तु न तत्र निर्गुणश्रुतेर्वैय-र्थ्यम्, तत्तच्छाखामात्राध्यायिनं पुरुषंप्रति तस्य साफल्यात, अयमेवार्थः भेदान्नेति चेदेकस्यामपीतिसूत्रेभगवताबादरायणा-चार्य्येण शिक्षितः प्रतिपत्तृभेदादेव प्रयोजनभेदः निर्गुणवाक्य-मात्राध्यायिनं पुरुषंप्रति निर्गुणवाक्यस्यापूर्वत्वमिति स्वबोधनी-यपुरुषगताज्ञानादि विरोधिनास्वानुपजीविना मानान्तरेणाग्राह्या-र्थत्वस्यैवापूर्वतारूपत्वात्—

अतएव 'तमेवविदित्वाऽतिमृत्युमेति' तमेवैकंजानथ, इत्यनयोर्वाक्ययोर्न वैयर्थ्यमिति, स्वीकृतश्चायमर्थः शंकराचार्य्यैरपि–तस्मान्निर्गुणश्रुतेः गुणोपसंहारविधयासमन्वयेपि-नापूर्वत्वानुपपत्तिलेशोऽपि श्रीभाष्यकाराणाम् यदपि छागपशु-न्यायोहिभावरूप सामान्यविशेष विषयः, नत्वभावरूप सामान्य विषयः। अन्यथा 'अग्निषोमीयंपशुमालभेते'त्यस्य छागउप-संहारवत् 'न हिंस्यात्सर्वाभूतानीत्यस्य न ब्राह्मणं हन्यादित्यनेनो-पसंहारः समापद्येत, इति तदप्ययुक्तं–'पशुना यजेत' इत्यत्र सामान्यवाचकं पशुपदं 'छागस्य वपायामेदस अनुब्रूहि' छागोवा मन्त्रवर्णादिति' विशेषदर्शनेन, विशेषछागरूपार्थपरं तथा च सामान्यवाचकानां शब्दानां विशेषे पर्यवसानंभवतीतिन्यायस्व-रूपम्, तत्र भावरूप सामान्यविशेषविषयत्वादिकल्पनमयुक्तं, तस्यज्ञाप्यांशवहिर्भावात्, फलाभावाच्च। 'न हिंस्यात्सर्वा-भूतानी'त्यस्य 'न ब्राह्मणंहन्यादित्यत्रोपसंहाराभावस्तु—सर्वा-भूतानीतिबहुवचनबलादेव, अन्यथा बहुवचनप्रयोगस्यवैयर्थ्यत्व-मेवापद्येत। एतेन छाग पशुन्यायेनैक एवार्थ विशेषो व्यवस्था-प्यतेनतु बहव इति वैषम्यापादनमपि निरस्तम्,

तादृशार्थस्यन्यायवहिर्भावात्, पशुनायजेत, इत्यत्रतु यावत्पशुकरणकयागासंभवादेवपशुगतैकत्वं विवक्षितं नतु न्याय-पारतंत्र्यादिति, अन्यथाभाव रूपत्वमेकत्वादिकमिव पशुत्व यागत्ववेदत्व सूत्रत्वादिकमप्यधिकस्यापिकल्पनेन, सर्वग्राह्यत्व-मेवक्षीयेतन्यायस्य,

अतस्सामान्यशब्दस्य विशेषेपर्य्यवसानमात्रेन्यायाभ्यनुज्ञा विशेषस्त्वेको वा अनेको वा यथा प्रमाणं यथासंभवोग्राह्यः; अत इदमपिनिरस्तम्—

छागपशुन्यायस्यैकवाक्यत्वमिति, न्यायप्रवृत्तौ सामान्यत्व विशेषत्वादीनामेव प्रयोजकत्वात्। किञ्च भिन्नवाक्यत्वेपि एष आत्मा अपहतपाप्माविजरो विमृत्युर्विशोकोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः इति श्रुतौ दीव्यगुणविधानस्य हेय-गुणनिषेधस्य दर्शनेन, इयमेव श्रुतिः, 'सामान्य विशेषन्याय' प्रवृत्तौ प्रमाणं भविष्यति, वस्तुतःभिन्नवाक्यत्वस्याप्रयोजकत्वा-न्नदोष इति।

विरोधाधिकरणस्यैव प्रसंग इत्यपि परास्तम् श्रुतिस्मृत्यो-र्विरोधेकस्य प्रामाण्यमिति हि तत्र चर्चा, इति यदुक्तं भवता तन्नूनंश्रुतप्रकाशिकाश्रवणनिवन्धनमिति।

नहि श्रीश्रुतप्रकाशिकाचार्य्याः विरोधिकरणन्यायेन निर्गुण श्रुतेर्बाधमिच्छन्ति, ते तु सगुणनिर्गुणश्रुतीनामविरोध-मेव शतधाः समर्थयन्ति। परन्तु, अपच्छेदनयेन सगुणश्रुतेः प्रतारकमद्वैतिनंप्रतिशिक्षयन्ति--न सगुणनिर्गुणश्रुत्योर्विरोधः कथंचिद्विरोधस्वीकारेऽपि--नात्रापच्छेदनयावतारः किन्तु विरोधाधिकरणन्यायस्यैवेति। अत्र श्रीश्रुतप्रकाशिका-'अतोविरोधाभ्युपगमेऽप्यनियतविरोध पौर्वापर्यविषयोऽपच्छेद-न्यायोनात्र प्रवर्तते, अपितु विरोधाधिकरणन्याय एव प्रवर्तते, तद्विषयेहि पौर्वापर्यनियमो, विरोधनियमश्च विद्यते।

तथाहि—औदुम्बरींस्पृष्ट्वोद्गायेदितिप्रत्यक्षश्रुतिः, औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या, इतिस्मृतिः। तत्र श्रुतिः प्रथमत एवप्रमितिंजनयति निरपेक्ष प्रमाणत्वात्। स्मृतिस्तुस्वमूल भूतश्रुत्यनुमानसापेक्षतया—विलम्बितप्रवृत्तिः, अतस्तत्र पौर्वापर्य्यं नियतम्, औदुम्बरीस्पर्शतद्वेष्टनयोर्विरोधश्च नियतः। इत्यादिकंबहुदूरमभिधाय, अन्तेस्वयमाशंक्योत्तरयन्ति—ननु तत्र श्रुतित्वस्मृतित्वेवाध्यवाधकभावप्रयोजके, नैवं स्मृतित्वश्रुतित्वयोः पौर्वापर्यहेतुत्वात्।

तेन सिद्धं पौर्वापर्यमेव वाध्यवाधकभावे हेतुरितिन्यायसाम्यात्सगुणवाक्यवलीयस्त्वमिति। यद्वामाभूद्विरोधाधिकरण न्यायः, अत्र उपक्रमाधिकरणन्याय एव प्रवर्तते विरोध पौर्वापर्यनियमात्, अतः सगुणवाक्य प्रतिवद्धत्वात् निर्गुण शास्त्रानुदय एवेति। इत्यादिभिः ग्रन्थैः श्रीश्रुतप्रकाशिकाचार्य्यैरद्वैताभिमतंपक्षंनिरस्य, अद्वैतसिद्धान्तदिशैव निर्गुणश्रुतेरप्रामाण्यं स्थापितं, रक्षामणि कुचोद्यमपि निरस्तं तत्रैव, अनन्तकृष्णमहामहोपाध्यायास्तु श्रुतप्रकाशिकोक्त पूर्वपक्षमादायैव वृथाः विरोधंप्रदर्शयन्ति नोत्तरवाक्यं पश्यन्ति। किञ्च न विरोधाधिकरणन्यायः सिद्धान्तपक्षः किन्तूपक्रमाधिकरणन्याय एव सिद्धान्तपक्षः, तेन निर्गुणवादस्याप्रामाण्यमेव, नच तस्योत्तरं किमपिदत्तं रक्षामणिकारेण केवलं मौनमेव स्वश्रेयस्करं ज्ञातं, श्रुतप्रकाशिकायां सहस्रधा अद्वैतमत निराशः कृतः,

आचार्य्यैः, नच तस्योत्तरं किमपि दत्तमद्वैतिभिः। तस्मात्सगुण निर्गुण श्रुतीनां परस्परं विरोध एवनास्ति—

इति वहुधा समर्थितं श्रीभाष्यकारैः। अद्वैतसिद्धान्तदिशा-कथंचिद्विरोधाभ्युपगमे-श्रीश्रुतप्रकाशिकोक्तरीत्या निर्गुणश्रुतीनामेववाध्यत्वं न सगुणश्रुतीनामिति। वस्तुतः सगुणनिर्गुण श्रुत्योरुभयोरपि तात्त्विकत्वमेव न कस्यापि वाध्यत्वमिति पूर्वमेव विवेचितमिति। एतेन—आनन्दं ब्रह्मणो विद्वानिति श्रुतिरपि व्याख्याता भवति, ब्रह्मणः निर्गुणत्वोक्तया, गुणबोधक श्रुतेः कथं प्रामाण्यमद्वैतिनामिति।

(रक्षामणिः—१२३—पृ०—)

'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् नविभेति' इत्यत्र राहोः शिर इतिवदभेदेऽपि षष्ठीस्वीकारेणाप्युपपत्तेः न धर्म धर्मि भावेन ब्रह्मव्यतिरेकआनन्दस्योक्त श्रुतिः प्रमाणमिति।

इदमुत्तरमनन्तकृष्णशास्त्रिणउपहासास्पदम्, श्रुतिस्तु निःशंकोचं ब्रह्मण इति षष्ठ्या ब्रह्मणस्तद्गुणानां च, आधाराधेयभावं वक्ति, तत्रौपाधिकत्वकल्पनं कथं सयुक्तिकम्। किञ्च 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' एष आत्मा अपहतपाप्मा विजरोविमृत्यु 'विंशोकः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' तमेवं विद्वानमृत इह भवति इत्यादि परःशताः श्रुतयः, ब्रह्मस्वरूपं तद्गुणानत्यादरेण प्रतिपादयन्ति न केवलमानन्दं ब्रह्मण इत्येकं वाक्यम्।

तथा च यदि प्रत्यक्षा च गोचरे वस्तुनि श्रुतिरेव प्रमाणं

तर्हि श्रुतिशरणानां यादृशार्थं वक्ति श्रुतिः तादृशार्थमेवस्वी-कर्तव्यं राहोः शिर इतिवदौपाधिकषष्ठ्युद्भावनमपिकेवलाज्ञान-निवन्धनं, राहुपदार्थ शिरपदार्थयोः भेदस्यासिद्धत्वेन तत्रह्यगत्या औपचारिक भेदमाश्रित्य षष्ठीविहिताभाष्यकारैः, अत्रतु— 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चने'ति श्रुतौ, आनन्दं ब्रह्मण इत्यनेननाधाराधेयभावस्यस्पष्टत्वेन तत्र भेदेषष्ठ्युप-त्तौ, गौणत्वेन श्रुतिपीडनमद्वैतिनामन्याय्यमेवेति—तस्मादानन्द श्रुत्यापि सगुणत्वं निर्बाधमेवेति, अतो न श्रुतिभिर्निर्विशेष ब्रह्मसिद्धिस्सर्वत्रश्रुतिभिः सविशेषब्रह्मत्वावगमादिति ।

गीताशास्त्रंतु जीवेश्वर प्रकृतिनिरूपणमुखेन सविशेष परमिति सर्वविदितम् , न तत्र निर्विशेषवादस्य गन्धमपि वर्तते । तत्तत्प्रकरण :परिशोधनपुरस्सरं श्रीभगवद्रामानुजा-चार्य्यपादैः गीताभाष्येसुव्यक्तमेतत् ।

अथ महर्षिप्रवर श्रीपराशरप्रोक्तः, श्रीविष्णुपुराणस्तु-ब्रह्मस्वरूपरूपगुणविभूतितदुपासनादि प्रतिपादकत्वेन विशिष्ट-विषयः, न तेनाप्यद्वैतिनां समीहितार्थलाभः निर्विशेषत्वेनाभास-मानानांश्लोकानां सम्यग्व्याख्यानेन निर्विशेषत्वभ्रमोपि-दूरीकृतः , श्रीभाष्यकारैः । रक्षामणिवाक्यानि यथावदुद्धृत्य प्रतिवदामः वयन्तु—

(रक्षामणिः—१५०—१५१—१५२—पृ०)

अद्वैतिनस्तु सविशेषविषयत्वे न विप्रतिपद्यन्ते परन्तुतज्ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वमितितु न तत्प्रकरणार्थः ।

षष्ठांशोहि विष्णुपुराणस्य नैमित्तिक–प्राकृतात्यन्तिक प्रलयनिरूपणाय प्रवृत्तः प्रथमाध्याय चतुष्टये नैमित्तिक प्राकृतप्रलयौ विवेचयन् सत्तामात्रात्मके तत्र ज्ञेयज्ञानात्मनः परे। न सन्ति सर्वभूतेशे नामजात्यादि कल्पना। स ब्रह्म परमं धाम परमात्मा सचेश्वरः। सविष्णुः सर्वमेवैतत् यतो ना वर्तते मतिः। प्रकृतिर्यामया प्रोक्ता व्यक्ताव्यक्त स्वरूपिणी। पुरुषश्चाप्युभावेतौलीयेते परमात्मनि। इति सूक्ष्मचिदचितोरपि ब्रह्मणिलयं प्रतिपादयति। तथाचापृथक्सिद्धिसम्बन्धेन प्रलयकाले न प्रकृतिजीवयोः परमात्मशरीरभावेनावस्थानम्। अनन्तरं निरस्तातिशयाह्लादसुखभावैकलक्षणा। भेषजं भगवत्प्राप्तिरेकान्ताऽऽत्यन्तिकीमता। इत्यात्यन्तिक प्रलयस्वरूपं मुक्त्याख्यं प्रतिपादितम्। अद्वैताभिमतैवमुक्तिर्विष्णुपुराणार्थ इति गम्यते। अत्र भगवत्प्राप्तिपदेन ब्रह्मप्राप्तिविवक्षणात् ब्रह्मणो निर्विशेषस्य भगवच्छब्दबोध्यत्वं कथं भवतीतिशंकायां परविद्याप्रतिपाद्यं यत्तदव्यक्तमजरमचिन्त्यमजमव्ययम्। अनिर्देश्यस्वरूपं च पाणिपादाद्य संयुतम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्। इत्यादि वाक्यगम्यं च स्वरूपं वस्तुगत्या न भगवच्छब्द वाच्यमेव, तथापि–अशब्दगोचरस्यापि तस्यवै ब्रह्मणोद्विज। पूजायां भगवच्छब्दः क्रियतेह्यौपचारिकः॥ इति श्लोकोक्तविधयोपचाराद् भगवच्छब्दवाच्यमिति परिहारोपि विष्णुपुराणत एवोक्तप्रकरणादवगम्यते।

अनेन च भगवच्छब्दबोध्यत्वमपि लक्षणादिनैवपरस्य ब्रह्मण इत्यद्वैतसिद्धान्त एव विशदं प्रतीयते विष्णुपुराणे॥

(अत्र विशिष्टाद्वैतिनः)

तत्र-यदुक्तं सविशेषविषयत्वे न विप्रतिपद्यन्ते परन्तु तज्ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वमितितु न तत्प्रकरणार्थ इत्यसंगतम्, ब्रह्मणः

सविशेषत्वेपि तद्विषयकज्ञानस्यमुक्तिसाधकत्वाभाव वचनस्यो-न्मत्तप्रलापमात्रत्वात्। यथा च विष्णुपुराणस्य सकललोकैक नायकस्य नारायणापरपर्य्यायस्य भगवतो विष्णोः प्रधानतया सविशेषविषयत्वं, तथा आबाल प्रसिद्धम्, अनन्योपासकस्यै-कान्तिकभक्तिनिष्ठस्य प्रह्लादस्य यथा मुक्तिप्रदे विष्णौप्रीतिः, परमात्मनः, नृहरिरूपेण दर्शन प्रदानं तदिदं सर्वं सविशेष ब्रह्मवादमेव प्रमाणयति,

प्रसन्न चारुवदनं पद्मपत्रोपमेक्षणम्।
सुकपोलं सुविस्तीर्णललाट फलकोज्वलम्॥

इत्यारभ्य किरीट चारुकेयूरकटकादिविभूषितम्। शार्ङ्ग-शङ्ख गदाखड्गचक्राक्षवलयान्वितम्॥ चिन्तयेत्तन्मयो योगीसमाधायात्ममानसम्। इत्यादिभिस्सविशेषध्यानमेव गीतं श्रीभगवत्पराशर महर्षिभिः—एतेन 'तमेवं विद्वानमृत इह भवति' तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवाक्षिणीत्यादि श्रुति-मप्यनुकूलं भवति, अत्र पुण्डरीकमेवाक्षिणीत्यस्य—प्रसन्न चारु-वदनंपद्मपत्रोपमेक्षणमित्यादिविशदव्याख्यानम् तमेवंविद्वा-नित्यस्य—किरीटचारुकेयूरकटकादि विभूषितमिति। अतस्सविशे-षध्यानस्यैव मुक्तिसाधनत्वं पुराणकाराभिमतम्, अन्यथा वेदेस-विशेषज्ञानस्य मुक्तिसाधकत्वे स्थिते सति—पुराणानां निर्वि-शेषत्व निष्कर्षे, वेदविरोधेनपुराणानामप्रामाण्यप्रसंगोऽनिवार्य्य

एव—अस्माकंतु वेदेऽपि सविशेषज्ञानस्यैवमुक्तिसाधकत्वदर्शनेन तदविरोधेन सविशेष प्रतिपादक पुराण वाक्यानामपि तत्रैवप रमतात्पर्य्यस्य सत्वेन न कोऽपि विरोधः।

किञ्च विष्णुपुराणप्रतिपाद्योहिपरमात्मानारायणवासुदेवाद्य-भिन्नः, विष्णुरेव स एव परब्रह्म पदवाच्यः सर्वेश्वरोनिखिल-जगदेककारणभूतः, निर्दोषस्वरूपश्च। अद्वैतिनांतु—

'तस्यैव विवर्ताः ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः' विष्णुर्विकल्पोज्झितः' इति वेदान्तपरिभाषाऽद्वैतसिद्धिग्रन्थादिदिशा—विष्णुरपिमिथ्या-भूतः, अविद्यापरिकल्पितश्च, यत इमान्यद्वैतवाक्यानिस्पष्टमेव ब्रह्मविष्णुमहेश्वरादीनामप्यविद्यया ब्रह्मप्रतिविम्बत्वमनीश्वर-त्वंच निर्धारयन्ति—तथा च कपोलकल्पनाशीलानामद्वैतिना-मनन्तकृष्णमहाशयानां कथं न विष्णुपुराणकर्तामहर्षि पराशरो-ऽद्वैतमत विद्रावकः-

तथाहि भगवद्भक्तिनिष्ठाग्रेशरैः, भगवत्पराशरमहर्षिभिः—

समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौस्वशक्तिलेशाद्धृतभूतसर्गः।
इच्छागृहीताभिमतोरुदेहःसंसाधिताशेषजगद्धितोऽसौ ॥
तेजोवलैश्वर्य्य महावबोधसुवीर्यशक्त्यादिगुणैकराशिः।
परः पराणां सकला न यत्र क्लेशादयः सन्ति परावरेशे ॥
संज्ञायते येनतदस्तदोषं शुद्धंपरं निर्मलमेकरूपम्।

इत्यादिभिः समस्तकल्याणगुणैकराशिः, शुद्धस्वरूपश्च यः परमात्मा स एव स्वसंकल्पेनाप्राकृत शरीरभाग् भवतीत्युक्तः।

शुद्धे महाविभूत्याख्ये परेब्रह्मणिशब्द्यते ।
मैत्रेयभगवच्छब्दः सर्वकारणकारणे ॥
संभर्तेति तथा भर्ताभकारोऽर्थद्वयान्वितः ।
नेतागमयितास्रष्टा गकारार्थस्तथामुने ॥
ऐश्वर्यस्य समग्रस्यवीर्यस्य यशसःश्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णांभगइतीरणा ॥
वसन्ति तत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि ।
सच भूतेष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः ॥
ज्ञानशक्तिबलैश्वर्य्यवीर्यतेजांस्यशेषतः ।
भगवच्छब्दवाच्यानिविनाहेयैर्गुणादिभिः ॥
एवमेषमहाशब्दोमैत्रेय भगवानिति ।
परमब्रह्मभूतस्यवासुदेवस्य नान्यगः ॥
तत्र पूज्य पदार्थोक्तिपरिभाषा समन्वितः ।
शब्दोयं नोपचारेणह्यन्यत्रह्यु पचारतः ॥
एवं प्रकारममलं नित्यंव्यापकमक्षयं ।
समस्तहेयरहितं विष्ण्वाख्यं परमं पदम् ॥
परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वरः ।
विष्णुनामा स वेदेषुवेदान्तेषु च गीयते ॥

अत्र शुद्धे परेब्रह्मणीत्यनेन नित्यशुद्धेपरमात्मनिभगवच्छब्दः प्रयुक्तः, तादृश भगवच्छब्दस्य तेजोबलादिरूपषाड्गुण्यपरत्वमपिस्वेनैवव्याख्यातम् । तथा च नित्यशुद्धःसमस्त-

कल्याणगुणात्मको यः परमात्मा स एव ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यादिरूप षाड्गुण्योपेतभगवच्छब्दवाच्यः स एव वासुदेव विष्णु नारायणादिपदेन व्यपदिश्यते । इतिमहर्षि पराशरस्यसिद्धान्तः ।

अद्वैतसिद्धान्तेहि—ब्रह्म-निर्गुणम् , तदेवाविद्यारूप दोषवशात् , जीव भावं च भजते, पुनरविद्यया विनिर्मुक्तं ब्रह्म-ज्ञातृज्ञेयशून्यं ज्ञानशक्त्यादिविरहितं ज्ञानमात्रमेवास्ते-सगुणं ब्रह्मतु-अविद्यारूपदोषदूषितं मिथ्याभूतमिति ।

तथा च परतत्वप्रतिपादकमहर्षिपराशरसिद्धान्तविरुद्ध एवाद्वैतसिद्धान्तःस्वतंत्रसिद्धःकाल्पनिकश्च, यतोहि—स्पष्टमेव पराशर महर्षयः, शुद्धेमहाविभूत्याख्ये परेब्रह्मणिशब्द्यते, मैत्रेय भगवच्छब्दः सर्वकारणकारणे समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ इच्छागृहीताभिमतोरुदेहः 'शब्दोऽयंनोपचारेण' शुद्ध—अस्तदोष—अमलादिपदैश्च, परब्रह्मणोनिर्दोषत्वं समस्तकल्याणगुणाकरत्वंसंकल्पादिमत्वं च प्रतिपादयन्ति, तदिदं सवमपि निर्विशेष ब्रह्मवादप्रतिकूलमिति, तथा च साधु गीतं महर्षिभिः—

ध्येयंसदा परिभवघ्नमभिष्टदोऽहम् ,
तीर्थांस्पदं शिवविरञ्चिनुतं शरण्यम् ।
भृत्यातिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं ,
वन्दे महापुरुषते चरणारविन्दम् ॥
संचिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दम् ,
वज्रांकुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम् ।
उत्तुंग रक्तविलसन्नख चक्रवालम् ,
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारमिति ॥

तथा च परतत्त्व प्रतिपादकविष्णुपुराण विरुद्ध एवाद्वैत सिद्धान्तः,

प्रकृति-र्या मयाख्याताऽव्यक्ताऽव्यक्तस्वरूपिणीत्यत्र सूक्ष्मचिदचितोर्ब्रह्मणिलयप्रतिपादनमप्यसत्, व्यक्ताऽव्यक्तपदेन सूक्ष्मचिदचितोर्ग्रहणासम्भवात् नह्यत्र सूक्ष्मचिदचिद्बोधकं किञ्चिदपिपदं लभ्यते, केवलमनन्तकृष्णशास्त्रिणः प्रमाणशून्यकथनमात्रमेवैतत्।

इदं वाक्यं प्रकृतिपुरुषयोर्ब्रह्मणिलयमात्रमेव प्रतिपादयति तादृशलयश्च सूक्ष्मावस्थापत्तिः, तस्य च भगवच्छरीरत्वं सर्वप्रमाणसिद्धम्। यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो-यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवीशरीरमित्यारभ्य—यो मृत्युमन्तरे-सञ्चरन् यस्य मृत्युः शरीरं यं मृत्युर्नवेद एष सर्वभूतान्तरात्मा अपहतपाप्मा दीव्योदेव" एकोनारायणः, तमः परेदेवे-एकीभवतीत्यादिश्रुतिगणैः, सर्वस्यसूक्ष्मचिदचित्पदार्थस्यस्थूल चिदचित्पदार्थस्य च भगवच्छरीरत्वश्रवणात्। महाप्रलयेपि सूक्ष्मचिदचित्पदार्थस्य सद्भाव आवश्यकस्तत्र च भगवद्व्यास-सूत्रमेवप्रमाणम्, 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति' न कर्माद्विभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च, महाप्रलये यदि जीवस्य तदीयकर्मणश्च, अभाव उच्यते—तर्हिदेवतिर्यङ्मनुस्यस्थावरात्मनोत्कृष्टमध्यमापकृष्टसृष्ट्या, अतिघोरदुःखयोगकरणाच्च ब्रह्मणिपक्षपातः, नैर्घृण्यं चावर्जनीय-

मित्याशंक्य भगवताबादरायणेन सूत्रद्वयेनजीवस्य तदीय कर्मणश्च महाप्रलयेपि सद्भाव उक्तः। महाप्रलयेपि सूक्ष्मरूपेण सर्वस्यावस्थानेश्रुतिरेवप्रमाणम् तद्धेदंतर्ह्यव्याकृत-मासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियते, अत्र श्रुतौ महाप्रलयेसर्वस्या-व्याकृतत्वमुक्तम् , अव्याकृतत्वं च नामरूपविभागानर्हत्वमेवेति, तथा च नामरूपविभागशून्यत्वमेव महाप्रलयपदेनव्यवहीयते।

किञ्च महाप्रलयस्वरूपं वदता भगवता पराशरेणैवहि— 'हिंस्रा हिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते। तद्भाविताः प्रप-द्यन्ते तस्मात्तत्तस्यरोचते॥ प्रधान कारणी भूता यतोवै सृज्यशक्तयः तेषां ये यानिकर्माणि प्राक्सृष्ट्याप्रतिपेदिरे,, इत्यादिभिस्तदानिं सवासनकर्मान्वितजीव बहुत्वादिकं दर्शितम्।

यदपि निरस्तातिशयाह्लादसुखभावैकलक्षणा। भेषजंभग-वत्प्राप्तिरेकान्ताऽऽत्यन्तिकीमतेति विष्णुपुराणवाक्यमादाय-अत्र भगवत्प्राप्तिपदेनब्रह्मप्राप्तिविवक्षणाद्ब्रह्मणोनिर्विशेषत्वस्य पर-विद्याप्रतिपन्नत्वेन, निर्विशेषब्रह्मप्राप्तिरेवमुक्तिरिति भगवत्पराशर-सिद्धान्त इत्युक्तमनन्तकृष्णशास्त्रिणा-तदप्यत्यन्ताज्ञानैकविलसि-तत्वाद्धेयमेवशास्त्रनिष्णातैः।

अत्र स्पष्टमेवभगवत्प्राप्तिरित्युक्तं नतुनिर्विशेषप्राप्तिः, निर्विशेष ब्रह्मणोभगवत्पराशरदृष्ट्या शशविषायमाणत्वेन तत्र ऋषेस्तात्पर्यकल्पनमनन्तकृष्णशास्त्रिणो हठकृत्यमेवेति। शुद्धे-

महाविभुत्याख्येपरेब्रह्मणिशब्द्यते। मैत्रेयभगवच्छब्दःसर्व कारण-कारणे ॥

इत्यनेन नित्यशुद्धे: परेब्रह्मणिभगवच्छब्द उक्तः, तादृश भगवच्छब्दस्य—ज्ञानशक्तिबलैश्वर्य्यादिरूप षाड्गुण्य परत्वमपि स्वेनैवोक्तम्, शब्दोऽयंनोपचारेणह्यन्यत्रह्यु पचारतः, अत्रो-पचारस्यस्वयमेवनिषेधश्चकृतः।

तस्य च 'समस्तकल्याणगुणात्मकोसौ, इत्यनेन समस्त-कल्याणगुणात्मकत्वमभिहितम्—तद्ब्रह्मपरमंनित्यमजमक्षरमव्य-यम्। इत्यत्र यः समस्तकल्याणगुणात्मकः प्रधान भगवच्छब्द-वाच्यश्चयः स एव परब्रह्मपदवाच्यः स एवाव्ययस्वरूपोज-स्वरूपोनित्यस्वरूपश्चेति—एवं परमात्मस्वरूपं विविच्य तत्र का-नाम मुक्तिरितिजिज्ञासायां—

निरस्तातिशयाह्लाद सुखभावैक लक्षणा।
भेषजं भगवत्प्राप्तिरेकान्ताऽत्यन्तिकीमता,

इति भगवत् प्राप्तिरेव जीवस्यमुक्तिः, भगवच्छब्दार्थश्च पूर्वमेवोक्तः तथा च सगुणब्रह्मप्राप्तिरेव मुक्तिरिति भगवत्परा-शर सिद्धान्तः, एवंस्वच्छसिद्धान्तस्यसत्वेपिनिर्विशेषब्रह्मप्राप्तिरेव मुक्तिरितिवदन् कथं संतुष्यत्यनन्तकृष्णशास्त्रिमहोदयः, ऋषिस्तु परस्मिन् ब्रह्मणि भगवच्छब्दस्य मुख्यत्वं वदति—अयंतु भग-वच्छब्दस्यगौणत्वमितिमहद्वैपरीत्यम्। यदि निर्विशेषेब्रह्मणि-

तात्पर्य्यंस्यात्कथंचिदपिऋषेस्तर्हिभगवत्प्राप्तिपदंविहाय निर्वि-शेषब्रह्मप्राप्तिः, निर्गुणब्रह्मप्राप्तिरिति वा स्पष्टशब्देन व्यवहार एव युक्तः, पूर्वप्रस्तुत सगुण ब्रह्मापेक्षया नूतनत्वान्निर्विशेष-वादस्य, तादृशव्यवहारादर्शनेन सगुण ब्रह्मप्राप्तिरेव ऋषि-सम्प्रदायः,

एतेन—निर्विशेषब्रह्मणः भगवच्छब्दबोध्यत्वं कथं भवतीति शंकायां परविद्याप्रतिपाद्यं यत्तदव्यक्तमजरमित्यादि वाक्यगम्यं च स्वरूपं वस्तुगत्या न भगवच्छब्दवाच्यमेव तथापि—अशब्द-गोचरस्यापितस्यवैब्रह्मणोद्विज ।

पूजायां भगवच्छब्दः क्रियतेह्यौपचारिक इतिश्लोकोक्त विधयोपचाराद् भगवच्छब्दवाच्यमितिपरिहारोपि विष्णुपुराणत एवावगम्यते, इत्युक्तिरपिनिरस्ता—परविद्याप्रतिपाद्यस्यब्रह्मण स्सविशेषत्वेन तत्र निर्विशेषत्वकथालेशस्याप्यभावात् ।

'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यंविभुं सर्वगतंसुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति-धीराः' इदं वाक्यम् नित्यत्वविभुत्व सर्वगतत्वादि विशेषणैः सविशेषंब्रह्मप्रतिपादयति, सर्वविधविशेषशून्यत्वरूपस्य निर्वि-शेषत्वस्यलोकेशशविषायमाणत्वेन— विनास्पष्टंप्रमाणंतदङ्गी-कारस्यायुक्तत्वात् । अतो न परविद्ययापि निर्विशेष सिद्धिः, 'अशब्दगोचरस्यापि तस्य वै ब्रह्मणोद्विज । पूजायांभगवच्छब्दः क्रियतेह्यौपचारिक'इति विष्णुपुराणावलम्बनेन भगवच्छब्दस्यौप-

चारिकत्वकथनमुत्स्वप्नमात्रमेवरक्षामणिकारस्य— 'शब्दोऽयंनोपचारेण ह्यन्यत्रोपचारत इत्यनेन परब्रह्मणि भगवच्छब्दवाच्यत्वोपचारत्वस्य निषेधः स्पष्ट एव कृतोमहर्षिणा। अशब्दगोचरस्यापि, इत्ययंश्लोकोमुक्तविषयस्तथा च न विरोधः, अतो न विष्णुपुराणेनिर्गुणवादस्यावसरः ,

(रक्षामणिः—१५२··पृ०—)

यत्तु श्रीभाष्यानुयायिनः—'अशब्दगोचरस्यापी'ति श्लोकेनमुक्तस्यैवोपचाराद् भगवच्छब्दवाच्यत्वं निरुप्यते मुख्यार्थस्तुसविशेषस्वरूपमेवेति, तत्राद्वैतिनोपि 'शुद्धेमहाविभूत्याख्ये' इत्यादीनां श्लोकानां सविशेषब्रह्मपरत्वे न विवदन्ते। इदमपि न विवादास्पदम्—यत् 'अशब्द गोचरस्यापि तस्यवै ब्रह्मणोद्विज। पूजायां भगवच्छब्दः क्रियतेह्यौपचारिक' इति मुक्तात्मपरमिति--इदमेव तु विवादगोचरः—यत् मुक्तात्मायंब्रह्मभूयमात्यन्तिकंप्राप्तोविगलितान्तःकरणाद्युपाधिकः स्वरूपतोब्रह्मणः पृथग् विद्यमान एवात्र ब्रह्मपदेन विवक्ष्यते यतः भेषजं भगवत्प्राप्तिरेकान्ताऽऽत्यन्तिकीमते'ति केवलानन्दभाव एव भगवत्प्राप्तिरितिवर्णितम्, अतो यावद्ब्रह्मसाक्षात्कारं तत्साधनार्थमेवसविशेष ब्रह्मोपसंहार इति ॥

ऋषेरभिमतं यदिसगुणब्रह्मतर्हिविवाद एव भवतां निरर्थकः, नहिकस्यचित् विवादमात्रेण तात्त्विकार्थविघातो नच घटस्य विवादमात्रेण पटत्वादिस्वरूपश्चदृष्टः, तथा च यदि सगुणब्रह्मणि न विवादस्तर्हि—विवादः क्व: किमसन्दिग्धेमुक्तात्मविषये, सोप्यसंगत एव नहि पराशर महर्षयः, निर्गुण ब्रह्मैक्यं

मुक्तिरिति निर्धारयन्ति किन्तु सगुण ब्रह्मप्राप्तिरेव मुक्तिरिति वदन्ति—स्वाभिनिवेशैकवशीभूताः भवन्त एव ऋषिसम्प्रदाय विरुद्धनिर्गुणवादावलम्बनेन ऋषिसिद्धान्त खण्डने रताः। अशब्दः गोचरस्यापितस्यवै ब्रह्मणोद्विज इत्यत्र ब्रह्म पदे न मुक्तात्मा ब्रह्म-भूयमात्यन्तिकंप्राप्तोविगलितान्तःकरणाद्युपाधिकःस्वरूपतोब्रह्मणः पृथगविद्यमान एवात्र बृह्मपदेन विवक्ष्यते' इत्युक्तिः भवतामत्य-न्तोपहासास्पदा-नहि बृह्मपदस्यैतादृशार्थे शक्तिर्लक्षणादिग्राहक-प्रमाणानुग्रहश्चपश्यामः केवलंकपोलकल्पनामात्रमेतद् भवतामिति।

बृह्मपरिवृढंसर्वतः-इतिभगवान्यास्कः बृहत्वात्बृंहणत्वाच्च तद्ब्रह्मेतिगीयते— इतिश्रुति— तस्मिन्नेवब्रह्मशब्दोमुख्यवृत्तो महामुनेः, इतिपौराणिकाः, ब्रह्मशब्देन च स्वभावतोनिरस्त निखिलदोषोऽनवधिकातिशयासंख्येय कल्याणगुणगणः पुरुषो-त्तमोऽभिधीयते। सर्वत्रहि बृहत्वगुणयोगेन ब्रह्मशब्दः। बृह-त्वंच स्वरूपेण गुणैश्च यत्रानवधिकातिशयं-सोऽस्यमुख्योऽर्थः सच सर्वेश्वरएव, अतोब्रह्मशब्दस्तत्रैवमुख्यवृत्तः—तस्मादन्यत्र तद्-गुणलेशयोगादौपचारिकः—इति श्रीभाष्यकाराः। तादृशब्रह्म शब्दस्यमुख्यत्वंपरस्मिन्नेवब्रह्मणीति 'परंजैमिनिर्मुख्यत्वात्' स्याच्चैकस्य 'ब्रह्मशब्दवदित्यादिभिर्ब्रह्मसूत्रकारा ब्रह्मशब्दस्य परस्मिन् ब्रह्मणिमुख्यत्वमन्यत्रचामुख्यत्वमभिमन्यन्ते।

तथा च सगुणब्रह्मैवब्रह्मशब्दमुख्यवाच्यमितिस्थिते--विनापि प्रमाणंब्रह्मशब्देन निर्गुणं ब्रह्मगृह्यते--इत्युक्तिरनन्तकृष्णशास्त्रिणः

कथं विद्वज्जनप्रेमास्पदाभविष्यति। तत्-परम्-ब्रह्म-इत्यादि-पदैरेव परब्रह्मणः प्रतिपादनं सर्वं सिद्धान्तसिद्धम्। एतैरेव पदै-र्महर्षिणापराशरेण सगुणब्रह्मणोर्निरूपणंकृतम्—

शुद्धेमहाविभूत्याख्ये परेब्रह्मणिशब्द्यतेमैत्रेयभगवच्छब्दः। समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ—तद्ब्रह्मपरमंनित्यमजमक्षरमव्यय-मिति च, एतादृशस्वरूपस्यऋष्यभिमतस्यब्रह्मणोमिथ्यात्वमभि-मन्यन्ते भवन्तः—किन्तुऋष्यनूदितनिर्गुणतत्वमेवपरमार्थ इति तन्मते—तथा च ऋषीणामपि यद्गूह्यतमंतत्त्वं तदपि जानन्ति श्रीमन्त इत्येव सिद्धम्।

अस्माकन्तु पराशरद्वैपायनादिऋषिवरकथितसिद्धान्त एव परमादरणीयः, स एव परमश्रेयस्करश्च—ऋष्यनूदितानां सिद्धान्त विशेषाणां सर्वथैवात्यन्ताभावंब्रूमोवयम्, ऋष्यनभिहितेष्यर्थे श्रद्धावन्तः, जड़मतय एव नतु पदार्थविवेककुशलाः सज्जनाः।

महर्षिणा पराशरेण परतत्वस्य निष्कर्षः सगुणब्रह्मवाद एव कृतः। अनन्तकृष्णस्तु, न तत्र तात्पर्यं ऋषेः किन्तु तस्य-मिथ्यात्वमेव—तात्पर्य्यंतु निर्गुण ब्रह्मवाद एव। तर्हितात्पर्य्य-ग्राहकं किमस्तिप्रमाणमिति वदन्तु शंकरानुयायिनः—किं ब्रह्मशब्दएव, तस्य तु सविशेष ब्रह्मबोधकत्वे न निर्विशेष-निर्गुणादीनां-प्रतिभटत्वात्। प्रमाणादिभिः पूर्वमेवोक्तत्वात्। सर्वत्रविष्णुपुराणे तत् परब्रह्मादिपदैसगुणब्रह्मणउपक्रमोप संहार-दर्शनेन तद्विरुद्ध निर्गुणवादे तात्पर्यकल्पनस्य शशविषायमाण-

त्वाच्च। ऋष्यभिहितेऽर्थेतात्पर्यस्यनिरसने नान्यत्राप्रामाणिकेऽर्थे तात्पर्यकल्पनंप्रकारान्तरेण ऋषिवाक्यानां तिरस्कार एवभवति।

किञ्च—अशब्दगोचरस्यापि तस्यवैब्रह्मणोद्विजे 'तिवाक्येब्रह्मपदेन निर्गुणब्रह्मणोग्रहणेन तस्य' चाद्वैतसिद्धान्ते सगुणापेक्षयोत्कृष्टत्वेन कथं न्यूनगुणारोपणेनोत्कृष्टस्यपूजाभवतीति—पूजायां भगवच्छब्दः क्रियतेह्यौपचारिक' इत्युत्तरवाक्यस्यानन्तकृष्णोक्तदिशा—अद्वैत सिद्धान्तेवैयर्थ्यमपरिहार्य्यमेवेति। नहिसमस्तवसुधाधिपस्यराज्ञः तन्न्यूनपुरुषसादृश्यारोपणेन कथंचिदपितस्य पूजाभवति—विशिष्टाद्वैतिनांतु सगुणब्रह्मणः सर्वस्मादपि परत्वेन 'अशब्दगोचरस्यापि तस्यवैब्रह्मणोद्विज। पूजायां भगवच्छब्दः क्रियतेह्यौपचारिक' अस्यश्लोकस्यमुक्तविषयत्वेनब्रह्मपदेनमुक्तस्यैव ग्रहणेन मुक्तस्यच भगवत्प्रसादद्वारा, आविर्भूतगुणाष्टकब्राह्मस्वरूपत्वेन तदपेक्षयानित्यप्रकाशस्वरूपस्य परमात्मनः पूज्यतमत्वेन तादृशपूज्यतमभगवच्छब्दस्यमुक्तात्मनिप्रयोगेण पूजात्वं स्वारस्येनावगम्यते यथालोकेपि 'समस्तवसुधाधिपस्यराज्ञः' 'त्व मिन्द्रोसि' इति वाक्यस्यपूजात्वं—नतु त्वं भृत्योसि, इति वाक्यं प्रयुज्यमानंसत्कारार्हंभवतीति।

तथा च निर्गुणब्रह्मणोब्रह्मपदेनग्रहणंकृत्वा तत्र प्रयुज्यमानस्यभगवच्छब्दस्यपूजात्वंवदन्ननन्तकृष्णशास्त्रिरत्यन्तं मोहसागरेमुह्यति। भगवत्प्राप्तिपदेनस्वरूपैक्यकथनमपि—अत्यन्त विरुद्धं तस्य—शब्दार्थनिर्णये लौकिक व्यवहारस्य कोशादीनांच

प्रयोजकत्वेन प्राप्तिपदस्य स्वरूपैक्यस्य—क्वाप्यदृष्टत्वात् । लोकेहि धनप्राप्तिः, गृहप्राप्तिरित्यादिषु स्वरूपैक्यस्यादर्शनात्, तथाच मुक्तस्य भगवत्प्राप्तिर्नाम कर्मनिवृत्तिपूर्वकाविर्भूत गुणाष्टक ब्राह्मस्वरूपत्वेनापरिच्छिन्न ब्रह्मानुभव एवेति—एतादृश मुक्तिस्वरूपमेव विवेचयता—

निरस्तातिशयाह्लाद सुखभावैकलक्षणा ।
भेषजं भगवत्प्राप्ति रेकान्ताऽत्यन्तिकीमता ॥

इतिमहर्षिणा पराशरेणोक्तम् ।

इदमेवहिमुक्तिस्वरूपम्, सोऽश्नुतेसर्वान् कामान् सहब्रह्मणा विपश्चिता रसह्येवं लब्धा, आनन्दीभवति, भोगमात्र साम्यलिङ्गाच्च, जगद्व्यापारवर्ज्यं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्चेत्यादिभिः श्रुतिसूत्रैः समर्थितं विस्तृतञ्च श्रीभाष्यकारैर्महताप्रबन्धेनेति । अथ प्रत्यस्तमितभेदं यदित्यस्यार्थो विचार्य्यते ।

रक्षामणिः—१६१—१६२—पृ०—

प्रत्यस्तमितभेदम्, इतिभेदसामान्य निषेधपरस्य कतिपयभेदमात्रनिषेधे तात्पर्यग्राहक प्रमाणाभावात् - स्पष्टमेव तत्रैवप्रकरणे भेदस्याज्ञानकृतत्व बोधनेनब्रह्माभेदस्यैवमोक्षत्व प्रतिपादनात्, प्रकरणस्यास्य निर्विशेष स्वरूपमात्र प्रकाशपर समाधिनिरुपण एवतात्पर्यम्, नतु सविशेष ब्रह्मविषय धारणामात्र निरुपण इत्यङ्गीकर्तव्यत्वेन निष्पन्नध्येय परामूर्त स्वरूपेणैव फलभूतेन प्रकरण पर्यवसानात्, शक्तित्रय विशिष्टस्यापरामूर्तस्य मन आश्रयता स्वीकारेपि प्रकरणस्य मनोनिवृत्तिरूप योगनिरुपणपरस्य

तत्र तात्पर्याभावाच्च, प्रत्यस्तमितभेदम्, इत्यादे र्यथाश्रुतार्थ स्वीकार एव युक्तः। प्रत्यस्तमित भेदमितिवाक्य प्रतिपाद्यं न योगयुजा चिन्तयितुं शक्यम्। द्वितीयं विष्णोरूपंतुयोगिध्येयम्, इतिवैलक्षण्यात् "समस्ता शक्तयश्चैताः, इति ध्येय विष्णुस्वरूप निरुपण परमेव नतु समाधौ भासमान स्वप्रकाश चैतन्य परम्। तथाच 'तस्यैव कल्पनाहीन स्वरूप ग्रहणंहि-यत्। मनसाध्यान निष्पाद्यं समाधिः सोऽभिधीयते' इति वाक्यानां सर्वेषां सामञ्जस्यं भवति, अन्यथा—द्वितीयं विष्णु संज्ञस्य योगिध्येयं महामुने। अमूर्तं ब्रह्मणो रूपं यत् सदित्युच्यतेबुधै' रित्यत्र परामूर्तस्यैवाश्रयत्व विवक्षायां "मूर्तं भगवतोरूपं सर्वापाश्रय निस्पृहमि" त्यनेन—न तद्योग युजा शक्यमित्यनेन च विरोधः स्यात्।

अयमत्र निष्कर्षः—चित्ताश्रयश्चतुर्विधः—परमूर्तम्, अपरमूर्तम्, परामूर्तम्, अपरामूर्तंचेति। तत्र परमूर्तं प्रसन्न चारुवदनादिविशिष्टम्, अपरमूर्तं हिरण्यगर्भादिः, परामूर्तं निर्गुणम्, अपरामूर्तं सगुणं ब्रह्मेति। आश्रयश्चेतसो ब्रह्मन् द्विधा तच्च स्वभावतः भूयमूर्तममूर्तंच परं चापरमेवच, इतिवाक्येनावगम्यते। तत्रच भावनात्रय प्रसंगः परमूर्तापरमूर्ता परामूर्तेष्वेव। परामूर्तेतु भावनात्रयात्ययात् ज्ञानमात्रेण मोक्षस्तथा च न कचिद्विरोध इति।

तत्रविशिष्टाद्वैतिनस्तु 'प्रत्यस्तमितभेदं यत् सत्तामात्र मगोचरम्। वचसामात्मसंवेद्यंतज् ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितमि' त्ययंश्लोको न प्रपञ्चापलापपरो नापि निर्विशेष वस्तु प्रतिपादनपरः किन्तु मुक्तस्वरूपपर एवेति मन्यन्ते—पूर्वापरापरामृष्टः शब्दोऽन्यां कुरुते मतिमिति' न्यायेन पूर्वापर परामर्शे नैवार्थो वर्णनीयः पूर्वापर परामर्श रहित शब्दार्थ निर्णयस्यान्यादृशत्वेन तेन तात्पर्य निर्णयस्याशक्यत्वात्। तथाच पूर्वापर प्रकरण

पर्यालोचनया मुक्तस्वरूपस्याध्येयत्व प्रतिपादन परोऽयंग्रन्थः। अयम्भावः—अस्मिन् प्रकरणे संसारैक भेषजतया योगमभिधाय योगावयवान् प्रत्याहार पर्यन्तांश्चोक्त्वा, धारणा सिद्ध्यर्थं शुभाश्रयं वक्तुं परस्य ब्रह्मणो विष्णोः शक्तिशब्दाभिधेयं रूपद्वयं" मूर्तामूर्त विभागेन 'द्वेरूपे ब्रह्मणस्तस्य मूर्तंचामूर्तमेवंच। क्षराक्षरस्वरूपेते सर्वभूतेषुच स्थिते।

अक्षरं तत्परं ब्रह्म-क्षरं सर्वमिदं जगत्। एकदेश स्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा। परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथेदमखिलं जगत्। इत्यादिभिः प्रतिपाद्य—तत्र किं मूर्तपदवाच्यो बद्धः ध्यान विषयः उतामूर्तस्वरूपोमुक्तः,

विष्णुशक्तिः पराप्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्यास्तथापरा।
अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥
यया क्षेत्रज्ञ शक्तिःसा वेष्टिता नृप सर्वगा।
संसार तापानखिलानवाप्नोत्यतिसंततान्॥
तया तिरोहितत्वाच्च शक्तिः क्षेत्रज्ञ संज्ञिता।
सर्वभूतेषु भूपाल तारतम्येन वर्तते॥

इत्यत्र तृतीय शक्तिरूप कर्माख्यविद्यावेष्टितत्वेनाचिद्विशिष्टस्य बद्धस्य भावनात्रितयान्वितत्वेनाशुभत्वान्नबद्धः ध्यान योग्यः, तथाच हिरण्यगर्भ पर्यन्तस्य बद्धत्वेन भावनात्रयान्वितत्वादशुभत्वेन मूर्तपदेन क्रोडीकारेण ध्यानत्वाभावः सिद्धः—'भूप मूर्त-

ममूर्तंचेत्यादिभिः मूर्तामूर्त शब्दाभ्यां रूपद्वयं प्रस्तुत्य, हिरण्य-गर्भादीन् निर्दिश्य 'मूर्तमेतद्धरे रूपं भावना त्रितयान्वितम्। इतिमूर्तशब्दवाच्यस्य हिरण्यगर्भादि पर्यन्तस्य जीवस्य भावना-त्रयान्वयोक्तिरपि तत्रैव विष्णुपुराणत अवगमात्—तथाच हिरण्यगर्भादि पर्यन्तं क्षेत्रज्ञं वस्तु न ध्यान योग्यमिति।

द्वितीयस्यामूर्तस्वरूपस्य मुक्तस्य कर्माख्या विद्याविरहिणोऽचिद्वियुक्तस्य भावनात्रयातीतस्य ज्ञानैकाकारस्य निष्पन्न योगिध्येयतया योग युङ्मनसोऽनालम्बनतया, औपाधिक दोष निराशेस्वयमशक्तत्वेन परमपुरुष श्रीमन्नारायण प्रसाद सापेक्ष शुद्धित्वाच्च न मुक्तोपिध्यान योग्यः। अतोऽपरशक्तिरूपं क्षेत्रज्ञाख्यं मूर्तं, परशक्तिरूपमिदममूर्तंच, क्षेत्रज्ञतापत्ति हेतुभूत तृतीय शक्त्याख्य कर्मरूपा विद्याच, इत्येतच्छक्तित्रयाश्रयं भगवदसाधारणम्, 'आदित्य वर्णं तमसः परस्तात्' इत्यादि वेदान्त सिद्धं मूर्तस्वरूपं 'समस्ताशक्तयश्चैता नृप-यत्र प्रतिष्ठिताः। तद्विश्वरूप वैरूप्यं रूप मन्यद्धरेर्महत्। इत्यादिभिः शुभाश्रय इत्युक्तं भगवता पराशरेण विष्णुपुराणे तथाच मुक्तस्वरूपस्य ध्याने शुभत्वाश्रयत्वनिषेधाय 'प्रत्यस्तमित भेदं यत्सत्तामात्रमलक्षणमित्यादिकमुच्यते—मुक्तस्याध्येयत्वे 'न तद्योग युजा-शक्यं नृप चिन्तयितुं यतः। द्वितीयं विष्णुसंज्ञस्य योगिध्येयं परं पदम्। इति विष्णोः शरीरभूतस्य द्वितीयस्य मुक्तस्य ध्येयत्व निषेध परं विष्णुपुराण वाक्यमपि परमनुकूलं विशिष्टाद्वैतिनामिति।

'आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ता जगदन्तर्व्यवस्थिताः ।
प्राणिनः कर्मजनित संसारवशवर्तिन ॥
यतस्ततो न ते ध्याने ध्यानिनामुपकारकाः ।
अविद्यान्तर्गताः सर्वे तेहि संसार गोचराः ॥
पश्चादुद्भूतबोधाश्चध्याने नैवोपकारकाः ।
नैसर्गिको न वैबोधस्तेषामप्यन्यतोयतः ॥
तस्मात्तदमलंब्रह्म निसर्गादेव बोधवत् ।

इति बद्धस्य मुक्तस्यच ध्येयत्व निषेधपरं परब्रह्मणएव ध्येयत्व प्रतिपादकं भगवत्शौनकोक्त वचनमप्यैकार्थ्य भवति, अद्वैतिनांतु सर्वमेतद्विपरीतमेवेति तथाच सविशेषवाद एव भगवत्पराशराभिमतः निर्विशेषवादस्तु शशशृङ्गायमाण एवतद्दृष्ट्या ।

प्रत्यस्तमितभेदमित्यनेन न सर्वविधभेद निषेधः किन्तु प्रामाणिक एवभेदनिषेधः । यतः, 'एकस्वरूपभेदस्तु बाह्य कर्मवृत्तिप्रजः । देवादिभेदेऽपध्वस्तेनास्त्यनावरणोहि-सः । इत्यत्र कर्मकृत देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरात्मक भेद निषेधस्य कण्ठोक्तत्वेन—प्रत्यस्तमितभेदंयत् सत्तामात्र मित्यत्रापि कर्मकृत देवादिभेद एव निषेधस्तथाच देवमनुष्यादि प्रकृति परिणाम विशेष संसृष्टस्याप्यात्मनः स्वरूपं देवमनुष्यादि प्रकृति परिणाम रूपभेदरहितं ज्ञानसत्तैकलक्षणमेवेत्यर्थः ।

'चतुर्विधोविभेदोऽयं मिथ्याज्ञान निबन्धनः । इत्यादिभिः

भगवता शौनकेनापि देवतिर्यङ्मनुष्यादि रूप चतुर्विधभेदस्यैव निषेधउक्तोनतु सर्वविध भेदनिषेधः।

सर्वविध भेदनिषेधे जीव ब्रह्मणोरपि परस्परं भेदनिषेधेसति तद्भेदवाचि 'पृथगात्मानं प्रेरितारंच मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति' ज्ञाज्ञौ द्वावजावीश नीशौ' द्वासुपर्णासयुजा सखायौ' अधिकन्तु भेदनिर्देशात्' इत्यादि श्रुतिसूत्रशत विरोधापत्तेः— तथाच प्रत्यस्तमित भेदमित्यस्य परमात्म विषयत्वं सर्वविध भेदनिषेध परत्वञ्च वदन्ननन्तकृष्णमहाशयोऽनुग्रहविषयएव भवतीति सिद्धम्।

एतेन—स्पष्टमेव तत्रैव प्रकरणे भेदस्याज्ञानकृतत्व बोधनेन ब्रह्माभेदस्यैव मोक्षत्व प्रतिपादनादित्युक्तिरपि निरस्ता। नहि सर्वविध भेदोऽज्ञानकृतः किन्तु देवादि भेदएव तस्यच पूर्वमेव विवेचितत्वात्, अज्ञान शब्दस्यच 'अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिति प्रमाणात् कर्मार्थत्वेन—अनिर्वचनीय परत्वस्यच लोकशास्त्रादि विरुद्धत्वेन—अज्ञानपदमनिर्वचनीय बोधक मित्यप्यद्वैतिनामाशामोदक मात्रमेवेति। यदपि स्वकपोल कल्पितमुक्तं भवता–अयमत्र निष्कर्षः. चित्ताश्रयश्चतुर्विधः परमूर्तम्, अपरमूर्तम्, परामूर्तम्, अपरामूर्तंचेति, तत्र परमूर्तं प्रसन्न चारु वदनादि विशिष्टम्, अपरमूर्तं हिरण्यगर्भादिः परामूर्तं निर्गुणम्, अपरामूर्तं सगुणं ब्रह्मेत्यादिकं तदपि कलिमलाक्रान्त हृदयत्वमेवावेदयति—परामूर्तं निर्गुणमेव तत्वं

परमार्थमन्यत्सर्वं सगुणादिस्वरूपं कल्पितमित्येव भगवद्धृदयं तदप्याशामात्रं सर्वविध गुणशून्यत्वरूप निर्गुण पदार्थस्य भगवत्पराशरस्य शशश्रृङ्गायमाणत्वात्। अद्वैत सम्मत निर्विशेष निर्गुणादि तत्त्वस्य न क्वाप्युपलब्धिः 'श्रीविष्णुपुराणे' समस्त कल्याण गुणात्मको ऽसौ स्वशक्ति लेशाद्धृत भूत सर्गः। इच्छा-गृहीताभिमतोरुदेहः संसाधिताशेष जगद्धितो ऽसौ। इत्यारभ्य भूयोभूयः समस्त कल्याणगुणात्मकत्वमध्यसन्ति भगवन्तं तत्रैव भगवच्छब्दस्य ज्ञानशक्ति वलैश्वर्यादि रूप षाड्गुण्यपरत्वं चोक्त्वा परब्रह्म पदवाच्ये समस्त कल्याण गुणात्मके परमात्मनि षाड्गुण्योपेत भगवच्छब्दस्य मुख्यत्वमपि स्थापयन्ति भगवत्पराशर महर्षयः। न पुनरेकेन श्लोकेन सगुणत्वं गायन्ति किन्तु भूयो भूयो वहुभिर्वाक्यैः सगुणत्वमेव परमात्मान मनुमोदयन्ति। निर्गुणं निर्विशेषंच तत्त्वं ब्रह्मपदवाच्यं—न किञ्चिदप्यस्तीत्यपि सगुणब्रह्म पारमार्थिकतावादेन स्पष्टयन्ति।

सो ऽहमिच्छामि धर्मज्ञ श्रोतुं त्वत्तो यथा जगत्।
वभूव भूयश्च यथा महाभाग भविष्यति॥
यन्मयंच जगद् ब्रह्मन् यतश्चैतच्चराचरम्।
लीनमासीद्यथा यत्र लयमेष्यति यत्र च॥

इत्यादिभिर्धर्मज्ञ पदेन ऋषिणा पृष्टो भगवान् पराशरः;—

'विष्णोः सकाशादुद्भूतं जगत्तत्रैव—च स्थितं
स्थिति संयम कर्ता ऽसौ जगतो ऽस्य जगच्च—स॥

इत्यादिभिर्जगदुत्पत्ति स्थितिलयैककारण भूतं ब्रह्मादिपदवाच्यं परतत्त्वं भगवन्तं विष्णुमेव पुरस्करोति, तादृशस्य स्वरूपस्य मिथ्यात्ववादिनामद्वैतिनां सर्वथैव विष्णुपुराण ग्रन्थस्तत्कर्ता भगवान् पराशरश्च प्रतिकूल एवेति सुनिश्चितप्रचमिति ।

किञ्च—"आश्रयश्चेतसोब्रह्मन् द्विधातच्च स्वभावतः ।
भूय मूर्तममूर्तंच परंचापर मेवच ॥

इत्यनेनैव वाक्येन चतुर्धा विभागोऽपि महामहोपाध्यायानन्तकृष्ण शास्त्रिणो मृगतृष्णा मात्रमेव । यतः द्विधा पदेन स्पष्टमेव मूर्तामूर्त स्वरूप भेदेन द्विविधस्य बद्धस्य मुक्तस्य च ग्रहणे न चतुर्धोक्तिं तिरस्करोति । परमपरन्तु न स्वतंत्रं किन्तु मूर्तं बद्धेजीवेऽपरं विशेषणम्, अमूर्तं मुक्तेपरं विशेषणमेवेति अमूर्तस्य मुक्तस्य मूर्त बद्धापेक्षया परत्वस्य सकलश्रुति स्मृतिसूत्रादि सिद्धत्वात् । अत्राद्वैतिनां द्विधा पदं सर्वथैव प्रतिकूलमेवेति, तथाच चतुर्धा विभागोऽयुक्तएवेति ।

किञ्चद्वेरूपे ब्रह्मणस्तस्यमूर्तंचामूर्तमेव चेत्यत्रशक्ति शब्दवाच्य मूर्तामूर्तस्यविष्णोः शरीरत्वेन विष्णोरपिशक्ति कथनं षष्ठीस्वारस्य विरुद्धमेवेति ।

यथासक्तो जलेवातो विभर्तिकणिक श्शतं ।
शक्तिः सापि तथा विष्णो प्रधान पुरुषात्मनः ॥

इत्यत्र तत्रैव विष्णुपुराणे विष्णोःशक्तिरिति स्पष्ट दर्शनेन विष्णुरपिशक्तिरितिमन्दप्रयोगः। तस्माच्छक्तित्रयाश्रयोदिव्य विग्रह एवोपास्यत्वेनोच्यते विष्णुरेवशक्तिश्चेद्कथं विष्णोर्विग्र-हैकदेशो विष्णोरेवाश्रयः, तदाश्रयभूतोविग्रहो ब्रह्मणः सम्भवः शक्ति शक्तिमतो पृथक्त्वप्रतिपादक विष्णुपुराण विरोधश्च— तस्मात् सगुणस्वरूप पारमार्थिकतावादे विष्णुपुराणे न निर्विशेष वादस्यावसरलेशोपीति, एतेनाविकारायेति मंगल श्लोकोपिं-व्याख्यात उपक्रमोपसंहारयोः, सविशेषत्वस्य दर्शनेन तदविरो-धेनैवार्थस्य वर्णनीयत्वात् ॥

(रक्षामणिः—१५८--१५६—पृ०—)

अद्वैतिनस्तुमन्यन्ते—

अविकाराय शुद्धाय नित्याय परमात्मने।
सदैक रूप रूपाय विष्णवे सर्व जिष्णवे ॥
नमो हिरण्य गर्भाय हरये शंकराय च।
वासुदेवाय ताराय सर्गस्थित्यन्त कारिणे ॥

एकानेकस्वरूपाय, इतिपरमोपक्रमे प्रथमेन श्लोकेनाविकार—निरतिशय सद्रूप सर्वभासकस्वरूपाय सर्वदाऽध्यारोपानन्तरं कार्यभावानन्तर-मपि कल्पितेन धर्मेण वस्तुनोऽधिष्ठानस्य सधर्मकत्वस्य पारमार्थिक-स्यासंभवात् सर्वदैकरूपाय च परोक्षरूपेणानुसन्धाय नमस्करणाद्-निर्विशेषस्यैव ग्रहणम्। द्वितीय श्लोकस्तु हिरण्यगर्भ हरिशंकरादि सविशेषरूपेण परमात्मस्वरूपानुसन्धानपरः कारणरूपेणैवतं नमस्कार्य-तया मन्यन्ते सत्यं सविशेषपरः परन्तु कारणरूपं न सत्यमितिबोध-नार्थमेव—एकानेकस्वरूपाये'ति तृतीयश्लोकारम्भः तथाच कल्पितमनेक

रूपत्वं पारमार्थिकमेकरूपत्वमित्येकमेवाद्वितीयमिति वाक्यार्थएव संगृह्यते। श्रीभाष्यमतेतु—एकरूपत्वं चिदचिच्छरीरकस्य कथमपिनोपपद्यते। ज्ञानस्वरूपमिति श्लोक विरोधश्चेति तदेक वाक्यतयैव—परः पराणामित्यादीनामपि नयने कर्तव्ये रूपवर्णादि निर्देश शून्यत्ववत् सर्वविशेषणान्तर शून्यत्वस्यापि "रूपवर्णादि निर्देश विशेषण विवर्जितः" इतिश्लोकार्धेन प्रतिपादनेन चिदचितोश्शरीर शरीरिभावस्यापि निषेधाच्च निर्विशेष परत्वमेव प्रतीयते।

अयमत्र निष्कर्ष :—सविशेष वाक्यमात्रं प्रमाणम्। निर्विशेष वाक्यन्त्वप्रमाणमिति श्रीभाष्यमतम्। उभयोरपि यथा सम्भवं प्रामाण्यमितित्वद्वैतमतम्। तथाच सविशेषवाक्यानां कल्पितेनैव प्रामाण्यमिति॥

तत्र यदुक्तम्—अयमत्र निष्कर्षः 'सविशेषवाक्यमात्रं प्रमाणम्, निर्विशेषवाक्यंत्वप्रमाणमिति श्रीभाष्यमतमिति तदिदं समुद्रघोषप्रायम्—परम वैदिक श्रीभाष्य सिद्धान्ताज्ञानंच द्रढयति, वेदत्वावच्छेदेनैव सर्वाण्यपि वाक्यानि श्रीभाष्यकाराणामेकरूपेणैव प्रमाणानि तथैव वेदाविरोधि वाक्यान्यपि। प्रामाण्याप्रामाण्यादिदूषणमद्वैतिनामेवेति, सर्वस्यापि वेदवाक्यस्यैक रूपेण प्रामाण्यस्य सर्वराधान्त सिद्धत्वेपि—निर्विशेषबोधकं वाक्यं परमार्थ विषयं सत्यं, सगुणवाक्यं कल्पित विषयं मिथ्याचेत्यादि विभागस्य श्रुति स्मृतिसूत्रादि विरुद्धत्वेपि वेदविध्वंसनायस्वयमेवकल्पयन्त्वद्वैतिनः, नचेदृशंभेदं श्रीभाष्यमते किन्तु वाक्यंचेत्सर्वमेव प्रमाणमित्येव श्रीभाष्यकारमतम्। यादृशं प्रामाण्यं निर्विशेषवाक्यस्य तादृशमेव सगुणवाक्यस्यापीति पूर्वमेव विवे-

चितमस्माभिः सगुण निर्गुणश्रुति विचारे—तथाच स्वदोषस्य परत्रारोपणेन स्वछिद्र प्रकाशनमेव प्रकारान्तरेणान्तकृष्ण-शास्त्रिणः, तथाचाद्वैतमतमधिकृत्य युक्तमुक्तमभियुक्तैः—

"वेदोऽनृतो बुद्धकृतागमोनृतः प्रामाण्यमेतस्यचतस्यचानृतम् ।
बोद्धाऽनृतोबुद्धिफले तथाऽनृते यूयंच बौद्धाश्च समान संसदः ॥

यादृशं निर्विशेषमद्वैतिनामभिमतं विष्णोरपि परत्वं किञ्चिदस्ती-तीदमेव विष्णुपुराणकार महर्षि पराशरसिद्धान्तेन शशशृङ्गाय-माणमित्येवास्माकं पक्षः ।

"अविकाराय शुद्धाय नित्याय परमात्मने ।
सदैक रूपरूपाय विष्णवे सर्व जिष्णवे ॥

इत्यादि नमस्कार श्लोकस्य शास्त्रोपक्रमत्वेन निर्विशेष परत्व कथनमप्यसंगतम् ।

परः पराणां परमः परमात्मात्मसंस्थितः ।
रूप वर्णादि निर्देश विशेषण विवर्जितः ॥
अपक्षय विनाशाभ्यां परिणामर्द्धिजन्मभिः ।
वर्जितः शक्यते वक्तुं यः सदास्तीति केवलम् ॥

इत्यारभ्य एव शास्त्रावतरणं पूर्वश्लोकानाम् 'अविकाराये'त्यादि नमस्कार श्लोकानां शास्त्रोपक्रम शेषभूतत्वमेव—मङ्गलानन्तरं

ग्रन्थारम्भस्य निर्विवादत्वात्, किंच मङ्गलश्लोके संक्षिप्तस्यापि विषयस्य 'परः पराणामित्यादिना विस्तरेणोपक्रमः—तथाच परः पराणामित्याद्युपक्रम श्लोके सविशेषत्वस्य दर्शनेनोपसंहारेऽपि सविशेषब्रह्मण उपलब्धि दर्शनेन मंगलश्लोके निर्विशेष कथाऽद्वैतिनां मुधैवेति। सर्वशक्तिमतः परमात्मन एकस्याप्यनेक रूपत्वमपियुक्तमेव तत्र कल्पितत्वादिकथनं शास्त्रगन्ध शून्यमिति विशेषः। 'रूपवर्णादि निर्देश विशेषण विवर्जितः' इत्यत्र निर्विशेषत्ववर्णनमपि श्रुतप्रकाशिकाऽश्रवणनिबन्धनम्। व्याख्यातं चेदं वाक्यमाचार्य्यैः—'रूप शब्देन जातिरुच्यते, 'जातिगुणौ च रूपिणां रूपे' इति हि नीतिविदः। वर्ण शब्दो-रूपाख्यगुण विशेषपरः। आदि शब्देन गन्धरसादिः, आसन शयनादिक्रिया, विषाणाद्यवयवत्वंच विवक्षितम्। रूपवर्गादोति-पाठे रूपशब्दो नीलपीतत्वादि गुणपरः, वर्गशब्दो देवमनुष्यादि वर्गपरः, जातिपर इत्यर्थः। तन्निबन्धनस्तद्विषयो निर्देशः शब्दः, शब्दवाच्यास्तएव विशेषणानि तैर्वर्जितः। यद्वा, रूप वर्णादितद्वाचिशब्दरूपैर्विशेषणैर्वर्जितः। एवमनित्यत्व व्यापकं कर्मकृतं रूपादिमत्वं ब्रह्मणि नास्तीति—कर्मकृतरूपादि निवृत्त्या-तद्व्याप्य कालपरिच्छेदानिवृत्ति रित्यर्थः।

यद्वा अनित्यत्वव्याप्य कर्मकृत रूपाद्यभावान्नानित्यत्वं ब्रह्मण्यनुमातुं शक्यमित्यर्थ इति। तथाच नात्रनिर्विशेष वादाव सरः। चिदचितोर्ब्रह्मशरीरत्वस्यास्मिञ्शास्त्रेऽन्यत्र च प्रमाण-

तया सम्प्रतिपन्नत्वेनच तद्विशिष्टत्वेपि ब्रह्मणः, स्वरूपविकारा-भावेन, प्रलयकाले नामरूप विभागाभावेनचैकरूपत्वे न कोपि दोषः।

"ज्ञानस्वरूपो भगवान् यतोऽसावशेषमूर्तिः नतु वस्तुभूतः। इत्यत्रापि न प्रपञ्चापलापः। ज्ञानस्वरूपस्यात्मनो देवमनुष्याद्यर्थाकारेणावभासो भ्रान्तिरित्येतावन्मात्रमेवश्लोकविषयः नतु सहस्र प्रमाणसिद्धस्य चिदचिद्वस्तुनोनिषेधो यथाशुक्तिकायां रजतस्य मिथ्यात्वे सिद्धेपि न रजतमात्रस्य मिथ्यात्वं सिद्ध्यति तथैव ज्ञानस्वरूपे परमात्मनि, देवमनुष्याद्यर्थाकारस्य मिथ्यात्वेपि न 'पृथगात्मानमित्यादि श्रुतिशतसिद्धार्थस्य निषेधः प्रामाणिकः, भगवान् पराशरोहि जीवस्याचिद्वस्तुनः परमात्मनश्च स्वभावादि भेदमत्यन्तनिपुणतया विवेचयति सएवसर्वस्य मिथ्यात्वं वक्ति, इत्याश्चर्य्यमिति। व्याख्यातं चेदं वाक्यं विस्तरेण श्रीभाष्यकारैस्ततएव द्रष्टव्यमिति।

रक्षामणिः—१६५—पृ०

स्मृत्यनवकाश दोष प्रसंगादिति चेत्, नान्यस्मृत्यनवकाश दोष-प्रसङ्गादि'तिन्यायेन पुराण विशेष प्राधान्यादिकल्पनायानात्रावसरः यतोवेदामूलस्मृत्यपेक्षया वेदमूल स्मृति प्रामाण्य व्यवस्थापन एव तस्य न्यायस्य तात्पर्यम्। नहिपराशरेणैव योगमहिम्ना वेदार्थः साक्षात्कृतो नान्येन वामदेवादिना, कपिलादिनावेति कल्पनायां प्रामाण्यमस्ति। स्तुतिस्तु वेदे पराशरस्येव कपिलादीनामपि दृश्यत एवेति स्मृतित्वेन प्रामाण्याविशेषे वेदाऽविरोधेपि पुराण विशेषमात्र प्राधान्यादि कल्पनं पुराणविशेषमात्रमवलम्व्य न युक्ति सहमिति।

इदमप्यनन्तकृष्णशास्त्रिणोऽकाण्डताण्डवम्—नहि श्री-

भाष्यकाराः कुत्रापि वदन्ति यत्पराशरेणैववेदार्थः साक्षात् कृतो-नान्येन वामदेवकपिलादिनावेति। वेदोपबृंहणभूते विष्णुपुराणे निर्गुणवादस्याप्रवेशं ज्ञात्वापायेणकार्याकार्यविवेकशून्याएव भवन्तः, अन्यथा महर्षिपराशरोपरिकथमेतादृशः 'नहि पराशरेणैव वेदार्थः साक्षात्कृतः' इति कोपोभवताम्। सन्त्यन्येपि ऋषय-स्तत्त्वज्ञाः परन्तु पुराणेभ्यो विष्णुपुराणस्य प्राशस्त्यमविगीतमेव-यद्वैकिञ्चनमनुरवदत्तद्भेषजमिति धर्मशास्त्रे यथा मनुवाक्यस्य प्राधान्यं यथाच व्याकरणशास्त्रे पाणिनीयस्य प्राधान्यं तद्वदेव सजातीय प्रबन्धेभ्यः प्रकर्षातिशयोनापह्नोतुं शक्यते पुराणरत्नस्य। किञ्च 'सहोवाचव्यासः पाराशर्यः' इति वेदेवक्तृवैलक्षण्यं स्पष्टं दृश्यतेऽतोऽस्त्येव प्राधान्यम्।

पुलस्त्य वशिष्ठ वरदानलब्ध देवतापारमार्थ्य ज्ञानवत्वंच-महद्वैलक्षण्यमस्ति,—

देवतापारमार्थ्यंच विज्ञानं च प्रसादतः।
पुराणकरणंचैव पुलस्त्यस्याज्ञया गुरोः।
अथ तस्य पुलस्त्यस्य वशिष्ठस्यच धीमतः।
प्रसादाद्वैष्णवंचक्रे पुराणं वै पराशरः।
षट्प्रकारं समस्तार्थसाधकज्ञान संश्रयम्।

दस साहस्र संमितं सर्ववेदार्थ संयुतमित्यादिभिः, लैङ्गेस्पष्ट-मेतत्, अतोवेदार्थोपबृंहकत्वेनास्त्येवास्यग्रन्थस्य प्राधान्यम्।

स्मृत्यनवकाश दोष प्रसंगादितिचेत्, नान्यस्मृत्यनवकाश-दोषप्रसंगादित्यधिकरणे स्मृतित्वेन पुराण प्राधान्यमपि सर्व भाष्यकार सम्मतम्। स्मृतित्वेन स्मृतिमात्र ग्रहणंत्वज्ञान-मेवेति। नह्यस्य पुराणरत्नस्य किंचिदंशेपि वेदार्थ विरोधित्वं किन्तु-यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति' इत्यादि श्रुति व्याख्यानत्वमेव सर्वसम्मतम्। यथा वेदानुकूल-तया मनुवाक्यं सर्वश्रेष्ठं तथैवास्य पुराणरत्नस्यापीति।

रक्षामणिः—१६५—१६६—पृ०

'यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति यत्प्र-यन्त्यभिसंविशन्ति' इति वेदान्तवाक्योपबृंहकत्वेनकस्यापि विप्रति-पत्तिः। इदमेवात्रालोचनीयम्—यद् विष्णुपुराणोपक्रमगत प्रश्नोत्तराणि कस्य वा मतस्यानुकूलानीति। तत्रेदंप्रति भाति—यत् 'यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यस्योपपादनार्थं—यन्मयंच 'जगद्ब्रह्मन्निति-वाक्यम्, येन जातानि जीवन्ति' इत्यस्योपपादनार्थं यतश्चैतच्चराचर-मिति' वाक्यम्, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ती'ति वाक्यार्थोपबृंहरणार्थम्—लीनमासीत्तथायत्र लयमेष्यति यत्रचेति, वाक्यमिति। प्रतिवचनंच—विष्णोः सकाशादुद्भूतं जगदत्रैवच स्थितम्। स्थिति संयम कर्ताऽसौ जगतोऽस्य जगच्चसः। इति प्रथमेन पादेन यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते। इत्येतदर्थ संग्रहपरम्, द्वितीय तृतीय पादौतु 'येन जातानि जीवन्ति' इत्येतदर्थ संग्रहपरौ, जगच्चसः 'इति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, इत्येतदर्थ संग्रह परमिति स्वीकर्तव्यम, तथाच श्रुत्यर्थोपि सम्यगुप-बृंहितोभवति। सतिचैवम्—यन्मयमिति विकारार्थएव मयट्, यतो विष्णोः सकाशादुद्भूतमिति जगतो विष्णोः सकाशादुत्पत्ति वर्णनेनैव—यन्मयमिति प्रश्नः प्रत्युच्यते, अन्यथा यन्मयमित्यस्यैव प्रतिवचनं

'जगच्चसः' इत्यङ्गीकारं प्रश्नप्रतिवचनयोः क्रमभङ्गोपि भवति यतोहि-स्वोपबृंहणीय वाक्यगतक्रमोप्युल्लंघितो भवति, इति श्रुति व्याख्यानत्वं वाधितंस्यात् पुराणस्य। एतेन—यतश्चैतत् चराचरमित्यनेन निमित्तोपादनयोः पृष्टत्वात्, यन्मयमिति सृष्टिस्थिति— लयकर्मभूतं जगत् किमात्मकमिति पृष्टम्, तस्यचोत्तरम्, जगच्चसः' इति निरस्तम्—लीनमासीत्तथायत्रे,ति पृथग् लयकर्मभूतप्रश्नस्य दर्शनेन 'जगदत्रैवच स्थितम्। स्थितिसंयमकर्ताचे'ति स्थिति प्रश्नस्य पृथक् प्रतिवचन दर्शनेनच—'जगच्चसः' इत्यस्य लीनमासीत्तथायत्र' इत्यनुत्तरितावशिष्ट प्रश्नप्रतिवचन रूपत्वस्यैवस्वीकारादिति तथाच नशरीरात्मभाव सामानाधिकरण्यमिति।

तत्रयदुक्तं विष्णुपुराणोपक्रमगत प्रश्नोत्तराणिकस्यवा मतस्यानुकूलानीति, तत्र-विष्णोः सकाशादुद्भूतं जगदत्रैवच स्थितम्। स्थितिसंयमकर्तासौ जगतोऽस्य जगच्चसः। इति-वेदोपबृहणंकुर्वता भगवतापराशरेण यदुत्तरितं प्रश्न वाक्यं प्रथमं तदेव-प्रथमग्रासे मक्षिकापात प्रायमद्वैतिनाम्। निर्विशेष-ब्रह्मातिरिक्तस्य सर्वस्य मिथ्यात्ववादिनामद्वैतिनांको नाम विष्णु पदार्थः स्थले २ शास्त्रप्रतिपाद्यस्य भगवतो निन्दांच प्रकटयन्ति किं सगुणस्वरूपस्य भगवतो मिथ्यात्व प्रतिबिम्बत्वादिकल्पनं न निन्दाजनकं तथाच विष्णुप्रधानतया विष्णुपुराणोपक्रम वाक्यमेव प्रथममद्वैतिनां प्रतिकूलमिति स्थितम्। यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते येनजातानि जीवन्तीत्यादि वाक्योपबृंहणत्वमेवास्य प्रबन्धस्य परन्तु 'यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते, इत्यस्योपपादनार्थ—यन्मयंच जगद्ब्रह्मन्नितिवाक्यमिति भवद्-

व्याख्यानमेवायुक्तम् । यतोवेत्यादिवाक्य बोध्यस्य ब्रह्मणो यत इति पञ्चम्याः निमित्तत्वमुपादानत्वंच वेदान्तसिद्धान्त सिद्धं तादृशनिमित्तत्वोपादनत्वबोधनपरं पञ्चम्यन्त घटितं—यतश्चैतच्चराचरमितिवाक्यस्यैव यतोवा इमानीति वाक्योपबृं-हकत्वात् । यन्मयमित्यस्य 'यतोवा इमानीति वाक्योपबृंहकत्व स्वीकारे श्रुतिच्छायानुविधान भंगो यत इति पञ्चम्यैव निमित्तो पादानयोः संग्रहस्य सुगमत्वेन पृथग् प्रश्नवाक्यस्य वैयर्थ्य प्रसंगश्च सृष्टिप्रलययोः प्रश्नान्तर्गतत्वेन तत्रावस्यापेक्षित स्थिति प्रश्नस्य यन्मयमित्यनेन वक्तव्यत्वेसति यन्मयमित्यस्यान्यार्थत्व कथनेन स्थिति प्रश्न कथन न्यूनत्व प्रसंगश्चाद्वैतिनामिति । श्रीभाष्यकाराणांतु सर्वमेतदनुकूलमेवेति 'यतश्चैतच्चराचर-मित्यस्य यतोवा इमानिभूतानि जायन्त इत्यस्योपबृंहकत्वेन यतइति पञ्चम्यन्त घटितत्वेन श्रुतिच्छायानुविधायित्वेनार्षशैलि-रप्यादृताभवति । यन्मयमित्यस्य पृथक् स्थिति प्रश्नत्वेन स्थिति प्रश्न न्यूनतापि निरस्ता भवति ।

यन्मयमिति विकारार्थएव मयडिति वादोप्यसंगतः । विकारार्थेन मयटोपादानरूपार्थस्य सिद्धिस्तस्य च यत इति पञ्चम्यैव सिद्धत्वेन प्रत्ययस्य निरर्थकत्वापत्तेः, संभवत्यर्थवत्त्वे निरर्थकत्व स्वीकारस्यायुक्तत्वाच्च । अवश्यापेक्षित स्थिति प्रश्नपरित्यागेन सिद्धार्थप्रतिपादनस्यापेक्षितविधेरनपेक्षित विधानं दुर्बलमिति न्यायग्रस्तत्वाच्च ।

किञ्च विकारार्थमयट् स्वीकारे 'यतश्चैतच्चराचरमिति, निमित्तोपादानयोः पृष्टत्वेन यन्मयमिति पृथक् प्रश्नस्य वैयर्थ्य प्रसंगश्च। संभवत्यर्थवत्त्वे निरर्थकत्व स्वीकारस्यान्याय्यत्वेन स्वार्थिकमयड् कल्पनमपिनिरस्तमेव।

अतोयन्मयमिति 'तत्प्रकृतवचनेमयडिति पाणिनीयसूत्रेण प्राचुर्यार्थएव मयट्। तथाच यन्मयमित्यस्य येनान्तर्यामिणा धारकेण प्रचुरं जगत्स्थितमित्यर्थोलभ्यते तस्योत्तरमपि जगच्चसः; इति जगद्ब्रह्मणोः सामानाधिकरण्यं शरीरात्मभाव-निबन्धनं नतु स्वरूपैक्यकृतमिति। चेतनाचेतनात्मकविश्व-स्योद्भव स्थितिलयैककारणभूतः सर्वस्यात्मा यतोविष्णुरेव, अतो-जगदपि विष्णुरेवेत्युक्तेः विष्णुप्रचुरं जगदिति गम्यते, अन्तर्या-मित्वेन परमात्मनः सर्वस्य धारकत्वात् सर्वस्य च परमात्म शरीरत्वात् शरीरात्मभाव निबन्धनमेव सामानाधिकरण्यं, स्व-रूपैक्यनिबन्धन सामानाधिकरण्यस्य च पूर्वमेव निरस्तत्वात् न तत्पक्षोत्थानं युक्तिसहम्। निखिलहेयप्रत्यनीकस्वरूपस्य समस्तकल्याण गुणाकरस्य निरस्तनिखिलदोषस्य भगवतोऽनेक दोषयुक्तेन जीवेन जड़भूतेनाचेतनेन च सहैक्यवादः सम्मान्य विद्वद्गोष्ठिन्यक्कृत एवेति। यदप्युक्तं यन्मयमित्यस्यैव प्रति-वचनं जगच्चस इत्यङ्गीकारे प्रश्न प्रतिवचनयोः क्रमभङ्गो भवतीति तदपि विष्णुपुराणगत मैत्रेय प्रश्नवाक्यार्थानवधान-मूलमिति—

सोऽहमिच्छामि धर्मज्ञ श्रोतुं त्वत्तो यथा जगत् ।
बभूव भूयश्च यथा महाभाग भविष्यति ।
यन्मयंच जगद् ब्रह्मन् यतश्चैतत्चराचरम् ।
लीनमासीत्तथा यत्र लयमेष्यति तत्र च ।

इतिद्वाभ्यां श्लोकाभ्यां कृतस्य मैत्रेय प्रश्नस्योत्तरं वक्तुमारभ्यते महर्षिणा—विष्णोः सकाशादुद्भूतमित्यादिना तत्र यन्मयमित्यतः पूर्वमपि 'यथाजगद्बभूव' इति प्रश्नोदृश्यतेऽतो यन्मयमित्यस्यैव प्रथम प्रश्नत्वमिदं जीर्णगोतं भवताम्, अनुगृहीतं चेदं श्रीव्यासार्य्यैः—यथा यतो बभूव, ब्रह्मरुद्रादिषु कः कारणमिति ज्ञातुं यतइति प्रश्नः किं विवर्ताधिष्ठानत्वं कारणत्वम्, उत परिणामित्वं तत्रापि—किं सद्वारक परिणामित्वम्, उताद्वारक परिणामित्वमिति प्रकारभेद जिज्ञासया यथेति प्रश्न इति । अतः श्रीभाष्यकाराणां क्रमभङ्ग कथन मनन्तकृष्णशास्त्रिणः स्वस्य वैदिक मार्गात्स्खलनमेव । प्रश्नेषु यन्मयमित्यस्य न प्रथम प्रश्नत्वं यथा यतो बभूव इत्यस्य प्राथमिकत्वेन क्रमभङ्गोक्तिरपि निरवसरा ।

यदपि 'जगच्चसः' इत्यस्य 'लीनमासीत्तथा यत्र' इत्यनुत्तरितावशिष्ट प्रश्नप्रति वचनरूपत्वस्यैव स्वीकारेण यन्मयमिति प्रश्न प्रतिवचनत्वकथनमसङ्गतमित्युक्तं तदपि—स्थिति संयम कर्ताचेत्यत्र दृष्टिपातानिबन्धनं तदर्थाज्ञाननिबन्धनंवेति निश्चितं द्रढयति । संयमकर्ता पदेन लयकर्तोच्यते स्थितिपदेनेष्ट-

प्रापणानिष्टनिवारण लक्षणास्थितिरिति 'स्थिति संयमकर्ता चत्यनेन स्थिति प्रश्नस्य लयकर्तृ प्रश्नस्यचोत्तरमुक्त्वा 'लीनमास।दिति लयस्थानप्रश्नस्य 'तत्रैव च स्थितमित्युक्तमास्तकण्ठरवेणेति। तथाचानुत्तरितावशिष्ट प्रश्नप्रतिवचनत्व कथनं भवतामवशिष्टज्ञान निबन्धनत्वमेवेति। तथाच विष्णुपुराणोपक्रम संहारश्लोकाः सविशेषपराएव तेन निर्विशेष कथा मुधैवाद्वैतिनामिति। अन्येऽपि श्लोकाः श्रीभाष्यएवसन्ति पूर्णतया व्याख्याताः रक्षामणिस्तुतत्रैव निमज्जतिवृथैव पिष्टपेषणं करोति केवलं श्रीभाष्यसमालोचनेन स्वाज्ञानमेवप्रकटयति। यथोक्तं महनीयप्रज्ञैः वेदनिष्णातैः श्रीमद्वेदान्ताचार्य्यैः—

श्रुतिश्रेणीचूडापदबहुमते लक्ष्मणमते
स्वपक्षस्थान्दोषान् वितथमतिरारोपयति यः।
स्वहस्तेनोत्क्षिप्तैः स खलु निजगात्रेषु बहुलं
गलद्भिर्ज्वालैः गगनतल मालिम्पति जड़ः॥

तस्मात् सिद्धं विष्णुपुराणेनापि न कथंचिदपि निर्विशेषवादस्यावकाश इति।

"रक्षामणि :—१३१—१३४—१३७ पृ०

इतः परम्—'न स्थानतोऽपिपरस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हीं' ति सूत्रमप्यद्वैतिनामेवानुकूलमिति। तथा भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वादित्यादिषु भेद निषेधेन निर्गुणमेव ब्रह्मेति व्याससिद्धान्तः। 'वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभय सामञ्जस्यादेवं दर्शनाच्चेति सूत्रमप्यन्तविरुद्धं श्रीभाष्यमते--अत्रहि दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक भाव विवक्षितं सारूप्यं न बिम्बप्रतिबिम्बभावेन, किन्तु औपा-

धिकधर्मवत्त्वेनेति स्पष्टं प्रतीयते। मुक्तेर्गति निरपेक्षत्व- व्यवस्थापकै स्वाप्नक मायिकत्व व्यवस्थापनपरैश्चान्यैः सूत्रैरप्यद्वैत मतमेव स्वादरणीयं मन्यन्ते बादरायणाचार्य्याः निदिशन्ति च 'मायामात्रंतु कात्स्न्येनाभि व्यक्तस्वरूपत्वात्। इत्यादिभिस्सर्वस्य प्रपञ्चस्य मायामात्रत्वमिति।

'अत्र श्रीभाष्यानुयायिनः'

अथ महामहोपाध्यायानन्तकृष्णशास्त्रिणः किमस्त्यवशिष्टं ताण्डवं सूत्रसमालोचनं नाम यतोहि—न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्रहि, 'अरूपवदेवहि तत्प्रधानत्वात्, प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात्, 'वृद्धि ह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभय सामञ्जस्यादेवं दर्शनाच्चेत्यादि कतिपयानि सूत्राणि प्रदर्श्य तथाऽऽनन्दमयाधिकरणमप्युपलक्ष्य—एतानि सूत्राणि श्रीभाष्यकाराणां प्रतिकूलानि निर्विशेषवादस्यैवानुकूलानीति रक्षामणिकारस्यभ्रमः तत्राऽस्माभिरपि तदीयभ्रमनिराकरण पूर्वकं तत्तत्प्रकरणपरिशोधनपुरःसरं विचार्य्यते यदेकमपि ब्रह्मसूत्रमद्वैतिनामनुकूलमस्ति—उतसर्वथैव बादरायणाचार्य्या अद्वैतमतं न्यक्कुर्वन्ति—सर्वथैवाद्वैतमतं न्यक्कुर्वन्ति ब्रह्मसूत्रैः बादरायणाचार्य्या इत्येव सिद्धान्तः, तथाहि शास्त्रापक्रमे 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्याद्यं बादरायणसूत्रमेव प्रथममद्वैतिनां प्रतिकूलं श्रीभाष्यकाराणामेवानुकूलमिति 'अद्वैतमते निर्गुणं ज्ञानाविषयश्च ब्रह्म तस्य जिज्ञास्यत्वायोगात्, जिज्ञासाघटितं प्रथमसूत्रं वैयर्थ्यमेव। आरोपितगुणविग्रहादिविशिष्टस्य

मायाशबलितस्य मिथ्याभूतस्य ब्रह्मणः, ज्ञानविषयत्वेऽपि तस्य जिज्ञासा तु सुतरामसिद्धा—नहि मिथ्यापदार्थविचाराय ब्रह्मसूत्रारम्भः किन्तु तत्तदसद्वाद निराकरण पूर्वक तात्त्विकार्थ विचारायैव भगवद्व्याससूत्रारम्भः। यदि सांख्य वशेषिक गौतम जैनचार्वाक पाशुपताद्यभिमत वेदविरुद्ध तत्तदसाधारणमत प्रतिक्षेप पूर्वकस्य प्रवृत्तस्य बादरायणसूत्रस्यापि भ्रान्तिसिद्धब्रह्मनिरूपण परत्वमङ्गीक्रियते भवद्भिस्तर्हि कथं न तेषां सूत्राणामपि विरुद्धशास्त्रान्तरादिवत्, विप्रलम्भकत्वंस्यात्। योगाचार्य्येण परमर्षिणा भगवताबादरायणाचार्य्येण परमनिःश्रेयस्कर शुद्ध ब्रह्मस्वरूप विचारायैव सूत्राणि प्रणीतानि, अतएव ब्रह्म दर्शनं, ब्रह्ममीमांसेतिच कृत्वा सर्वैरङ्गीक्रियते। नास्तिभ्रान्ति सिद्धत्वं किञ्चिदत्र विद्यते। तात्त्विकार्थ विचारएवात्र सम्पाद्यते व्यासार्य्यैः।

परमार्थ ब्रह्मनिरूपणपरेऽस्मिञ्छास्त्रे परमार्थस्य च ब्रह्मणो भवन्मते ज्ञानाविषयत्वेन जिज्ञास्यत्वायोगादाद्यं सूत्रं वैयर्थ्यमेव-नहि ज्ञानाविषयस्य शास्त्रागोचरस्य च जिज्ञासा दृष्टा, किन्तु ज्ञानविषयस्य प्रमाणगोचरस्यैवेति।

किञ्च सर्वत्र सधर्मकेपदार्थे सर्वप्रमाणप्रसिद्धा जिज्ञासा निर्गुणे निर्धर्मके ब्रह्मणि किदृशी जिज्ञासा, केवलं मोहमात्रमेवाद्वैतिनां तथाच सविशेषवस्तुविषयिणी जिज्ञासा निर्गुणब्रह्मवाद प्रतिकूलैवेति सिद्धम्।

एवं ब्रह्मशब्दार्थ विचारेणापि सूत्र विरुद्धमद्वैतमतम्।

"बृहति बृंहयति तस्मादुच्यते परंब्रह्म" बृहत्वाद् बृंहणत्वाच्च तद्ब्रह्मेत्यभिधीयते इति श्रुतिस्मृतिभ्यां बृहत्व बृंहणत्वादीनामेव ब्रह्मशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वावगमेन—निर्विशेषेनिर्गुणे ब्रह्मणि ब्रह्मशब्दप्रवृत्ति निमित्तत्वाभावेन ब्रह्मजिज्ञासेति सूत्रघटक ब्रह्मशब्दार्थ विरोधोऽपि दुर्घटएव।

नच ब्रह्मशब्दार्थस्य परमात्मन्यमुख्यत्वमन्यत्र च मुख्यत्वमितिवक्तुं शक्यम्। 'परं जैमिनिर्मुख्यत्वात्' स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् इति भगवद् बादरायणसूत्रविरोधात्।

> 'यस्मिन् प्रयुज्यमानेतु गुणयोगस्तुपुष्कलः,
> तत्रैव मुख्यवृत्तोऽयमन्यत्रह्यु पचारतः॥
> वेदेभूरि प्रयोगाच्च गुणयोगाच्च शार्ङ्गिणः
> तस्मिन्नेव ब्रह्मशब्दो मुख्यवृत्तो महामुने॥

इत्यादि पुराणवचन विरोधाच्च। परस्मिन् ब्रह्मणि लक्षणानिराकरणपरक 'ब्रह्म परिवृढं सर्वतः' इतिभगवदापस्तम्बवचन विरोधाच्च।

तथाच स्पष्टशब्दैर्ब्रह्मसूत्रकारबादरायणमहर्षिप्रभृतयो यतोहि परस्मिन्नेव ब्रह्मणि ब्रह्मशब्दस्य मुख्यत्वमन्यत्रगौणत्वञ्च वदन्ति, अतोलक्षणाकल्पनमद्वैतिनामशास्त्रीयमयुक्तंचेति। तथाच विशिष्टाद्वैताभिमते सगुणे ज्ञानविषयेच ब्रह्मणिब्रह्म

पदस्य जिज्ञासापदस्य च समन्वयेन श्रीभाष्यकाराणामेव— 'अथातोब्रह्म जिज्ञासेति सूत्रमनुकूलं नतुतद्विपरीतगामिनामद्वैतिनामिति।

इदमेवाभिप्रेत्योक्तं श्रीभाष्यकारैर्भगवद्रामानुजाचार्य्य पादैः- ब्रह्मशब्देन च स्वभावतो निरस्त निखिलदोषोऽनवधिकातिशयासंख्येय कल्याण गुणगणः पुरुषोत्तमोऽभिधीयते। सर्वत्र बृहत्वगुण योगेन हि ब्रह्मशब्दः। बृहत्वञ्च स्वरूपेण गुणैश्च यत्रानघधिकातिशयं सोऽस्यमुख्योऽर्थः। सच सर्वेश्वरएवेति। अतोनिर्गुणवादिनामद्वैतिनां प्रथम सूत्रं वैयर्थ्यमेव। जिज्ञास्यत्वेनाभिमतस्य ब्रह्मणोलक्षण प्रतिपादनपरं 'जन्माद्यस्ययतः' इति द्वितीयसूत्रमपि वैयर्थ्यमेव, यतोहि—'यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्तियत्प्रयन्त्यभिशंविशन्ति, इति श्रुतिश्छायया जगज्जन्मादिनां ब्रह्मलक्षणन्वमुच्यते व्यासाद्यैः। लक्षणंहि, असाधारणधर्म विशेषैरेवभवति। निर्विशेषे निर्धर्मके ब्रह्मणि को नाम असाधारणधर्म विशेषो येन लक्षणवाक्यस्य भवेत्समन्वयः। धर्म विशेषस्वीकारेच ब्रह्मणस्सविशेषत्वप्रसङ्गेनाद्वैतभङ्गस्यानिवार्य्यत्वेन तथा स्वीकारस्याप्ययुक्तत्वात्। विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तापाताच्च।

जगज्जन्मादीनामुपलक्षणत्वेऽपि न निस्तारः। उपलक्षणेनोपलक्ष्याकारप्रतिपत्तौ—उपलक्षणाकार 'उपलक्ष्याकार' पूर्वप्रति-

पन्नाकारेत्याद्याकारत्रयस्य—यत्रायं सारसः स देवदत्तकेदारः, शाखाग्रेचन्द्र इत्यादिषु दर्शनेन निर्विशेषे ब्रह्मणि पूर्वप्रतिपन्नाकारस्याभावेननोपलक्षणत्वमपि जन्मादीनां सम्भवः। कथञ्चिदुपलक्षणत्वस्वीकारेऽपि, आकारत्रयस्यानिवार्य्यत्वेन ब्रह्मणस्सविशेषत्वप्रसङ्गोदुर्वार एव।

तथा च सविशेष सगुणब्रह्मलक्षण प्रतिपादनपरं—"जन्माद्यस्ययतः" इति द्वितीय सूत्रमपि श्रीभाष्यकाराणामेवानुकूलंनत्वद्वैतिनामिति।

शास्त्रयोनित्वात्" इति तृतीयसूत्रमपि प्रतिकूलमद्वैतिनाम्। अनेन सूत्रेण शास्त्रैकसमधिगम्यत्वमुच्यते परब्रह्मणः, भगवता वेदाचार्य्येण। स्वप्रकाशस्वरूपस्यब्रह्मणः, शास्त्रगम्यत्वास्वीकारेण शास्त्रयोनित्वाधिकरणमपि विपरीतमेव तेषां, शास्त्रप्रमाणकत्वस्वीकारेऽपि न दोषोद्धारः।

ब्रह्मणोदृश्यत्व प्रसंगेन मिथ्यात्व व्यभिचारत्वादि दोषाणामनिवार्य्यत्वात्। दृश्यत्वस्य च मिथ्यात्वमेवाङ्गीकृतं भवद्भिः। नच दृश्यत्वस्यमिथ्यात्वेऽपि व्यावहारिक शास्त्रगम्यत्वमेव ब्रह्मणः स्वीक्रियते तथा च न दोष इति वाच्यमितिचेन्न व्यावहारिकानुमान गम्यत्ववद्दोषस्य जागरूकत्वात्।

तत्तुसमन्वयादिति चतुर्थ सूत्रन्त्वत्यन्त विरुद्धमभेदवादिनाम्मते। अत्र समन्वयस्य हेतुत्वेन स्वीकरोति सूत्रकारः।

अन्वयस्य च भेदघटितत्वेन निर्धर्मके निर्गुणे ब्रह्मणि, अन्वयाशादुराशैवकेवलमिति। अन्वयेतु कथं नाभेद निर्गुणादि वादानां दहनज्वालाप्रवेशः। अतः, शास्त्रारम्भमूलभूता चतुःसूत्री सर्वथैव विरुद्धामिथ्यावादिनाम्।

अनन्तरमीक्षत्यधिकरण गतानि "ईक्षतेर्नाशब्दम्" गौणश्चेन्नात्मशब्दात् "तन्निष्ठस्य च मोक्षोपदेशात्" इत्यादि सर्वाण्यपि सूत्राण्यत्यन्त विरुद्धान्यद्वैतिनां, सांख्यमतसिद्धाया अचेतनायाः प्रकृतेः कारणत्व निराशेन, ईक्षितृत्वादि गुणयोगेनैव ब्रह्मकारणत्वपराणीमानि वेदव्यास सूत्राणि।

सृष्टिप्रकरणाम्नात "तदैक्षत बहुस्यामित्यादि श्रुत्युक्तेक्षणादिगुण योगस्य, अचेतनेष्वसम्भवेन चेतनेष्वेव सम्भवेन च न प्रधानंकारणं किन्तु चेतनभूतं परंब्रह्मैवेति स्थापितमीक्षत्यधिकरणे सूत्रकारैः। तथा च निर्विशेषे ब्रह्मण्यपीक्षितृत्वादि गुणानामसम्भवेन कथं निर्विशेषवादिनामद्वैतिनामिमानि सूत्राणि संगतानि। यदीक्षितृत्वादीनामारोपितत्वेन स्वार्थसिद्धि रुच्यते तर्हि–न केवलं प्रकृतिकारणत्वनिराशविरोधः। "गौणश्चेन्नात्मशब्दात्" "विवक्षित गुणोपपत्तेश्च" "अदृश्यत्वादिगुणकधर्मोक्तेः" इत्यादि ब्रह्मसूत्र विरोधोऽपि दुर्वार एव। एतैस्सूत्रैर्ब्रह्मसूत्रकाराः स्पष्टमेव ब्रह्मणस्सगुणत्वं सविशेषत्वंच निर्धारयन्ति। पूर्वपक्ष प्रतिक्षेपपूर्वक सिद्धान्तितस्य

ईक्षणादिगुणयोगस्यारोपितत्वादिकथनमप्ययुक्तमेवेति । तस्मा-दीक्षणाधिकरणमपिविरुद्धमेवाद्वैतिनाम् ।

आनन्दमयोऽभ्यासादि'ति सूत्र, आनन्दाभ्यासस्य हेतुत्व-मङ्गीचकारसूत्रकारः । तेन सविशेषब्रह्मवाद एव सूत्रकारसम्मतः, तत्रनिर्विशेपकथामुधैव भवताम् । आनन्दमय इत्यत्र "तत्प्रकृत वचने मयट्" इति पाणिनीय सूत्रेण प्राचुर्य्यार्थेमयड् तेन आनन्दप्रचुरं ब्रह्मेति गम्यते, आनन्द प्रचुरस्य च भेदनियतत्वेन भेदखन्डनतत्पराणां निर्विशेषाद्वैतिनामानन्दमयाधिकरणं वैयर्थ्यमेव । नच विकारार्थ मयडत्र शंक्यः—"विकार शब्दान्नेतिचेन्न प्राचुर्य्यात्" इति सूत्रेण स्वयमेव बादरायणा-चार्य्यैः, विकारार्थमयडाशंक्य निरस्तत्वात् । आनन्दमय-पदेन जीवस्यापिग्रहणमप्ययुक्तमेव । "नेतरोऽनुपपत्तेः" "भेदव्यपदेशाच्च" अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति" इत्यादिभि-र्जीवस्यापि तत्पदवाच्यत्वं निरस्य, जीवादन्यः, आनन्दमयः परं ब्रह्मैवेतिसिद्धान्तित्वात् । तस्मादानन्दप्रचुरः परमात्मा, इति सूत्रकृत्राधान्तः । अतोनिरानन्दे निर्विशेषे कथ-मानन्दमयाधिकरणस्य सार्थक्यमितिविमृशन्तु विद्वांसः ।

श्रीभाष्यकाराणामेवानन्दमयाधिकरणमनुकूलं तन्मतेश्रुतिसूत्रानु-मतानन्दमयस्य परमात्मनस्स्वीकारात् ।

आकाशाधिकरणगतम्,—"आकाशस्तल्लिङ्गात्" इति सूत्रं, प्राणाधिकरणगतञ्च—"अतएव च प्राणः" इतिसूत्रं ब्रह्मलिङ्गमेव

पुरस्करोति। लिङ्गञ्चासाधारणधर्म एव, तथा च–'अस्य-लोकस्य का गतिरिति आकाश इति होवाच सर्वाणि हवा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति आकाशोह्य वेभ्योज्यायानाकाशः परायणम्' इति छान्दोग्यगत घाक्यमुपक्रम्य विचारः प्रवृत्तः–किमत्रजगत्कारणत्वेन श्रूयमाण आकाशः किंभूताकाशः। आहोस्वित् परंब्रह्मैवेति। तत्र प्रसिद्धा-काशस्यपूर्वपक्षत्वे 'आकाशस्तल्लिङ्गादि'ति सिद्धान्तसूत्रमसूत्रयत् वादरायणाचार्य्यः। तत्तदसाधारण ब्रह्मधर्मैः, आकाशपदेन भूताकाशं निरस्य कारणप्रकरणगतमाकाशपदं सकललोकैक-कारणंनिखिल कल्याणगुणाकरं <u>परमात्मानमेवावधारयन्तिसूत्र-कारा:</u>।

तथा च निखिलजगदेककारणत्व परायणत्वादिभिः, धर्म-विशेषैः प्रसिद्धाकाशादर्थान्तरभूतस्य परमात्मनः समर्थन परमिदं-वादरायणसूत्रं, निर्विशेषवादिनामद्वैतिनां वैयर्थ्यमेव। निर्विशेषे धर्मविधुरे ब्रह्मणि किन्नामलिङ्गं तत्तद्धर्मविशेषैः कथं परमात्म समर्थनंव्यासाचार्य्यस्येतीदं सर्वं वैयर्थ्य मेवाद्वैतिनामिति। एवं प्राणाधिकरणमपि तन्मते वैयर्थ्यं यतोहि–अत्रापि सूत्रकारस्त-त्तद्धर्म विशेषैरेव परमात्मानं निश्चिनोति। धर्मविशेषणा-ञ्चाभाव एवाद्वैतमते। कल्पितधर्मतया धर्मवत्ताख्यापनंश्रुति-पीडनमेव भवतां, श्रुतिस्तु स्वरूपादिवन्निः शंकोच भावेन ब्रह्म-धर्मवक्ति भवद्भिस्तु कल्पितत्वं मिथ्यात्वं चोच्यते, इदं विपरी-

तैकान्तम् । स्वरूपस्यापि तथैव वक्तुंशक्यत्वात् । सूत्रकारोऽपि न क्वचिद्धर्मविशेषाणां कल्पितत्वं स्वरूपमात्रस्यच सत्यत्वं वदति, भवद्भिस्तु सूत्रमतमप्युल्लंघ्यस्वैराचारेण स्वसिद्धान्तं निरुच्यते । यतोहि 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' स्वाभाविकी ज्ञानबल-क्रिया च' सत्यकामः सत्यसंकल्पः' त इमे सत्याःकामाः' इत्यादि श्रुतयो यथा सविशेषं सगुणं ब्रह्म वदन्ति यथैव-ईक्षतेर्नाशब्दम्' गौणश्चेन्नात्म शब्दात्' आनन्दमयोऽभ्यासात्' 'विवक्षित गुणोपपत्तेश्च' अदृश्यत्वादिगुणक धर्मोक्तेः' इत्यादि-भिस्सूत्रैस्सूत्रकारा अपि सगुणं ब्रह्म निश्चिन्वन्ति । येषां गुणानां ब्रह्मधर्मत्वेनाप्रामाणिकत्वं तेषां स्वयमेव बादरायणा-चार्य्याः, 'प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौहिभेदे' आध्यानाय प्रयोजनाभावात्' इत्यादिभिर्निरस्यन्ति । तथा च श्रुतिसूत्रादि-सिद्धब्रह्मधर्माणांकल्पितत्वंवदन्तोऽद्वैतिनः, श्रुतिसूत्रादि बाह्या-एवेति सिद्धम् । चतुर्भिरध्यायैर्विभक्ता खलुब्रह्ममीमांसा ।

तत्र प्रथमेऽध्याये वेदविरुद्धनानावादिमतोन्मूलनेन पार-मार्थिक सगुणब्रह्मकारणतावादः स्थिरीकृतस्सूत्रकारैः । द्वितीया-ध्यायस्य प्रथमाध्यायशेष भूतत्वेन प्रथमाध्याय सिद्धान्तविशेष-स्यैव परिपोषणेन नात्राप्यद्वैतिनां समीहितार्थसिद्धिः । द्वितीया-ध्यायः प्रथमाध्यायस्य यतोहिशेषभूतोऽतएव, अविरोधाध्याय पदेन व्यवह्रीयते, अतएव च पूर्वाध्याय कथितार्थ विशेषेण सहाविरोधोऽस्य । संगृह्णन्ति च श्रीभाष्यकाराः—

प्रथमेऽध्याये प्रत्यक्षादि प्रमाणगोचरादचेतनात्तत्संसृष्टात्तद्वियुक्ताच्च चेतनादर्थान्तर भूतनिरस्तनिखिलाविद्याद्यपुरुषार्थगन्धमनन्तज्ञानानन्दैकतानमपरिमितोदारगुणसागरं निखिलजगदेक कारणं सर्वान्तरात्मभूतं परंब्रह्म वेदान्तवेद्यमित्युक्तम्। अनन्तरमस्यार्थस्य सम्भावनीय समस्त प्रकार दुर्धर्षणत्व प्रतिपादनाय द्वितीयोऽध्याय आरभ्यते ।

तथा च द्वितीयाध्याय गतानिसूत्राण्यपि निर्विशेष वादस्य प्रतिकूलानि सगुणब्रह्म पारमार्थिकतावादस्यैवानुकूलानीति। द्वितीयाध्यायादनन्तरं तृतीयाध्यायः। तत्र वैराग्योभयलिङ्ग पादयोस्संसरतोजीवस्य संसारनिवर्तकस्य च परमात्मनः परस्परं वैषम्यमुच्यमे तादृश वैषम्यस्य च भेदघटितत्वेनाभेदवादिनामिदमपि पादद्वयं विरुद्धमेवेति ।

गुणोपसंहारपादस्तु निर्गुणवादस्य हृदयशूलमेवेति । निर्गुणे ब्रह्मणि कथं गुण समन्वयपरकगुणोपसंहारपादस्य चारितार्थ्यमिति जानन्तु भवन्तः। गुणोपसंहार स्वीकारे चाद्वैतसिद्धान्त एव भवेत् भग्नः। मिथ्यात्वेन च निर्वाहकल्पनादिकं श्रुति खण्डन प्रायमिव

विद्याकर्मणोऽङ्गाङ्गीभावादिपरं चतुर्थपादाभिधप्रकरणमपि भेदवादमेव पुरस्करोति । निहन्ति चाभेदवादम् ।

चतुर्थाध्यायस्तु फलाध्यायः, तत्र परमात्मसेविनो जीवस्यैव सांसारिक फलसाधन पुण्यपापरूप कर्माश्लेष विनाशौ,

देहादुत्क्रमणमर्चिरादिना देवयानेन गमनं परंज्योतिरूपसम्पद्य-स्वेनरूपेणाभिनिष्पत्तिरपुनरावृत्तिश्चेति। तथा च चतुर्थाध्याये पूर्वोक्त विषयस्यैवालोचनेन—अद्वैतिनां कोनामजीव पदार्थः कथं तस्य बन्धनिवृत्तये परमात्मोपासनं काच मुक्तिरिति सर्व-मिदं विपरीतमेव निर्विशेषचिन्मात्र ब्रह्मव्यतिरिक्तकृत्स्नमिथ्या-वादिनामद्वैतिनामिति। अतो ब्रह्ममीमांसायांनाद्वैतवादस्याव-सरलेशोऽपीति।

किञ्च—'नेतरोऽनुपपत्तेः' भेदव्यपदेशाच्चान्यः' अनुप-पत्तेस्तु न शारीरः' कर्मकर्तृव्यपदेशाच्चान्यः' अधिकन्तु भेद-निर्देशात्' अश्मादिवच्चतदनुपपत्तिः' इत्यादिभिस्सूत्रैर्बादरायणा-चार्य्याः' जीव ब्रह्मणोरभेदनिषेधपूर्वकभेदपक्षंस्थापयन्ति। अद्वैतिनस्तुभेदनिषेधपूर्वकमभेदपक्षंकल्पयन्ति। भेदप्रति पाद-कानां बादरायण सूत्राणामौपाधिक भेदपरत्वेनान्यथयन्ति च। कथं तेषां बादरायण सूत्रानुकूलत्वमिति ज्ञानातीत मेव।

परपक्षनिक्षेपपूर्वक पदार्थतत्त्व व्यवस्थापन पराणां ब्रह्मसूत्राणां यदि श्रुतिस्मृति विरुद्ध केवलं स्वकपोल कल्पनामात्रेणैव, अभि-निवेश निवेशित सिद्धान्तविशेष रक्षणायः, अन्यथोन्नयनं तर्हि गतं ब्रह्मसूत्राणां पदार्थतत्त्वव्यवस्थापकत्वं परपक्षप्रतिक्षेपेश्वरतत्त्व-विधावपि तथैववादस्यशक्यत्वात्। तत्तद्वादिभिर्विरुद्धतया व्याख्यातानि ब्रह्मसूत्राणि, तत्तत्प्रकरणसमालोचनपूर्वकं सम्य-गालोच्य निरस्तान्यस्मदाचार्य्यैस्ततएव द्रष्टव्यः। अस्मा-

भिस्तुदिग्दर्शनमात्रमेवकृतमिति सिद्धं सर्वाण्येव ब्रह्मसूत्राणि निर्विशेषाद्वैतवादस्य प्रतिकूलानीति। अथ रक्षामण्युदाहृतानि विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त प्रतिकूलान्यद्वैतमतस्यैव साधकानि सूत्राणि समालोचयामः।

(रक्षामणिः—१३०--१३१—पृ०—)

'न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र ही'ति सूत्रमप्यद्वैतिनामेवानुकूलमिति निरूप्यते। न स्थानतोऽपि परस्ये'ति सूत्रेहि नञः श्रवणात् सत्यं वयमपि पश्यामो भवन्त एव किञ्चिदत्र निषेध्यं सूत्रकारा मन्यन्त इति। निषेध्यं च प्रसक्तमेव नाप्रसक्तमिति। किं सूत्रोपात्तमेवोचितमुताध्याहृतमिति तु विप्रतिपन्नमिदम्। अत्र स्थानतोऽपीत्यपि शब्देन समुच्चयार्थेनान्वयाद् नञः, स्थानतः स्वरूपतश्चोभयलिङ्गं न ब्रह्मे'ति स्वरसमन्वयोभवति भगवत्पादमते। सत्यं प्रजापति वाक्यमात्रस्यात्र विचार्य्यत्वे स्थानप्रयुक्तदोषशङ्कामात्रं तद्वाक्यदृष्ट्या प्रसक्तमिति न स्थानतोदोष इति, दोषस्याध्याहार इति समस्त्यवसरः कल्पनायाः, परन्तु नेदं सम्भवति, यतः सर्वत्र पदवैयर्थ्यमत्र समापद्येत। 'सर्वत्र पदप्रयोगेणहि सर्वेषां वेदान्तवाक्यानां विवक्षा, 'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशादि,त्यादौ क्लृप्तेति। सर्ववेदान्त तात्पर्य्य विषय एवात्र विचार्य्यते, नतु वाक्यविशेषगृहीतापुरुषार्थगन्धशङ्कानिषेधादिकम्। तदिदं सिद्धम्—यत् न स्थानतः, इति सूत्रगतस्य नञो न दोषेणाध्याहृतेनान्वयः। सम्बन्ध्याकांक्षाहि श्रुतेनोभयलिङ्गपदेनैव समर्प्यते। नहि प्रजापतिवाक्यश्रवणानन्तरं ब्रह्मणिदोषशंका कस्यापि समापतति।

सर्वत्रही'ति हेत्वंशेतुनाध्याहारदोषः, यतः—अनन्तरसूत्रगत मतद्वचनपदमत्रानुषज्यते। अतद्वचन पदेनत्वनुभयलिङ्गवचनं विवक्ष्यते। तच्चनिर्विशेषवचने पर्यवस्यतीति भगवत् पादमत तात्पर्य्यम्। एतेन

हेतुदलस्य स्वेष्टानुसारेणाध्याहारो न न्याय्य इति शङ्कापि—परास्ता। नहि सूत्रानुपस्थितं किमप्यत्र योज्यतेऽस्माभिः। भवन्मतेतु दोषादि पदस्य सूत्रानुपस्थितस्याध्याहारान्नानुषङ्गः।

तथा च सर्वाणि वेदान्त वाक्यानि न सविशेषब्रह्मपराणि, निर्विशेषैकतात्पर्यकत्वादितिन्यायप्रयोगस्यैवात्र विवक्षितत्वान्नदोषः। भवन्मतेतु—ब्रह्मनिर्दोषम्, सर्वत्रोभयलिङ्गत्वादित्यत्र न केवलं सर्वत्र पदम् किन्तूभयपदमपि व्यर्थमिति, व्यर्थ विशेषणत्वात् व्याप्यत्वा-सिद्धिरिति॥

(अत्र श्रीभाष्यानुयायिनः)

सर्वाणि ब्रह्मसूत्राणि यदि श्रीभाष्यकाराणामेवानुकूलानि तर्हि-'न स्थानतोऽपि परस्येत्यादि कतिपयानि सूत्राणि, अद्वैतिनामेवानुकूलानि न श्रीभाष्यकाराणामिति रक्षामणेः प्रतिज्ञावाक्यं न केवलं भ्रममात्रं किन्तु श्रुतिसूत्रार्थाज्ञाननिब-न्धनत्वमपीति। वयमपि स्वीकुर्मोनञाकिञ्चिदत्र निषेध्यमस्ति, परन्तु—निषेध्यं च प्रसक्तमेव नाप्रसक्तमिति यदुक्तं भवता तदसङ्गतममूलञ्च। विद्यमानत्वमात्रस्यनिषेध्यंप्रत्यप्रयोजक-त्वात्। प्रसक्तत्वादेवानिषेध्यत्वस्यापिजागरूकत्वेन वैपरीत्य-स्यापिवक्तुं शक्यत्वाच्च। तथा च निषेध्यंप्रति न प्रसक्तत्वा प्रसक्तत्वादीनां प्रयोजकत्वं किन्तु-अभिमतवस्तु सम्बन्धानर्ह-त्वस्य-अप्रामाणिकत्वस्य वा सर्वानुगतं प्रयोजकत्वमविवादम्। तादृशंप्रसक्तमध्याहृतंवेत्यन्यदेतत्। नचाध्याहारस्य दोषत्वं-वाच्यं पाणिनिजैमिनिगौतमादि प्रभृतिभिर्शिष्टैरादृतत्वात्।

सर्वत्रैव परस्परं श्रुतिसूत्रयोर्वा विरोधप्राप्तावध्याहारेण विरोध शमनं शिष्टकृत्यमेवेति। अतो 'न स्थानतोऽपीति सूत्रे "पृथिव्यादि स्थानस्थितस्यापि परस्य ब्रह्मणोनापुरुषार्थगन्धः, यतस्सर्वत्र श्रुतिस्मृतिषु ब्रह्मण उभयलिङ्गश्रवणात्" इत्यर्थे दोषस्याध्याहारेऽपि न दोषः। समस्त कल्याणगुणाकरत्व निखिलदोषप्रतिभटत्वरूपोभयलिङ्गस्य—'अपहतपाप्माविजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपाशस्सत्यकामः सत्यसंकल्पः।

"समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ' स्वशक्तिलेशाद्धृत भूतसर्गः।
तेजोबलैश्वर्य्य महावबोधसुविर्य्यशक्त्यादिगुणैकराशिः।
'परःपराणां सकला न यत्र क्लेशादयस्सन्ति परावरेशे।

इत्यादिभिः सहस्रशः श्रुतिस्मृत्यादिषु स्पष्टतया प्रतिपादनं विद्यते। अतो दोषस्यैव निषेधः प्रामाणिको न तूभयलिङ्गस्य। सूत्रोपात्तोभयलिङ्गनिषेधे पूर्वोपदर्शितोभयलिङ्गप्रतिपादक श्रुतिस्मृतिविरोधो दुर्वार एव भवेत् सूत्रकारस्य।

वस्तुतस्तु लोकान्तरेषु सञ्चरतो जीवस्य जाग्रत् स्वप्नसुषुप्ति मूर्च्छाविचार परैस्तत्तदधिकरणैर्दोष दर्शनात् वैराग्योदयाय जीवस्य तत्तदवस्था विशेषाः, निरूपिताः। तादृशनिरूपणानन्तरं परमप्राप्यभूतस्य ब्रह्मणोऽपितत्तदवस्थागताः दोपास्सन्ति न वेति विचारोह्यावश्यकः। यद्यपि परमात्माह्यकर्मवश्यस्तथापि—"यः पृथिव्यां तिष्ठन् य आत्मनि तिष्ठन् यश्चक्षुषि तिष्ठन्" इत्यादिभिर्वाक्यै परमात्मनोऽपि जाग्रत् स्वप्नसुषु-

त्यादिस्थानेषु वर्तमानत्वेन। अनिच्छयापि नाना विधा-शुचिदेहादिसम्बन्धस्य दोषावहत्वेन च, तादृश तत्तत्स्थानसम्ब-न्धगताः दोषाः परमात्मानंस्पृशन्ति न वेति विचारेण परमा-त्मनो निर्दोषत्वकल्याणगुणाकरत्व समर्थनायारब्धमिदमुभय-लिङ्गाधिकरणम् ।

तत्र स्थानप्रयुक्तदोषस्य निषेध्यभूतस्य प्रक्रान्तत्वेन प्रसक्त-मेव निषेध्यमिति भवत्पक्षेऽपि—"न स्थानतोऽपि परस्योभय-लिङ्गं सर्वत्रहि" इत्यत्र प्रसक्तदोषनिषेधेन नाध्याहारदोषोऽप्य-स्माकमिति।

<u>सर्वत्र पद वैयर्थ्योक्तिरपि भवतां विचारशून्यैव।</u> यदि सर्वत्र पदेन सर्वेषां वेदान्तानां तात्पर्य्य मुच्यते तर्हि—"सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशादि'त्यत्रैव भवदीय सर्वशंसयस्य निर्मूलनेन, उत्तर-सूत्राणां सर्वेषामुत्थानमेव निर्मूलंस्यात्। "न स्थानतोऽपि परस्येत्यत्रापि सर्वत्र पदेन सर्वार्थसिद्धावुत्तरसूत्राणांवैयर्थ्यमनि-वार्य्यमेवभवतामिति। अस्माकन्तु यादृशाशङ्कावारणार्थंसर्वत्र पदं प्रविष्टं तद्विषयस्य प्रामाणिकत्व सम्पादनेऽपि पक्षान्तर निराशपूर्वकतत्तद्विशेषस्वरूप शोधनाय सर्वेषां सूत्राणां परमाव-श्यकत्वमेवेति। 'उभयलिङ्गं सर्वत्रही'त्यत्र समस्तकल्याण-गुणाकरत्वनिखिलदोषप्रतिभटत्वरूपोभयलिङ्गस्य सर्वत्र पदेन श्रुतिस्मृत्यादिषु प्रामाणिकत्वेऽपि शंकान्तर वारणार्थं 'भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनादि'त्यादिसूत्राणां सार्थक्यं योग्यमेव।

भवन्मतेतु सर्वत्र पदेन सर्व वेदान्ततात्पर्यस्यैव ग्रहणेन निर्वि-शेष ब्रह्मव्यतिरिक्तं कृत्स्नंमिथ्येत्याकारकस्य भवत्कूटप्रसिद्धस्य-तादृशतात्पर्य्यस्यैकत्रसिद्धौ निःशेषभ्रमनिवृत्तिसम्भवेन कथं पुन-रुत्तरसूत्राणामुत्थानं न वैयर्थ्यमिति विमृशन्तु विद्वांसः।

यदप्युक्तम्—भवन्मतेतु "ब्रह्मनिर्दोषं, सर्वत्रोभयलिङ्ग-त्वादित्यत्र न केवलं सर्वत्रपदं किन्तूभयपदमपिव्यर्थमिति, व्यर्थविशेषणत्वात्, व्याप्यत्वासिद्धिरिति। तदप्यसङ्गतम्, अनुमानघटकतत्तत्पदानांतत्तदर्थबोधकतया परमावश्यकत्वात्।

श्रुतिस्मृत्यादि बोधकत्वेन सर्वत्रपदं निरस्तनिखिलदोषत्व समस्तकल्याण गुणाकरत्व रूप लिङ्गद्वयबोधनायोभयपदं च चारितार्थ्यमेव। नहि लिङ्गपदं विशिष्टाद्वैतिनामुभयलिङ्गत्वे-रूढं येनकथंचिदपिभवदीयशंकोत्थानमपिसयुक्तिकं भवेत्। वस्तुतस्तु व्यर्थविशेषणत्वेन व्याप्यत्वासिद्धिकथनमपि भवतां निर्मूलमेव यतोहिवादिप्रतिवाद्युभयसम्मतत्व एव व्यर्थविशेषणत्वेन व्याप्यत्वासिद्धिरितिनियमस्य—नीलधूमवानित्यादौ दर्शनेन-एकतरपक्षमादायासिद्धिकथनमसङ्गतमेव। नह्यनुमानं येन प्रयु-ज्यतेतन्मतरीत्यैव नीलधूमवानित्यादौव्यर्थ विशेषणत्वेन व्या-प्यत्वासिद्धिः, न प्रतिवादिरीत्येति—तथा च सर्वत्रोभयादि-पदानां व्यर्थ विशेषणत्वेन व्याप्यत्वासिद्ध्युद्भावनं निर्मूलमेवेति-

किञ्च यादृशेन बुद्धिवैभवेन व्यर्थविशेषणत्वात् व्याप्यत्वा-

सिद्धिरित्युद्भाव्यते, तादृशेन बुद्धिवैभवेन। स्वगृहं किन्न दृश्यते भवता-यतोहि, ब्रह्मनोभयलिङ्गमिति भवदीय प्रयोगेऽप्युभयपदं वैयर्थ्यमेव केवलेन लिङ्गपदेनैव समीहितार्थलाभस्य सिद्धत्वात्। तस्मात्स्वमतसिद्धवैयर्थ्यदोषस्य परत्रारोपणंभवदज्ञानकृत्यमेवेति।

अथाद्वैतिनांकीदृशीस्थितिः, न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्रही''ति सूत्रे, इति, प्रसंगाद्विचार्य्यते-नञः, उभयलिङ्गपदेनान्वयं विधाय ''स्थानतः स्वरूपतश्च नोभयलिङ्गंब्रह्म सर्वत्र निर्विशेषत्व श्रवणादिति शंकराभिमतमिति भवन्तोवर्णयन्ति। तद सङ्गतमेव, ''त इमे सत्याः कामाः, सत्यसंकल्पः, यः सर्वज्ञः सर्ववित्'

पराऽस्यशक्तिर्विविधैवश्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बलक्रिया च' समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ'' इत्यादि सगुणप्रतिपादक श्रुतिपुराणादि विरोधात्।

तथा च तादृशानुमानस्यश्रुत्यादि बाधग्रस्तत्वेन न तेन निर्विशेषत्वसाधनंयुक्तम्-नहि बाधसद्भावेऽनुमानोदयः। किञ्च सविशेषत्वस्यापिनिषेधे सगुण प्रतिपादक श्रुतिविरोधादप्रामाण्यमेव सूत्राणां मन्तव्यं श्रुतिप्रामाण्यस्य सर्वपूज्यत्वात्, श्रुतिसूत्रविरोधे सूत्राप्रामाण्यस्यव्यासाधिकप्रज्ञैर्भवद्भिः स्वीकृतत्वाच्च।

आनन्दमयाधिकरणे श्रुतिसूत्रविरोधे सूत्रखण्डनस्य, अत्र सूत्रेण श्रुतिखण्डनस्य च परस्परं भवतां विरोधाधिक्याच्च।

यदि चेद्भगवतस्सूत्रकारस्योभयलिङ्गत्व निषेधे तात्पर्य्यंस्यात्तर्हि 'स्थानतोऽपि परस्यनोभयलिङ्गं सर्वत्रहि' उभयलिङ्गंने'ति वा सूत्रकरणं ध्रुवंस्यात्। येन दूरान्वयादिवहुक्लेशस्याप्यवसरो भवतां न स्यादिति। तस्मात्परमाप्ततमस्य भगवतोव्यासार्य्यस्य श्रुतिविरुद्धतात्पर्य्यकल्पनेन स्वदोषस्यपरत्रारोपणमात्रमेवाद्वैतिनाम्।

किञ्च 'अदृश्यत्वादिगुणकधर्मोक्तेः' अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' विवक्षितगुणोपपत्तेश्चेत्यादिभिः पूर्वोक्तैः, सिद्धान्तसूत्रैः, अदृश्यत्वादीनामपि गुणत्वं तेषां ब्रह्मधर्मत्वञ्च प्रसाध्यब्रह्मैकान्तैस्तत्तदसाधारणधर्मविशेषैः जीवंव्यावर्त्य साधितस्य सगुणस्वरूपस्य ब्रह्मणः पुनरुत्तरत्र 'न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्रहीति, उभयलिङ्गाधिकरणे तादृश सगुणस्वरूपस्यनिषेधे सति सूत्राणां परस्परविरोधेन व्याहतभापित्वमपि सूत्रकारस्य दुर्वारमेवाद्वैतिनामिति।

अस्माकन्तु पूर्वोक्तैस्सूत्रैस्सगुणस्वरूपस्य साधितत्वेन निर्दोषत्वसमर्थनाय परब्रह्मण उभयलिङ्गाधिकरणमिति न कोऽपि क्षोदक्षमावकाश इति।

किञ्च 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इत्यधिकरणे कारणातिरिक्तस्य सर्वस्यमिथ्यात्वस्याद्वैतसिद्धान्तसिद्धत्वेन पुनरुत्तरत्र निर्विशेषमात्रसत्यत्वस्य तदतिरिक्तस्य मिथ्यात्वस्य चोभयलिङ्गाधिकरणे वर्णनेन निष्प्रयोजनत्वपुनरुक्त्यादि दोषा-

णां समावेशेन तादृशाधिकरणस्यवैयर्थ्यमनिवार्य्यमेवाद्वैत-सिद्धान्ते।

न केवलं वैयर्थ्यमेवोभयलिङ्गाधिकरणस्य किन्तु नञः, व्यवहितेनोभयलिङ्गपदेनान्वये साध्यपद दुर्भिक्षोऽपि महान् क्लेशः।

ब्रह्मनोभयलिङ्गं किन्त्वन्यतरलिङ्गं तत्रापि न सविशेषलिङ्गं किन्तुनिर्विशेषलिङ्गमित्यादिवह्वध्याहारक्लेशोऽपितन्मते।

सम्भवत्यव्यवहितान्वये व्यवहितान्वयस्य त्याज्यत्वेन नञः स्वरससिद्धसन्निहितान्वयत्यागेन, दूरस्थोभयलिङ्गपदान्वयेन दूरान्वयकल्पनमपि भवतामधिकम्। ज्ञाप्यस्वरूपातिरिक्तज्ञापकपरेण लिङ्गशब्देन निर्विशेषत्वग्रहणमप्यत्यन्त विरुद्धम्, निर्विशेषत्व-स्यधर्मानभ्युपगमात्। तथाचोभयलिङ्गघटक लिङ्गशब्देन निर्वि-शेषत्वग्रहणंकृत्वा तस्य निषेध्यतावच्छेदककोटौ निवेशनमप्यु-न्मत्तप्रलापमात्रम्, किन्नामलिङ्गं निर्विशेषे लिङ्गशब्दस्य धर्म्यति रिक्त धर्मपरत्वस्य सर्व प्रसिद्धत्वात्। तत्र धर्मादिस्वीकारे निर्विशेषाद्वैतभङ्गः, अस्वीकारे च लिङ्गशब्देनग्रहणमयुक्त-मित्युभयतः पाशारज्जुरिति।

किञ्चहेतुरप्यसिद्धोऽत्र—'ब्रह्मनोभयलिङ्गं सर्वत्र निर्विशेषत्व-श्रवणादित्यनुमान शरीरं भवतामिति तत्र निर्विशेषत्वरूपहेतु-रेवासिद्धः। सगुणस्वरूपसगुणविद्या प्रतिपादकानां वहूनां श्रुतिसूत्राणां सद्भावात्। भूयस्यस्सगुणश्रुतयः, सगुणविद्या-

प्रतिपादकानि च बहूनि वाक्यानि, इति भवद्भिरपि स्वीकाराच्च। तेषां तत्र तात्पर्य्यं नास्तीतिभवतां कपोलकल्पनामात्रत्वात्। सर्वत्रनिर्विशेषत्वश्रवणादित्युक्तौ—यः सर्वज्ञः सर्ववित्, स्वाभाविकीज्ञानबलक्रियाचेत्यादिसगुणप्रतिपादकश्रुतिशतैर्बाधसद्भावे कथमसिद्धेन हेतुनास्वार्थलाभोहेतोरसिद्धिर्नदोष इति च भूयिष्ठकल्पनाविशेषोऽधिकः। सर्वत्रपदेन निर्विशेषत्वग्रहणे प्रमाणाभावेन तेन तद्ग्रहणस्य निष्प्रमाणिकत्वाच्च। निर्विशेषत्वस्याध्याहारेध्याहार एव दोषः तस्यदोषत्वेन भवद्भिःस्वीकृत त्वाच्च। ब्रह्मनोभयलिङ्गं सर्वत्र सविशेषत्वश्रवणादिति वैपरीत्यस्याप्यनिवार्य्यत्वाच्च। <u>तस्मात्सर्वत्रपदं सर्वत्रैवाद्वैतिनामन्धकारमापादयतीति सिद्धम्।</u>

एतेन—सर्वत्रहीति हेत्वंशेनाध्याहारदोषोयतः, "अनन्तरसूत्रगतमतद्वचनपदमत्रानुषज्यते। अतद्वचनपदेनत्वनुभयलिङ्गवचनं विवक्ष्यते तच्च निर्विशेषवचने पर्य्यवस्यतीतिनाध्याहारदोष इति भगवत्पादतात्पर्य्यमित्युक्तिरपि निरवसरानिर्मूला च।

अतद्वचन पदेन निर्विशेष ग्रहणस्य स्वकपोलकल्पितत्वात्। पूर्वोक्त सविशेषत्व प्रतिपादक प्रमाणशत विरोधाच्च। अतद्वचन पदेन सविशेषत्व ग्रहणस्यापिनिराबाधत्वेन भवदीय सकल प्रयासस्यमृगतृष्णायमाणत्वाच्च।

किञ्चातद्वचनपदेनाप्रासङ्गिकाप्रस्तुत निर्विशेष ग्रहणे—

प्रकृतैतावत्त्वंप्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः। इत्युत्तरसूत्र-विरोधोऽपि दुर्वार एव—अत्र त्वप्रत्ययेनैतावत्त्वपदेन च साकारवाद एव सूत्रकारस्यानुमतः। निर्विशेषवादस्यप्रामाणिकत्वे—प्रकृतं प्रतिषेधतीत्यनेनैवाभीष्टसिद्धौत्वप्रत्ययस्य—एतावत्व पदस्य च वैयर्थ्यं दुर्वारमेवेति। अतद्वचनपदस्योत्तरत्रवर्तमानस्यताद्दशार्थपरस्यापकर्षणेकिम्मूलमिति जिज्ञासायां-किमुत्तरमद्वैतिनामिति। तस्मात्—'नस्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गंसर्वत्रहीति सूत्रमपि श्रीभाष्यकाराणामेवानुकूलं नत्वद्वैतिनामिति—

अरूपवदेवहि तत्प्रधानत्वादिति सूत्रमप्यत्यन्त विरुद्धमद्वैतिनाम्। श्रीभाष्यकाराणामेवानुकूलमिदमपि सूत्रम्। यदि निर्विशेषमेव ब्रह्माभिमतमस्ति बादरायणाचार्य्यस्य तर्हि वतिनिर्देशमकृत्वा स्पष्टमरूपमिति, निर्गुणमिति, वा, कुतोनोक्तम्।

अतोऽरूपवदेवेति वदतस्सूत्रकारस्य निर्विशेष निराशेन सविशेष सगुणब्रह्मवाद एव हृदयङ्गमः— अन्यथावतिप्रत्ययस्य वैयर्थ्यं प्रसङ्गोऽनिवार्य एव भवेत्।

(रक्षामणिः— १३४— पृ०—)

अरूपवदितिसूत्रं समालोचयामः— इदमेवास्माकं वक्तव्यं यदत्र श्रीभाष्यमते— तन्निर्वाहकत्वादित्यत्र न केवलं तत्पदेन शरीरग्रहणेन तन्नियामकत्वेन विवक्षानभवति किन्तु— भोक्त्रापत्तिसूत्रादि सिद्धस्यैव पुनरपि 'न स्थानतोऽपि' इति प्रथमसूत्रार्थसाधितस्यैव वा तन्मत

उपपादनात्, अरूपवत्सूत्र वैयर्थ्यमपि समापतति । मात्रालाघावंतु वैयाकरणानामेव पुत्रोत्सवाय न वैयासिकानामपि, अतोऽरूपपदं निर्गुणंबोधयति, अरूपवत्पदमपि तद्धितान्तस्य नञ् तत्पुरुषेण निष्पन्नं तदेवतु बोधयतीति कथं श्रीभाष्यानुयायिनामनु कूलमिदं सूत्रमिति ।

तदपि श्रीभाष्याद्यनवलोकनैकनिबन्धनत्वादसङ्गतम् । तथाहि यदुक्तं तावत् 'भोक्त्रापत्ति सूत्रादि सिद्धार्थप्रति पादकत्वाद्वैयर्थ्यं सूत्रमिदमिति तन्नावसरति श्रीभाष्यसिद्धान्ते— उपासकस्योपास्यतया हृदयायतने सन्निहितस्य परमात्मनःशरीरान्तर्वर्तित्व मात्रेण भोगप्रसङ्गमाशंक्य—'सम्भोग प्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यादि' तिसूत्रेण समाहितम् । यथा कार्य्यवशात् परगृहं प्रविष्टस्य गृहसन्निधिमात्रेण गृहपतित्व प्रयुक्तानर्थाभ्युदय भाक्त्वं न भवति, तथोपास्यत्वाय हृदयस्थस्य शरीर सन्निधिमात्रेण, शरीरत्वप्रयुक्त भोक्तृत्वापत्तिर्नास्तीति स्पष्टीकृतंश्रुतप्रकाशिकायाम् । विलक्षणत्वाधिकरणे 'नतुदृष्टान्तभावादि' त्यादौब्रह्मणोजगच्छरीरत्वमुक्तम् । तत्रपुनः, जगच्छरीरत्व प्रयुक्तं भोक्तृत्वादिकमाशंक्य— 'भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत्' इतिसूत्रेणसमाहितम् ।

शरीरविशिष्टस्य जीवस्य सुखदुःखादि भोक्तृत्ववत्, जगच्छरीरकस्य परमात्मनोऽपि सुख दुःखादि भोक्तृत्वं कुतोनेति जिज्ञासायां तादृशेन सूत्रेण समाधत्ते सूत्रकारः, तत्रदृष्टान्तमाह—लोकवत्, यथालोके राजशासनानुवर्तिनां तदतिवर्तिनांच राजानुग्रहनिग्रहकृत सुख दुःखयोगेऽपि न शरीरित्व-

मात्रेण शासके राज्ञ्यपि शासनानुवृत्त्यतिवृत्ति निमित्ति सुख-दुःखयो र्भोक्तृत्व प्रसङ्गः, तद्वत् शरीरित्व मात्रेण नेश्वरस्य सुखदुःखादि भोक्तृत्वप्रसङ्गः।

तथाच सुख दुःखादि भोक्तृत्वं न शरीरत्वप्रयुक्तं किन्तु कर्मारब्ध शरीरत्वप्रयुक्तमेव, ईश्वरस्य तदभावाददूषणमिति समाधान ग्रन्थार्थः।

अरूपवदिति सूत्रेतु न 'तेन रूपेणपूर्वपक्षोत्थानं समाधानञ्च, येन पुनरुक्तेरवसरोभवताम्।

तथाहि— कर्मवश्यत्व सूचकमेव देव मनुष्यादि नानावि-धरूपत्वं सर्वेषां नामरूपव्याकरणंहि ब्रह्मात्मकजीवानुप्रवेशपूर्वकं तच्च—अनेन जीवेनात्मनाऽनु प्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति श्रुतिसिद्धम्। तादृश नामरूप—व्याकरणत्वेन, ब्रह्म-णोऽपि तदात्मभूतस्यदेवमनुष्यादिरूपत्वं तन्नामभाक्त्व-श्चास्त्येव, ततश्च विधिनिषेधोगोचरत्वेन ब्रह्मणोऽपि कर्मवश्यत्व मवर्ज्जनीयमिति प्रकारान्तरेण शंकान्तर वारणार्थमरूपवदिति सूत्रम्। तथाच वैयर्थ्योद्भावनं भवतां श्रीभाष्याद्यर्थाज्ञाननिबन्ध-नमेवेति सिद्धम्॥ भोक्त्रापत्तेरिति सूत्रस्य यथा वैयर्थ्यं शंक-रादिमते तथोक्तं श्रीभाष्यकारैः—

यत्तु परैर्ब्रह्मकारणवादे भोक्तृभोग्यविभागाभावमाशंक्य समुद्रफेन तरङ्गदृष्टान्तेन विभागप्रतिपादनपरं सूत्रं व्याख्या-तम्। तदयुक्तम, अन्तर्भावित शक्त्यविद्योपाधिकाद्ब्रह्मण स्सृष्टि-

मभ्युप गच्छतामेवमाक्षेपपरिहारयोरसङ्गतत्वात् । कारणान्तरगत शक्त्यविद्योपाध्युपहितस्य भोक्तृत्वादुपाधेश्च भोग्यत्वात् । विलक्षणयोस्तयोः परस्परभावापत्तिर्हि न संभवति । स्वरूपपरिणामस्तु तैरपि नाभ्युपेयते । न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादिति क्षेत्रज्ञानां तद्गत कर्मणाञ्चानादित्वप्रतिपादनात् ।

स्वरूपपरिणामाभ्युपगमेऽपि भोक्तृभोग्याविभागाशंकाकस्यचिदपि न जायते---मृत्सुवर्णादि परिणाम रूप घटशराव कटक मुकुटादि विभागवद् भोक्तृभोग्य विभागोपपत्तेः । स्वरूपपरिणामेच ब्रह्मण एव भोक्तृ भोग्यत्वापत्तिरिति पुनरप्यसामञ्जस्य मेवेति । एवं विधानां श्री भाष्यकारैः कृतानां दूषणानां किमुत्तरमद्वैतिनामिति ।

निर्विशेष ब्रह्मणस्सूत्रकारस्येष्टत्वे कथमरूपं निर्गुणमिति वा नोक्तं स्पष्टनिबन्धनत्वात्सूत्रकारस्य । कथंचन निर्विशेषपरत्वे वतिप्रत्ययस्य वैयर्थ्यम् । मात्रालाघवन्तु वैयाकरणानामेव न वैयासिकानामिति, भवता किमर्थं कल्प्यते कल्पनायाश्च किम्मूलं केवलं कथामात्रेणैव सन्तुष्यते । ज्ञातसमग्रशास्त्र रहस्यानां सूत्ररूपेण समग्र वेदान्तार्थप्रकाशन तत्पराणां भगवद्बादरायणाचार्य्याणां मात्रालाघवं नास्तीतिरिक्तमिदंवचनम् । भगवता पतञ्जलिना व्याकरणाध्ययनस्य किम्प्रयोजन मुक्तमित्यप्यज्ञातं भवता, अन्यथा नेदृश मसंगतं वचनं भवेत्भवतः ।

किञ्च सूत्रलक्षणाज्ञानमूलोऽपि भवदीयकल्पनाविशेषः–सूत्रलक्षणमित्थ मामनन्ति तत्त्वज्ञाः ।

"अल्पाक्षर मसंदिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभमनवद्यंच सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥

अत्रस्पष्टमेव सूत्रेऽल्पाक्षरत्व मुच्यते––यदि व्यासाचार्य्यस्यनिर्गुणे तात्पर्य्यं स्याचर्हि कथम्, अरूपम्, निर्गुणम, इति वा नोक्तं यतोहि––अल्पाक्षर मसंदिग्ध मित्यादि सूत्र लक्षणमपिसङ्गतंभवेत् । तस्माद प्रामाणिकी कल्पना भवत एव शोभते–– नतु व्यासाचार्य्याणामिति ।

'तेन तुल्यं क्रियाचेद्वतिः' इतिपाणिनीय सूत्रेणसादृश्य निबन्धन वतिप्रत्यस्य प्रकृत्यर्थबोधकत्व मात्रमितिस्वीकारे व्याकरणतंत्रविरोधोपि दुर्वार एव । अतोभवन्तः स्वैराचारेण यथा तथा वदन्तु न प्रामाणिकानांकाऽपि क्षतिः । व्याससूत्रे तु सर्वत्रैव मात्रालाघवमस्ति न कुत्रापि निष्प्रयोजनमेकमपिपद मक्षरंवा विद्यते––अतएव सर्वतोभावेन मान्यास्ते––तस्मादरूपवदिति सूत्रमप्यद्वैतिनांप्रतिकूल मेवेति सुनिश्चितम् ।

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्" नाभाव उपलब्धेरि" त्यादिसूत्रैः योगाचारादिमतनिराश प्रसङ्गेनाद्वैतमतमपि निरस्यन्ति बादरायणाचार्य्याः । तस्माद् ब्रह्मसूत्रकारबादरायण सिद्धान्तविरुद्ध एवाद्वैतसिद्धान्तः स्वतंत्रसिद्धः काल्पनिकश्चेति । यत्त्वत्रकैश्चिदुक्तम्–

(रक्षामणिः—१३९—१४०—पृ०—)

"बादरायणाचार्य्या हि न केवलं " न स्थानतोऽपि" इत्यादिसूत्रैः, किन्तु मुक्तेर्गतिनिरपेक्षत्व व्यवस्थापकैः स्वाप्निकमायिकत्व व्यवस्थापन परैश्चान्यैः सूत्रैरप्यद्वैतमतमेव स्वादरणीयं मन्यन्ते। योगाचारमतादद्वैत मतस्य महान् विशेषः, इति न योगाचारमतनिरसनमेवाद्वैतमत निरसनम् ॥ नाभावउपलब्धेः, इति, अर्थानामभाव उपलभ्यमानत्वेन निरस्यते। इदंच येषां मतेऽर्थस्य नोपलब्धिरेव, तस्यैव मतस्य निरसनं भवितु मर्हति। नहि योगाचारमत इवाद्वैतमतेऽर्थस्य ज्ञानातिरिक्ता कारवतोनोपलब्धिरेव स्वीक्रियते। उपलभ्यमानस्यार्थस्य बाधितत्व मात्रमेव भगवत्पदा मन्यन्त इति। तदपि परास्तंसुदूरमपि गत्वा योगाचार मतादविशेषात् ॥

नहिं वयमपि ब्रूमो भवन्तः योगाचाराः किन्तु तदनुयायिन इति। न ब्राह्मणं हन्यादित्यादिकं नासिप्रयुक्त हनन निषेधपरं किन्तु सर्वविधप्राणवियोग निषेधकम्।

योगाचारेण यदि प्रकारान्तरेण जगदपलप्यते भवतापि प्रकारान्तरेण तर्हि जगतोऽभावस्याऽन्ततो गत्वा--उभय सिद्धत्वेन योगाचार मतात् शंकरमते को विशेषः।

जगदपलापि योगाचारमत निग्रहकर्तारो बादरायणाचार्य्याः कथं न शंकरमतनिग्रह कर्तार इति जानन्तु विद्वांसः।

अर्थानामुपलभ्यमानत्वेनाभावं निषेधति बादरायणाचार्य्यः त्वयातु किञ्चित्कालादनन्तरं बाधादेवाभावः साध्यते। तर्हि भावविरुद्धाभाव साधनेन कथं न वेदबाह्यानुयायिनो भवन्तः।

मायापदेन स्वार्थलाभस्तु आशामोदकमात्रमेव। मायावयुनं ज्ञानमित्यादि प्रमाणैः विचित्रसर्गकरत्वमेव मायापदप्रवृत्ति-निमित्तं नतु त्वदभिमतं मिथ्यात्वादिकं निर्मूलं कपोल काल्पनिकम्। यथाच मायाशब्दो न थ्यियात्वपर स्तथा पूर्वमेव विवेचितः। अतस्सिद्धं वेदान्तसूत्रविरुद्धमेवाद्वैतमत-मिति ॥ एतावता प्रवन्धेन वेदान्तरक्षामणि प्रथम भागोक्तानां श्रीभाष्यदूषणाभासानां निराशः कृतः। अथ द्वितीय भागोक्त-मिथ्याप्रलाप प्रशमनाय, आनन्दमयाधिकरणार्थो विचार्य्यते।

"अथ"

"आनन्दमयाधिकरणार्थ विचारः"

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्संभूतः" इत्यारभ्य—तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर, आत्मानंदमयः" इत्यत्र जगत्कारणतयावगत आनन्दमयः प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूतः सर्वज्ञत्व सर्वशक्तित्वादि विशिष्टः परमात्मा,–आहोस्विज्जीवः, इति संशयः।

तत्र जीव एवानन्दमय इति पूर्वपक्षिणः सांख्याः। तन्नि-रसनेनानन्दमयः परमात्मैवेति वेदान्तिनः।

"साख्य सौगत चार्वाक शंकराच्छंकरोदयः" इत्यभि-युक्तोक्त रीतिमनुसृत्य पुच्छब्रह्मवादिनोऽद्वैतिनोप्यत्रानन्द-मयस्य जीवत्वं वदन्ति। तत्रभगवता व्यासाचार्य्येण–

'आनन्दमयोऽभ्यासात्' "विकार शब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्य्यात्" तद्धेतुव्यपदेशाच्च" मांत्रवर्णिकमेवच गीयते" नेतरोऽनुपपत्तेः' भेदव्यपदेशाच्च, कामाच्च नानुमानापेक्षा" अस्मिन्नस्य च तद्योगंशास्ति" इत्यष्टाभिः सूत्रैः सर्वमपि विरुद्ध-मतं निरस्य, आनन्दमयः परमात्मा इतिपक्षः स्थापितः।

श्रीभाष्यकृद्भिः श्रुत्यादिप्रमाणैः सत्तर्कैः समीचीनन्यायैश्च वेदविप्लावकान्निरस्यानन्दमयः परमात्मा एव नतु जीव इति वेदान्तसिद्धान्तः संरक्षितः। तथाहि– ननुच "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इत्यानन्दमयादन्यद्ब्रह्मेति प्रतीयते। नैवम्,, ब्रह्मैव स्वस्वभाव विशेषेण पुरूष विधत्व रूपितं शिरः पक्षपुच्छ रूपेण व्यपदिश्यते। यथाऽन्नमयो देहोऽवयवी स्वस्मादनतिरिक्तैः स्वावयवैरेव "तस्येदमेव शिरः" इत्यादिना शिरः पक्ष पुच्छ वत्तया निदर्शितः, तथाऽनन्दमयं ब्रह्मापि स्वस्मादनतिरिक्तैः प्रियादिभिर्निदर्शितम्, तत्रावयवत्वेन रूपितानां प्रियमोद प्रमोदानन्दानामाश्रतयाऽखण्डरूपमानन्दमयं "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठे"त्युच्यते। यदि चानन्दमयादन्यद् ब्रह्माभविष्यत् "तस्माद्वा एतस्मादानन्दमयादन्योऽन्तर आत्मा ब्रह्म इत्यपि निरदेक्ष्यत, नचैवं निर्दिश्यतइत्यादिभिः पुच्छ ब्रह्म वादस्य निरस्तत्वेपि समालोचकाज्ञान निरसनं तदीयाज्ञानप्रयुक्तलेख-निरसनमेववरमिति विचार्य्यते तत्र प्रथमं परपक्ष निराकृति सिद्धान्त निदर्शनम्।

तथाहि—"अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः" इत्यत्र मयट् प्राचुर्य्यार्थक एव। प्रकरण आनन्दस्य 'ते ये शतमित्यादिना "यतो वाचो निवर्तन्ते" इत्यन्तेन निरतिशयत्वरूप प्रचुरत्व प्रतीतौ, मयटः प्राचुर्य्येप्यनुशासनेनानन्दमयपदस्य प्रचुरानन्द विशिष्ट बोधनसामर्थ्ये च तत्परित्यज्यान्यार्थकत्वाश्रयणायोगात्। तथाच तादृश प्रभूतानन्दो जीवेन संभवतीति तद्वान्परमात्मैवा-नन्दमयः प्रतिपत्तव्यः।

प्रचुर इत्युक्तेऽल्प दुःखावगमेन नायमानन्दमयः परमात्मा किन्तु जीव एव इति–तु न शंक्यः। प्रचुर प्राकाशश्चन्द्र इत्यादौ तमोलेशसम्बन्धाप्रतीतेस्तथानियमायोगात्।

जीववाचित्व पक्षेऽपि न मयटो विकारार्थत्वं संभवति। जीवस्यापि नित्यत्वेन घटादेरिव किञ्चिद्विकारत्वायोगात्। "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" इत्यानन्द शब्दस्थाने— "आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्ये' त्यानन्दमयशब्द निर्देशेन तयोः पर्यायत्वावगादानन्दमयस्य परमात्मत्वमिति। आनन्दमयो जीवः, जीवाहंकारास्पदोत्तरोत्तरसूक्ष्मार्थ रूपत्वादित्यनुमा-नन्तु—'आनन्दमयो ब्रह्म, शरीरादिपञ्चमस्थानत्वात्, भृगुव-ल्याम्नातानन्दवदिति प्रत्यनुमानपराहत मित्यादिकं परपक्षनि-राकृतिकाराः श्रीभाष्याशयवर्णनेनाद्वैतवादान्निरस्यन्ति।

तत्रोत्तर प्रदाने निरतानां भवतामनन्तकृष्णशास्त्रिणा

मुक्तयः सर्वथैवायोग्याः प्रमाणादिलेशविधुरा इति भवदीय द्विती-यभागग्रन्थ खण्डनेन पूर्वोक्तां प्रतिज्ञां सम्यक् प्रकाशयामः ॥

(रक्षामणिः—४५ पृ० —)

"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वानि'ति षष्ठीश्रवणाद्, आनन्द ब्रह्मणोर्गुण गुणिभावो विवक्ष्यत इति शंकापि-परास्ता, "उदरमन्तरं कुरुते" इति भेदनिन्दायां सत्यां ब्रह्मणि कस्यापि भेदस्य कल्पनायाः श्रुत्यसम्मत-त्वात्। तदुक्तम्—'आनन्दानन्दिनोश्चात्र न भेदःस्याद् मनागपि। श्रुत्यैवापोदितो यस्माच्छिद्रं कुर्वन् मनागपि, इति।

बिम्बस्यैव प्रतिबिम्बरूपेणान्यथा भावेन प्रतिबिम्बस्य बिम्बका-र्यत्वस्य तद्विकार्य्यत्वस्यवाऽविरोधात्। प्रतिबिम्बस्यानित्यत्वेन जीव-स्याप्यनित्यत्वेऽपि बाधका भावात् "तत्त्वमसि" अहं ब्रह्मास्मी'तिबा-धायामेव सामानाधिकरण्यमिति मतस्यापि जागरूकत्वात्। अवच्छेद-वादेप्यवच्छेदकस्य ब्रह्मकार्यत्वेना नित्यत्वेन चावच्छिन्नस्यापि-घटाकाशादेरिवान्तः करणाद्यवच्छिन्नजीवस्य स्वरूपतो नित्यत्वेऽपि विशिष्टरूपेणानित्यत्वात्—तथाच जीवस्य विकारित्वाभाववचनं परपक्षनिराकृतिकारस्यासंगतमित्युक्तिरपि निरस्तगीतगान प्रायत्वाद-संगतैवेति। तथापि विचार्य्यते—

(अत्र प्रतिवदामः)

तत्र यत्तावदुक्तम्—'आनन्दानन्दिनोश्चात्र न भेदः स्याद् मनागपि। श्रुत्यैवापोदितो यस्माच्छिद्रं कुर्वन् मनागपि॥ इति स्वाचार्य्यवाक्यं तदसङ्गतम्।

'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनः' इत्यत्र

ब्रह्मणः आनन्दं विद्वानिति व्यतिरेकनिर्देशेन आनन्द-आनन्दिनोर्भेदस्य श्रुतिसिद्धत्वात्। नच 'उदरमन्तरं कुरुते'इति श्रुतिविरोधः शंक्यः स्वतन्त्रभेदनिषेधपरत्वात्तस्याः। अनुगृहीतं चेदमाचार्य्यः—

यद्ब्रह्मणो गुण शरीर विकार भेद कर्मादिगोचरविधिप्रतिषेधवाचः। अन्योऽन्य भिन्न विषया न विरोधगन्धमर्हन्ति तन्न विधयः प्रतिषेधवाध्याः॥

अयम्भावः—उत्सर्गापवादनयेन निषेधस्य विहितभेदव्यतिरिक्तविषयत्वात्। छागपशुन्यायेन वा सामान्येन भेदनिषेधस्य स्वतंत्रभेदनिषेधपर्यवसायित्वाच्च।

भेदनिषेध श्रुतयोऽब्रह्मात्मकनानात्वनिषेधपराः नतु सामान्यतो भेदमात्र निषेधपराः। अतो भेदप्रतिपादकानाम् 'पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति' ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ' 'द्वासुपर्णा सयुजा सखायौ समाने वृक्षे' इत्यादि बहूनां श्रुतिवाक्यानां न वैयर्थ्यप्रसंगः। अद्वैतमतेतु भेदवाक्यानां बहुनां वैयर्थ्यमपरिहार्य्यमेवेति। पारमार्थिकत्व-अपारमार्थिकत्वाभ्यां निर्वाहकल्पनन्तु-श्रुतिखण्डनप्रायत्वादुपेक्ष्यमेव। भेदश्रुतीनामेव पारमार्थिकत्वमभेदश्रुतीनामपारमार्थिकत्वमिति प्रतिवचने स्वार्थसाधने प्रमाणाभावोऽपि तन्मते।

वस्तुतस्तु—आनन्दानन्दिनोश्चात्र न भेदः स्याद्मनागपी, त्यनेनापि न स्वार्थसिद्धिर्भवतः। नह्यानन्दस्य निषेधोऽनेनो-

च्यते किन्तु तयोर्भेदस्यैव। वयमपि घटपटादिवत् गुणगुणिनोर्न सर्वथाभेदमिच्छामः किन्त्वपृथक्सिद्धत्व विशिष्टवेषणैवेति। तथाच न भेद इत्यत्र न-स्वतन्त्रभेद इत्यर्थकरणेन तादृश वचनमपि योग्यमेव। भवदुक्तन्तु निरस्तं मया। यदि सर्वथैव भेदनिषेधे तात्पर्य्यं तादृशस्य वाक्यस्य तर्हि श्रुतिविरोधादेवासङ्गतमिति।

यदप्युक्तम्—बिम्बस्यैव प्रतिबिम्बरूपेणान्यथाभावेन प्रतिबिम्बस्य बिम्बकार्य्यत्वस्य तद्विकार्य्यत्वस्यवाऽविरोधादिति। तदप्यभित्तिचित्रम्—आनन्दमय इत्यत्र विकारे मयट्प्रत्यय वदिनां भवतां विकारोपपादनस्याशामोदकमात्रत्वात्। विकारो नाम स्वरूपान्यथाभावरूप एव तत्रच मयट्प्रत्यये सति तादृशस्यमयटः प्रकृत्यर्थान्यथाभावरूपत्वेन नित्यभूते जीवात्मनि मृद्घटादिवत् कथं स्वरूपान्यथाभावरूपमयडर्थसंभवः।

तथा स्वीकारेच—'नजायतेम्रियते वा कदाचिदि'ति जीवनित्यत्व बोधक श्रुति विरोधः स्पष्ट एव।

बिम्ब प्रतिबिम्बभावेन विकारोपपादनमुपहास्यमेव, तत्र विकार—विकारिप्रत्ययाभावात्। स्वसिद्धान्तमात्र श्रद्धा वैपुल्यवादाच्च। देवदत्तस्यजले प्रतिबिम्बस्तत्र बिम्बप्रतिबिम्बव्यहारवत् न देवदत्तस्य विकारः प्रतिबिम्ब इतिव्यवहारः। स्वरूपान्यथाभावरूपत्वे सर्वप्रसिद्धस्य विकारशब्दस्य प्रतिबिम्बे तदुपपादनं प्रत्यक्षविरुद्धमपि।

नहिदेवदत्तस्य तत्र सान्निध्यमात्रेण किञ्चिदपि विकारित्वं दृष्टम् । विकार विकारिणोरभेद प्रत्ययेन घटनाशस्य मृद्रूपत्व-मिव प्रतिविम्बनाशस्यापि विम्बरूपत्वमेव वक्तव्य तत्तु प्रत्यक्ष-पराहतम्। नहि देवदत्त प्रतिविम्ब नाशस्य देवदत्तस्वरूपत्वं कश्चिदप्यंगीकृतं दृष्टं वा ।

आनन्दमयपदेन जीवग्रहणे तस्य विकारत्वोपपादने अप्पय दीक्षितेन्द्रा, अपि परिवभ्रमुः किमत्र भवतामिति ।

निरूपस्य ब्रह्मणः कथं प्रतिविम्बसम्भव इति त्वधिकं दूषणम् । तत्वमसीत्यत्र बाधसामानाधिरण्यन्तु शरीरात्मभाव-रूप सामानाधिकरण्य साधनात्पूर्वमेव निरस्तं नेह विस्तारप्रयो जनम् । घटाकाश दृष्टान्त निदर्शनमपि प्रतिविम्ब सहोदरम् । किमत्रोच्यते—महाकाशस्य विकारो घटाकाशः,—सोऽसङ्गतएव । घटस्यकेवलमुपाधित्वेन तद्गताकाशस्य विकारत्वाभावात् , नहि घटादिनाशेनाकाशस्यापिनाशः, महा-काशस्यान्यथाभावरूपो वा घटाकाशः। घटाकाश दृष्टान्तेन घटस्य केवलं परिच्छेदकत्व मात्रमेव बोध्यते। घटाकाश प्रतिविम्बादीनां विकारत्वेनोत्तरप्रदानंहि प्रायेणानुत्तरप्रदान-मेवेति सर्वदर्शन विरुद्धत्वादस्य दृष्टान्तस्य। तस्मात्परपक्ष-निराकृतिकारोक्तं सर्वमपि निष्कलङ्कम् ।

तथाच—आनन्दमये न विकारे मयट्, तत्प्रकृत वचने, इति सूत्रेण प्राचुर्य्ये मयडिति सिद्धान्तपक्षः। ननु आनन्द

प्रचुर इत्युक्तेऽल्प दुःख सद्भावात् तेन नित्य सुखस्वरूपस्य परमात्मनो ग्रहणं कथमिति मावोचः—आनन्दप्रचुरं नाम तत्प्रभूतत्वमेव, तच्चेतरस्य सतां नावगमयति, अपितु तस्याल्पत्वं निवर्तयति। इतरसद्भावासद्भावौतु प्रमाणान्तरावसेयौ। ब्रह्मणितु 'अपहत पाप्मेत्यादि प्रमाणेन दुःखादीनामभावात्। यदप्युक्तंभवद्भिःजीर्णगीतमत्रतदपि निरस्यते—

(रक्षामणिः ७ पृ०—)

आनन्दमय इति मयटः प्राचुर्य्यार्थकत्वेऽपि प्राचुर्य्यस्य स्वसमानाधिकरणविजातीयाल्पतानिरूपकत्वाद् दुःखाल्पत्वस्यच ब्रह्मण्यसंभात्, आनन्दमय ब्रह्मतावादो न युक्तः। यद्यपि प्रचुरप्रकाशश्चन्द्र इत्यादिस्थले चन्द्रे तमोलेशाप्रतीतेर्न प्राचुर्य्यस्य विजातीयाल्पतानिरूपकत्वं नियतम, किन्त्वौत्सर्गिक मेव तथाप्यानन्दमयपदे, उत्सर्गत्यागेऽपि न कारणं पश्यामः। यदि प्रमाणान्तरेणानन्दमयस्य ब्रह्मत्वं सिद्धं स्यात्तर्हि सत्यमुत्सर्गत्यागेनापि प्रकृते प्राचुर्य्यस्य न स्वसमानाधिकरण विजातीयाल्पतानिरूपकत्वमिति युज्येत, परन्तु न तत्र प्रमाणलेशोऽपि वर्तते प्रत्युताक्कामहतश्रोत्रिय साधर्म्येण व्यभिचारोऽपि तथाच प्राचुर्य्यस्य विजातीयाल्प तानिरूपकत्वे न बाधसंभव इति। इदमपि चर्वित चर्वण प्रायत्वादुपेक्ष्यमिति।

यत्तावदभिहितम्—प्राचुर्य्यस्य स्वसमानाधिकरणविजातीयाल्पतानिरूपकत्वाद् दुःखाल्पत्वस्यच ब्रह्मण्यसंभवात् आनन्दमयब्रह्मता वादो न युक्त इति। तन्न, ब्राह्मण प्रचुरोऽयं ग्राम इत्यादौ ग्रामान्तरे ब्राह्मणाल्पत्व शूद्राल्पत्वयोः प्रतीत्य प्रती-

तिभ्यां, स्व व्यधिकरण सजातीयाल्पता निरूपकत्वस्यैव दर्शनेन, तादृश नियमासिद्धेः ।

किञ्च, प्रचुरप्रकाश स्सविता, प्रचुरप्रकाशश्चन्द्र इत्यादि स्थले तमोलेशस्याप्रतीतेः प्राचुर्य्यस्य स्वसमानाधिकरण विजातीयाल्पतानिरूपकत्वकल्पनस्य खपुष्पावलुण्ठनप्रायत्वाच्च । अतस्तादृश नियमस्यैवाभावे, औत्सर्गिकत्व जल्पनमसंभवदुक्तिकमेव ।

यत्तु न्यायरक्षामणौ परिमलेच, अप्पयदीक्षितेनोक्तम् । प्राचुर्य्यस्यविशेषणत्वे स्वव्यधिकरणसजातीयाल्पत्व निरूपितत्वम् । विशेष्यत्वे तु समानाधिकरण विजातीयाल्पत्वमेव, तथैवलोकव्युत्पत्तेः । अतएव प्रचुरब्राह्मण इत्यत्र प्राचुर्य्यस्य ग्रामान्तरगत ब्राह्मणाल्पत्वापेक्षत्वेऽपि, ब्राह्मण प्रचुरोग्राम इत्यत्र तद्ग्रामगत शूद्राल्पत्वा पेक्षमेव प्राचुर्य्यं प्रतीयत इति । तदपि निरस्तम् । प्राचुर्य्यस्य विशेष्यत्वविशेषणत्वाभ्यां स्वार्थसाधनस्य, आशामोदकमात्रत्वात् । यतः प्रचुरप्रकाशस्सविता, इतिवत् 'प्रकाशप्रचुरस्सवितेत्यत्रापि व्यधिकरण नक्षत्रादिगत प्रकाशाल्पत्वापेक्षमेव प्राचुर्य्यं प्रतीयते, नतु सवितृगत तमोऽल्पत्वापेक्षम्, तमसोतत्रबाधितत्वात् । ज्ञानप्रचुरो ब्राह्मणः, प्रचुरज्ञानो ब्राह्मण इत्यादौ च न क्वचिदपि विशेष्यत्व विशेषणत्वाभ्यामर्थभेद प्रतीतिः, तस्माद्विशेष्यत्वविशेषणत्वकृतार्थद्वैरूप्य सम्पादनं प्रमाणविरूद्धत्वादनर्हमेव ।

वैदिक सिद्धान्तनिर्धारणतत्पराः महाचार्य्यपादास्तुप्राचुर्य्यं विवक्षानुसारात् सापेक्षं निरपेक्षंच, बहुत्ववत्, यथाऽत्र बहवो वर्तन्त इति निरपेक्षम्। तस्माद्देशादस्मिन् देशे बहव इति सापेक्षम्। एवमिहापि क्वचिद्—

व्यधिकरणसजातीयसापेक्षं, क्वचित्समानाधिकरण विजातीय सापेक्षं क्वचिन्निरपेक्षम्। एवञ्च सर्वत्र नैरपेक्ष्य स्यापि सम्भवान्नानन्दमयस्य जीवत्वसिद्धिः। यदितु प्रकरणं बहुमन्यामहे तदा 'सैषाऽनन्दस्य मीमांसे'त्यारभ्य व्यधिकरणं जीवानन्दाल्पत्व मपेक्ष्यैव ब्रह्मानन्दस्य प्राचुर्य्यं प्रतिपादनात् न जीवत्व सिद्धिः। यदि त्वानन्दमय इति मयडनुसारात् पूर्वेषामपि मयटां व्यधिकरण सजातीयांशस्य बाधितत्वात्, सापेक्षत्वमात्रं सिद्ध्यति, तच्च सापेक्षत्वं यथा प्रमाणं समानाधिकरण सजातीयेनैवोपपादनीयमिति निष्कर्षयन्ति। विस्तरस्तु महाचार्य्य विरचिते—'पाराशर्य्यविजये, द्रष्टव्यः।

यदपि, परिमलादिषु—प्रकाश प्रचुरस्सवितेत्यत्र प्राचुर्य्यांस्य विशेष्यत्वेपि तमस्सम्बन्धाप्रतीति दर्शनेन, विशेष्यत्व विशेषणत्व कृत स्वीयकल्पित नियमभङ्गं दृष्ट्वा व्याकुलीभूतस्य अप्पयदीक्षितस्य—तत्रापि तुहिन सैंहिकेयाच्छादनारोपित तमोल्पत्वमपेक्ष्यैव घनाद्यपसरण समये तथा प्रयोगात्, तदभावे तथा व्युत्पन्न प्रयोगाभावादिति समाधानम्। तदपि मोहमात्रम्। घनाद्यपसरण समये–'इदानिं प्रचुरप्रकाशस्सविता 'इत्येव बहुशः

प्रयोगदर्शनात् । चन्द्रादयं प्रकाशप्रचुरस्सवितेत्यादि प्रयोगाच्च । तस्मान्न प्राचुर्य्यस्य विजातीय निरूपकत्वम् । एतेनौत्सर्गिकत्वाद् दुःखाल्पत्व वचनमपि निरस्तम् । तादृशौत्सर्गिकत्वस्यापि निराशात् ।

आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वे प्रमाणाभाव वचनन्तु—

आनन्दमयमात्मान मुपसंक्रामती'ति श्रुत्यज्ञान निबन्धनमिति । इयं श्रुतिः स्पष्टमेवानन्दमयस्य ब्रह्मत्वमभिदधाति ।

अकामहत श्रोत्रिये व्यभिचारापादनन्तु महता प्रबन्धेनाग्रे निरसिष्यते । तस्मान्न प्राचुर्य्यस्य समानाधिकरण विजातीयाल्पतानिरूकत्वमिति । स्थानप्रमाणकृतानन्दमयस्य ब्रह्मत्वे भवदुक्तं दूषणमप्यविचारितम् । तथाहि—

(रक्षामणिः—३६ पृ०—)

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् इत्यानन्दशब्दस्थाने आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्येत्यानन्दमयशब्दनिर्देशेन तयोः पर्यायत्वावगमादानन्दमयस्य परमात्मत्वमितिशङ्कापिपरास्ता । प्रथमादिपर्यायान्नान्नमयादीनामपि स्थानसाम्येनान्नादि पर्यायत्वापत्त्या—अन्नात्पुरुष इति श्रुतविकारि विकारभावोऽनुपपन्नःस्यादि त्युक्तिरपि परास्ता—इष्टस्यैवापादनात् ।

अन्नंब्रह्मेति व्यजानात्, 'अन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति, इतिस्थानप्रमाणतौल्यकृत, अन्नान्नमययोरैक्यापादनम्, विकार विकारिभावस्थले मृद्घटयोरिव, ऐक्य इष्टापत्ति दुष्टम् । अदुष्टापादनस्यैव स्वाभिमत साधकत्व पराभिमतप्रतिक्षेपकत्वत दुष्टस्या-

किञ्चित्करत्वम्। तस्मात् स्थानप्रमाणकृत मानन्दमयस्य ब्रह्मत्वं सम्प्रतिपन्नमेवेति।

'आनन्दमयः' इत्यत्र विकारे मयट् प्रत्यय कथनमपि शंकराचार्यस्य वैयाकरणसिद्धान्ताज्ञानं द्रढयति, 'नित्यं वृद्धशरादिभ्यः इतिसूत्रे—'मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोरि, तिसूत्रेण भाषापदानुवृत्तेः, छन्दसि तत्प्रवृत्त्ययोगात्, शास्त्रान्तरस्य चानुपलम्भात्—तस्माद् मयट् प्रत्ययस्य विकारे विधायकाभावात्, विकारार्थ मयड्वादोऽयुक्त एव।

(रक्षामणिः—४३—४४—पृ०—)

अस्ति च आनन्दशब्दादपि विकारार्थे मयड्विधायकंपाणिनीयं सूत्रम्—'नित्यं वृद्धशरादिभ्यः' इति, आनन्दशब्दस्य वृद्धत्वात्। अत्र सूत्रे भाषायामित्यनुवृत्त्याभाषायामेव वृद्धशरादिभ्योमयडिति तु न प्राप्नोति, भाषायां वृद्धशरादिभ्यो नित्यमेव, छन्दसि तु विकल्प इत्यभिप्रायस्यैव युक्तत्वात्, अन्यथा—'शरमयं बर्हिःस्तृणाती' त्यादौ वेदे शरमयादि प्रयोगानुपपत्तेः। अतएवहि श्रीभाष्यकाराणां 'विकारशब्दादिति चेत्' इत्यस्यानन्दमयशब्देमयटोविकारार्थत्वमभिप्रेत्य शङ्काग्रन्थ प्रवृत्ति विवरणमुपपद्यते। अन्यथा तन्मतरीत्या विकारार्थत्व शङ्कैवनोदेतीति।

'एकाचो नित्यम्' इति व्याकरणान्तर संग्रहणंतु—शरादिगणपठितमृत्पदेनाप्युपलक्षणविधया भविष्यति। एतेन नित्यपदाभावे पूर्वसूत्रेणैव सिद्धेः किमर्थमिदमिति प्रश्ने भक्ष्याच्छादनरूपार्थेऽपि प्राप्त्यर्थमिति तात्पर्य्यं वर्णन संभवेन तद्वारणेन वृद्धशरादि विषयेपि विकल्पनिवृत्तितात्पर्य्यबोधनार्थंनित्यपदमिति परपक्षनिराकृति कारस्य शङ्कापि परास्ता।

वृद्धशरादिभ्यो भक्ष्याच्छादनयोरि' त्येवाभक्ष्याच्छादन व्यावृत्त्यर्थत्वे-ऽस्य सूत्रस्य सूत्रणमापद्येत। भाषाग्रहण प्रयोजनस्य प्रायिकाभिप्रा-यत्वादिति। एतदपि वैयाकरणसिद्धान्तविरुद्धत्वादनेकदोषयुक्तत्वा-च्चायुक्तमेवेति।

"अत्र श्रीभाष्यानुयायिनः"

अत्रोच्यते—भाषापदानुवृत्त्या भाषायामेव वृद्धशरादिभ्यो मयडितितुन युक्तं वेदे—शरमयं वर्हिः स्तृणाति' इति प्रयोगानु-पपत्ते रिति यदुक्तं भवता, तत्त्वनुक्तोपालम्भनत्वान्निरस्तम्। भाषायामेवेति व्याख्यानस्य क्वाप्यनुपलम्भात्। किञ्च तादृशनियमेऽपि—छन्दसि दृष्टानुसारात्। द्वयचश्छन्दसि इत्यनेन तादृश प्रयोगोपपत्तौ तत्र दूषणत्वेनोपन्यासस्या-युक्तत्वाच्च।

अस्मदीयभाष्यकाराणां व्यासार्य्याणांच-विकारार्थ मयट् प्रत्ययाभिप्रायेण पूर्वपक्षोत्तर प्रदानादिकन्तु--'तुष्यतु दुर्जन इति न्यायेनैवेति ब्रूमः। स्पष्टीकरिष्यते चाग्रे।

शरादिगणपठित मृच्छब्दस्य सर्वैकाजुपलक्षणत्व स्वीका रेणैकाचो नित्यमित्यस्य संग्रह प्रकारोपि शाब्दिक सिद्धान्त विरुद्धत्वादयुक्त एव। आरम्भसामर्थ्यादेव 'नित्यंवृद्धशरा दिभ्यः' इत्यस्य नित्यत्वे सिद्धेः योग विभागेन नित्यग्रहणम्— 'एकाचो नित्यमि'त्यस्य संग्रहार्थमिति शाब्दिकैरुपवर्णि-तत्वात्। मृच्छब्दपाठस्य च स्पष्टार्थत्वमित्यपि तत्रैवोक्तत्वात्

सम्भवति सौत्र नियम विधिनाताद्दशार्थस्य प्रामाणिकत्वे—उपलक्षणत्वेन कल्पनं क्लिष्टमेव ।

किञ्च—आनन्दमय इत्यत्र प्राचुर्य्यार्थ मयट् प्रत्ययेन निर्वाहे किमर्थ भवदीय भाष्यकाराणां विकारार्थ मयट् प्रत्ययोपपादनाय महासिन्धौ निमज्जनम् ।

'मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोरि' ति सूत्रस्थ भाषाग्रहण फल विरूद्धमपि विकारार्थ मयड् वचनम् । तथाहि—भाषायां किम्—'खादिरो यूपः' इति वृत्तिकारः । ननु मयटो वैकल्पिकत्वात्सिद्धमिदमिति चेत् 'अत्राहुः—वेदे बह्वचः परस्य मयटोऽर्थान्तर परत्वमेवेतितात्पर्य्यग्रहणार्थमेवेदमिति । अत्रस्पष्टमेव भाषाग्रहणफलं वेदे बह्वचः परस्यमयटः प्राचुर्य्यार्थकत्वमिति वर्णयन्ति शाब्दिकाः । तथाच बह्वचानन्द-शब्दाद्विकारे मयट् प्रत्यये भाषाग्रहण वैयर्थ्यमनिवार्य्यमेव भवदीयभाष्यकाराणाम् ।

भाषाग्रहण ज्ञापकस्य प्रायिकत्व जल्पनमपि स्वार्थान्ध निबन्धनम् । प्रायिकत्वे किं बीजमिति जिज्ञासायाम् ।

कुत्र वेदे बह्वचः प्रातिपदिकात्परस्य मयटो विकारार्थत्वं दृष्टं येनैवं नियमं ब्रूषेः, इति पर्य्यनुयोगेच-मौनमेव समाधानं भवतः, भवदीयभाष्यकाराणाञ्च ।

'द्व्यचश्छन्दसि' इतिवदन् सूत्रकार एव प्रायिकत्वरूपमप्याशामोदकमपहरति ।

आनन्दमयपदे भवदीयाचार्य्य व्याख्यानं दृष्ट्वा बहुशास्त्र-निष्णातः प्रायेणाद्वैत सम्प्रदायावलम्बी दण्डिरपि शब्दशास्त्र व्याख्याने शोकं प्रकटयति। तथाहि-'नित्यं वृद्धशरादिभ्य इति सूत्र व्याख्याने-नन्वेवमानन्द मयाधिकरणे, शंकराचार्यैः, 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' इति श्रुतौ-आनन्दमय इति विकारे मयट्, इत्युक्तं तत्कथं संगच्छताम्। प्राचुर्य्येमयडितितु वक्तुमुचितमितिचेत्, अत्राहुः—प्राचुर्य्ये मयट्यपि प्रकृत्यर्थ-विरोधिनो दुःखस्य लेशतोऽनुवृत्ति लाभात्, प्रकृते विकारार्थः पर्य्यवस्यतीति तेषामाशयः, इति। अत्र तेषामाशय कथनेन, आनन्दमय इत्यत्र प्राचुर्य्ये मयट् प्रत्ययो नतु विकारे इति यथाभिमन्यते दण्डिः, एवं प्राचुर्य्यस्य दुःखाल्पत्वमपि शंकराचार्योक्तं दण्डिः स्वस्यानभिमतत्वं व्यञ्जयति।

अतस्सिद्धं शाब्दिकसिद्धान्त विरूद्धं विकारार्थ मयट् वर्णनमिति।

यदप्यस्मिन्प्रसङ्गे-परपक्षनिराकृतिकारेणोक्तम्। 'नित्य-पदाभावे' भाषायां वृद्धशरादिभ्यो मयडित्यर्थे पूर्व सूत्रेणैव सिद्धेः किमर्थमिदमिति प्रश्ने, भक्ष्याच्छादन रूपार्थेऽपि प्राप्त्यर्थमित्यपितात्पर्यवर्णन सम्भवेन तद्वारणेन वृद्धशरादि विषयेऽपि विकल्प निवृत्ति बोधनार्थं नित्यपदमिति। इदं व्याख्यानम्—'इहभाषायामभक्ष्याच्छादनयोरित्यनुवर्तत' इतिवृत्तिकार वचनविरोधादुपेक्षणीयं यद्यपि—तथापि, नह्य

स्मिन्नर्थे परपक्षनिराकृतिकारस्य, निर्भरता येन दोषावतारस्स्यात्, किन्तु—शाब्दिकसिद्धान्तविरुद्धगामिनं भवन्तंप्रतितादृशस्यापि नियमस्य संभवइत्येवतदाशयः। अत्र तादृशतात्पर्य्य वर्णनसंभवेने ति तदीयं वाक्यमेव प्रमाणमिति।

अस्य पक्षस्योत्तरे प्रवृत्तस्य भवतः—'वृद्धशरादिभ्यो भक्ष्याच्छादनयोरित्येवाभक्ष्याच्छादनव्यावृत्त्यर्थत्वेऽस्य सूत्रस्य सूत्रणमापद्येत। इदमुत्तरमत्यन्तोपहास्यम्। सूत्रेऽल्पाक्षरत्वस्य सर्वसम्मतत्वात्। सूत्रघटक पदेनैव तादृशार्थसिद्धौ किमर्थं पुराणादिवत्सूत्राणां विस्तारकरणम्।

सर्वथातु—एकमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः, इति सिद्धान्त ज्ञानविधुरमेव भवदुत्तरम्।

व्याकरण तंत्रे यत्र ज्ञापकेनैव निर्वाह स्तत्र न सूत्रणं कृतं निरर्थकत्वात्तस्येति सर्वत्रैव चक्षुष्मतामपरोक्षमिति, किञ्च-तादृशार्थस्यज्ञापकसिद्धत्वे सूत्रितप्रायत्वादपि प्रश्नानवकाशः। तथाच सूत्रण प्रयुक्ताक्षेपस्य बहुदोषयुक्तत्वादुपेक्ष्यमेव विद्वद्भिः।

यदपि स्वानिर्मोक्ष्यं समन्तत उपलक्ष्य पुनरपि श्रीभाष्यकारकृत शङ्कोत्तर प्रदानमेव स्वजीवनमभिमन्यते, तदप्ययोग्यस्यभवतोऽकिञ्चित्करमिति विचार्य्यते।

(रक्षामणिः—४५—पृ०—)

एतेन 'विकारशब्दादिति सूत्रेण भगवतैव विकारार्थमयटोनिराशादिति शङ्कापि परास्ता—भवदभिमतार्थे मयटोविकारार्थत्वस्यैवा-

संभवेसति 'विकारशब्दादिति' शङ्कोत्तरयोराकाशमुष्टिहनन तुल्यत्वे नानन्दमयपदे विकारार्थ निरसनस्य सूत्रकाराणामसंगतमेव भवेत्। तथाच आनन्दमयोऽभ्यासात्, इति सूत्रस्यैव वैयर्थ्यं मतान्तरेस्यात्, आनन्दमयपदे विकारार्थत्वस्यैवासंभवेन जीवपरत्व सन्देहस्यैवानवसरादित्युक्तिरपि निरस्ता—मतान्तरनिरशनाभिप्रायत्वात्तस्यग्रन्थस्य।

तदेतत्सर्वमप्यकाण्डताण्डवं भवतः-'आनन्दमयोऽभ्यासादि'ति प्रथमसूत्रेणानन्दाभ्यासस्य हेतुत्वं कथयता भगवता वेदाचार्य्येण 'वेदे बहुचः प्रातिपदिकात्परस्य मयटः प्राचुर्य्यार्थकत्वमिति' शाब्दिकसिद्धान्त एवाङ्गीकृतः।

अनन्तरम्,—'विकारशब्दादिति चेन्न प्राचुर्य्यात्' इति द्वितीयसूत्रेण—'नित्यं वृद्ध शरादिभ्यः इतिसूत्रे नित्यग्रहणं योग विभागेन छन्दसि वृद्धशरादिभ्यो वैकल्पिकत्वार्थम्—एकाचो नित्यमिति तु शरादिगण पठित मृच्छब्दस्य सर्वैकाजुपलक्षणत्वादेवसिद्धमिति, एकदेशिमतमप्यङ्गीकृत्य, तुष्यतु दुर्जन न्यायेन विकारार्थत्व माशंक्य निरस्तमिति।

नत्वस्मिन्नर्थे निर्भरतातस्य। सम्भावितानां पक्षाणामपि क्रोडीकारेणपूर्वपक्षोत्तरप्रदानस्य महाचार्य्य सम्प्रदाय सिद्धत्वेन तत्पूर्वपक्षत्व मात्रेण तदर्थेऽभ्यनुज्ञावादो जतुपान्धवाद एव। वेदाचार्य्यस्तु—एकदेशिमतमपि स्वीकरोति नच तस्य पक्षस्यात्यन्तासम्भवं ब्रूमः। किन्तु शाब्दिक सिद्धान्तविरुद्धः युक्तिविशेष दुर्बलश्चेति। अस्माभिस्तु भवदीय सिद्धान्त विशेषाणां निराश मात्रएव कृतः। अस्मदीय भाष्यकाराणां न स्वसिद्धान्तेन

पूर्वपक्षः किन्तु संभावितपक्षाश्रयणेनैवेति। तस्य च निराशेन सिद्धान्तस्थापनम्। वेदाचार्य्यस्यापि तथैव सम्भावितत्वमात्रेणैव पूर्वपक्षोत्तरप्रदानमिति। नहि स्वसिद्धान्त सिद्धेनार्थेनैव पूर्वपक्ष इत्यस्ति नियमः। अन्यथा भवद्रीत्या-अद्वैतस्थापन पराणां शंकरादीनां सर्वथापूर्वपक्षस्यैवात्यन्ताभावे पूर्वपक्षोत्तर प्रदानस्य गगनारविन्द सौन्दर्य्य प्रख्यापन सदृशमेव भवेत्।

विकारे मयट्प्रत्ययस्य निराशकर्तॄणां वेदाचार्य्याणां श्री भाष्यकाराणाञ्च—कथंचिद्भगीरथप्रयासेन मयट् प्रत्ययो पपादन शक्यत्वेपि न विकारे मयट्, इत्येवाशयः। तत्र विकारे मयट् प्रत्ययाभावोपपादनपराः याः युक्तयस्ताः सर्वाअपि, अभिप्रेतैवेति। तथाचाकाशमुष्टि हननतुल्यत्वं कथमस्माक-मिति सलज्जाः भवन्तोऽपि विभावयन्तु।

यदिचेद् व्यङ्गवचनं भवतोऽद्वैत सिद्धान्तमुपलक्ष्य, इति, तदा वेदाचार्य्यसूत्र विरुद्धत्वात्, शाब्दिकसिद्धान्त विरुद्धत्वात् दण्डि, अनुशोच्यत्वाच्च-आनन्दमय इत्यत्र शंकराचार्य्यस्य विकारार्थ वचन मेवाकाशमुष्टिहनन तुल्यमिति त्वनुमोदामः।

यदप्यानन्दमयस्याब्रह्मत्वेऽनुमानादिकमुक्तं तदप्यनुद्य दूष्यते—

(रक्षामणिः—४६- ४७—पृ०—)

आनन्दमयो जीवः, जीवाहंकारास्पदोत्तरोत्तरसूक्ष्मार्थरूपत्वा-दित्यनुमानं चानन्दमयस्य जीवत्वेमानम्। आनन्दमयो ब्रह्म, शरीरादि-पञ्चमस्थानत्वात्, भृगुवल्याम्नातानन्दवदिति प्रत्यनुमानंतु, विकारा-

र्थमयडन्तपदाप्रतिपाद्यत्वरूपोपाधिग्रस्तत्वान्नेहक्षमम्। आनन्दमय इति हि विकारार्थकमयडन्तएव निरतिशयत्वापरपर्य्यायप्राचुर्य्यार्थकत्वस्य तत्रासंभवात्। तदुक्तं परिमले—'तत्प्रकृतवचने मयडित्यस्य द्वेधाव्याख्यानम, प्रथमान्तात्प्राचुर्य्येण प्रस्तुतमिदमित्येकम्। प्रथमान्तात् प्रकृतमुच्यतेऽस्मिन् इत्यर्थेमयडिति द्वितीयम्, 'अन्नमयम्' अन्नमयो यज्ञः' इति क्रमेणोदाहरणम्। प्रथमेऽन्यपदार्थस्य, द्वितीये प्राचुर्य्यस्यच लाभोपायाभावः, द्विविधमिदं व्याख्यानम्, श्रीभाष्यकाराभिमतमिति—अतएव 'प्राणवृत्तिमत्तामात्रेण प्राणमयत्वम्, प्राणापानादिषु पञ्चसु प्राणवृत्तेः प्राचुर्य्याद्वेति वदन्ति। इदं परिमल व्याख्याननिरसनम्। स्वमूलाचार्य्यादृतपक्षनिरसनमेव। तुष्यतु दुर्जनन्यायेन श्रीभाष्यमतं गृहीत्वैव परिमल काराणां योजनाद्वयमिति। अतएव वा, पदस्वारस्यमिति।

अत्रोच्यते—यत्तावदुक्तम्, आनन्दमयो जीवः' जीवाहंकारास्पदोत्तरोत्तर सूक्ष्मार्थरूपत्वादिति, तत्तु हेतुरस्तु साध्यं मास्तु, इत्यप्रयोजकत्व शङ्का कलंकितत्वाद्ध्वस्तम्। 'आनन्दमयमात्मान मुप संक्रामती'ति स्थानप्रमाण कृतानन्द मयस्य ब्रह्मत्व प्रतिपादक श्रुतिविरोधादपि निरस्तमितितु द्वितीयं दूषणम्। अहंकार पदेन मनोमयस्य यदिग्रहणं तर्हि जीवाद्युत्तरोत्तरेत्यादिनैवार्थसिद्धौ, अहंकार निवेशनमधिकमिति तु वैफल्य रूपं तृतीयं दूषणम्। यदि चाहंकारपदेनाहमर्थस्य ग्रहणं तर्हि' 'हन्ताहमिमा तिस्रो देवता' अहं कृत्स्नस्य जगतः' इत्यादिभिः पूर्वत्राहमर्थ एवात्मा, इत्यस्य साधितत्वेन हेतो रेवासिद्धिर्दोषः। अद्वैतसिद्धान्ते जीवाद्युत्तर जीवसत्ताया, अभावेन जीवाद्युत्तर-जीव

साधनं स्वसिद्धान्त विरूद्धत्वादसङ्गतमितितु, चतुर्थं दूषणम्।
चेतनात्मानुभूति पदेन ब्रह्मणो ग्रहणस्य भवन्मत सिद्धत्वेऽपि
जीव पदेन तस्य व्यवहाराभावेन तेन स्वदौर्भाग्य मार्जन
मप्यशक्यमेव । कथंचित् शक्यत्वे, इष्टापत्ति कृतं दूषणम् ।

आनन्दमयो ब्रह्म, शरीरादि पञ्चमस्थानत्वात्, भृगुवल्या
म्नातानन्दवदिति, प्रत्यनुमान पराहतं तादृशानुमानमितितु
पञ्चमं दूषणम् ।

यदप्यत्रोपाध्युद्भावनं कृतम्–तदपि मनोरथमात्रं विकारार्थ
मयट् प्रत्ययासंभवस्य प्राचुर्य्यमयट् प्रत्ययसिद्धान्त
स्यचासकृदावेदितत्वात् ।

'तत्प्रकृत वचने मयट्' इति सूत्रस्यद्वेधा व्याख्यान परं
भवदीय परिमलकार वाक्यन्तु–'अन्नमयम्' अन्नमयो यज्ञः
इत्युभयत्रापि लोके प्राचुर्य्य सम्बन्धप्रतीति वलान्निरस्तम्।
शेखरकार प्रभृतिभिरुभयत्रापि, उभयसम्बन्धमभ्युपगम्यत इति
प्रसिद्धमेव वैयाकरणानाम् । क्वचिदेकदेश प्रतीतिस्तु
लक्षणयैव ।

परपक्षनिराकृति कारेण वैयाकरण सिद्धान्तमनुसृत्य
तदीय ग्रन्थादि निदर्शन द्वारा परिमल वाक्यं बहुधा
निरस्तम् । न किञ्चिदपि समाधानं कृतं भवद्भिः पलायनं
कृत्वा श्रीभाष्यकारशरणमेव स्वाचार्य्यस्य जीवनं मन्यते।
अतएवोच्यते--तुष्यतु दुर्जन न्यायेन श्रीभाष्यमतं गृहित्वैव

परिमलकाराणां योजना द्वयमिति। परन्त्वग्नि दग्ध रज्जुरिव कौटिल्यं न हीयते। शरणागति कर्तुः कौटिल्यत्यागोऽप्यपेक्षितः। तदैव प्रपत्तिः सिद्धा भवति। अतएव श्रीभाष्य शरणेनापि न भवदीय व्यथा शान्तिः। तथाहि—किञ्च, औचित्यं प्राणमय एव परित्यक्तं तत्र विकारार्थत्वासंभवात्। अतस्तत्र पञ्चवृत्तेर्वायोः प्राण वृत्तिमत्तामात्रेण प्राणमयत्वम्। प्राणापानादिषु पञ्चसु प्राणवृत्तेः प्राचुर्य्याद्वेति। इत्यानन्दमयाधिकरण श्रीभाष्यमादाय—तत्रेत्थं श्रुतप्रकाशिका'—प्रकरणरूपमौचित्यमेव नास्तीत्याह, किञ्च, अर्थान्मयट् प्रत्ययस्य विकार वाचित्वं प्रकरणविवक्षितमिति शंकां शमयन् प्राणमय शब्दस्यार्थमाह—'अतइति, प्राणशब्दोऽननरूप वृत्तिमात्र परः, मयट्प्रत्ययः प्राचुर्य्येण सह सम्बन्धमभिदधाति।

तत्र सम्बन्धमात्र परत्वेन प्रथमयोजनायां प्राणन वृत्तिमानित्यर्थः। कृत्स्न मुख्यार्थत्यागादपि मुख्यार्थैक देशाङ्गीकारो न्याय इतिभावः। यद्वा प्राणाख्यवृत्तिविशेष सम्बधित्वमात्रेण प्रत्ययस्यानर्थक्यादमुख्यार्थत्वं वरमितिभावः। उचिततमयोजनान्तरमाह—'प्राणापानादिष्विति।

अनेन ग्रन्थेन कोहि निर्गलितार्थ इति सुखबोधाय, उच्यते-मयट् प्रत्ययस्य प्राचुर्य्य विशिष्ट·सम्बन्धो मुख्यार्थः। तत्र प्राचुर्य्यांशस्य परित्यागेन सम्बन्धमात्र वोधनमपि क्वचिद् भवति। तत्रैक देश परित्यागेऽपि प्रत्ययस्य लाक्षणिकत्वं

नास्ति। लाक्षणिकत्वाङ्गीकरेऽपि निरर्थकत्वापेक्षया लाक्षणिकत्वमपिवरम्। एकदेश परित्यागोऽपि नास्ति। इति त्रयो-मार्गाः किंचेति भाष्येणाभिप्रेताः। तत्र प्राणवृत्तेः प्राचुर्या द्वेतिभाष्येण तृतीय मार्गस्यैवाभिमतत्वं द्योतयति। तथाच विरूद्धवादिनः परिमलकाराः कथं श्रीभाष्यानुयायिन इति। श्रीभाष्यकाराहि प्राचुर्य्यविशिष्ट सम्बन्धोऽर्थः मुख्यार्थः, इति मन्यंते। परिमलकाराश्च तद्विपरीत गामिनः। तथाच परिमल व्याख्यानं श्रीभाष्यकारानुकूलं तन्निरसनं श्रीभाष्य निरसनमिति वदन्तः, निर्लज्जा एव भवन्तः।

वस्तुतस्तु—परिमलकारः, अप्ययदीक्षितः शब्दशास्त्रादि-पारावारीणः, साध्वसाधु विवेकशीलश्च' परन्तु असद्वादाद्वैत-वादस्य समर्थनाय, असद्वादेन तादृशाद्वैतवादं समर्थयन्, नैज़ापराधमपि परापराधेन सहते,इतितु युक्तमुत्पश्यामः।

सोऽश्नुते सर्वान् कामान्' इति श्रुतिमादाय निरस्तगीत मेव गीतमित्युपेक्ष्यते। केवलं परपक्षनिराकृति ग्रन्थानुवादेन स्वग्रन्थवैपुल्यमेवासादितम्। न कश्चिदपि नूतनो विचारः प्रदर्शितः।

सूतसंहितायाः,तद्गतविशेषश्लोकानां वा प्रमाणेन प्रक्षिप्तत्वोपपादने विलक्षणमेव भवन्नृत्यम्।

(रक्षामणिः—६९—पृ०—)

सूतसंहिताश्लोकाः प्रक्षिप्ताः, स्वाभिमता एव श्लोकाः प्रमाण

मितितु मनोरथमात्रम्। भवदीय श्लोका एव प्रक्षिप्ताः, सूत संहिता वचनान्येव प्रमाणानीत्यपि समापद्येत।

यथाच नारायणोत्कर्षनिरूपणपरत्वं पुरुषसूक्तादेर्वैष्णव मन्यन्ते 'स ब्रह्म स शिवस्सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्" इति मंत्रे 'स हरिः' इति भागस्य प्रक्षिप्तत्व वर्णनेन। एवं शैवा अपि शिवोत्कर्ष परत्वमेव पुरुषसूक्तस्य—'स ब्रह्म स हरिः सेन्द्रः' इति मंत्र पाठं सशिव इत्यस्य प्रक्षिप्तत्व वर्णनेन व्यवस्थापयन्ति। वयंत्वद्वैतिनः, सहरिः' सशिव इत्युभयमपि पाठं स्वीकृत्य सर्वशब्दवाच्यत्वं तुरीयस्येति व्यवस्थापयामः, इति। एतदपि विना प्रमाणेन केवलमसूयामूलकम्, वैष्णव सिद्धान्ते कस्याप्यंशस्य प्रामाणिकस्य प्रक्षिप्तत्व कथा प्रसंगाभावेन, तदुपपादनमपि तदीय सिद्धान्ताज्ञान निबन्धनमेव।

तदिदमपि निर्मूलवाग्जालमात्रमेव केवलम्। सूतसंहितायाः प्रमाण्यमस्तु वा, मा, नास्माकं तत्राग्रहः

परन्तु—'अस्मिन् ब्रह्मपुरे वेश्म दहरं यदिदं सुराः।
पुण्डरीकं तु तन्मध्य आकाशो दहरोऽस्ति तु॥
सशिवस्सच्चिदानन्दस्सोऽन्वेष्टव्यो मुमुक्षुभिः।
स विजिज्ञासितव्यश्च विना संकोचमास्तिकः॥

इत्यादि शिवपारम्यश्लोकानां वेदान्ततत्त्वनिर्णयपराणां प्रामाणिकत्वे, सर्वज्ञैः, शंकराचार्य्यैः किमिति दहराधिकरणे नोपात्ता इति विचारणीयम्। अतोऽवसीयते, इदृशाः श्लोकाः केनचिद्दुर्भगेन प्रक्षिप्ता इति।

प्रक्षिप्तत्वे कारणमुद्भावयतां परपक्षनिराकृति काराणां किं समाधानं कृतं भवद्भिः। यदित्वया प्रमाणेनोच्यते तर्हि

मयापि विनैव प्रमाणेनोच्यते' इदमुत्तरं हि भवदीय स्वभाव-सिद्धम्। नास्माकं चेतसि चमत्कारः।

"अतश्च संक्षेप मिमं शृणुध्वं नारायणः सर्वमिदं पुराणः।
स सर्गकाले च करोति सर्गं संहार काले च तदत्ति भूयः॥

स्मृत्यधिकरणं, इदं वाक्यमुदाहरद्भिः शंकराचार्यैं नारायण पारम्यमेव भाषितम्। न क्वापि शिवोत्कर्ष निरुपित-मिति। यदि च सूतसंहितागताः श्लोका कथंचिन्नारायणपर-त्वमनुभजंयु स्तर्हि प्रामाणिकत्वे सत्यपि प्रक्षिप्तत्व निराशेन ऋषिप्रणीतत्वाशा दुराशैवेति। अतो भवदीयभाष्य विरोधात् तादृश श्लोकानां प्रक्षिप्तत्वे को दोषोऽस्माकमिति।

प्रमाणादिलेश विधुरेण केवलेन स्वकपोल कल्पितेन वाक्येन 'शंकाराचार्य्यस्य तुरीयशिवे तात्पर्य्यमस्ती' ति कथ-नेन, कथं प्रामाणिकानां संतोष इति विभावनीयम्। तुरीय-शिववादश्च बहुधा खण्डितः, अस्मदाचार्य्यैः, अद्वैतिभिरपि।

"स ब्रह्म स शिव स्सेन्द्रः सोक्षरः परमः स्वराडि'तिमंत्रे हरिपदस्य शिवपदस्य च प्रक्षिप्तत्व कथापि भवतां विशिष्टाद्वैत सिद्धान्ताज्ञानं पोषयति।

न वयं कस्याप्यंशस्य प्रक्षिप्तत्वं वदामः। किन्तु हरिपद रहित 'स ब्रह्म स शिवः' इति पाठस्यैवानाद्यविच्छिन्नसम्प्र-दायतयोपलभ्यमानत्वेन तथा स्वीकुर्मः।

आग्रहवशात्, हरिपदनिवेशेऽपि न काचित्क्षतिरिति।

शैवाः यथा तथा वदन्तु, न प्रामाणिकानां कापि हानिः। ते तु वेदाचार्य्येणैव ध्वस्ताः।

भवदीय शंकराचार्य्यैरपि खण्डिताः बहिष्कृताश्च। अतो निरस्तेषु नाऽस्माकं व्याकोपः। पुरुषसूक्तस्य शिवोत्कर्षत्व जल्पनं शास्त्रज्ञानशून्यम्। पुरुषस्य हरेः सूक्तं, वैष्णव्यां पुरुषसूक्तमित्यादि सहस्रप्रमाणैः पुरुषसूक्तस्य विष्णोः परत्वावगमात् एतेन—कार्याधारत्वे सति कार्य्यजनिहेतुत्व मित्युपादानत्व लक्षणमप्यद्वैतिजन कल्पितं निरस्तम्।

'जन्यानां जनकः कालः' इति कार्य्यसामान्यं प्रति ब्रह्मण इव कालस्यापि कारणत्वादाधारत्वाच्च तत्र तादृश लक्षणाऽति व्याप्तेः। तथा देशस्यापि कार्यं प्रति कारणतया, घटादिकं प्रति दण्डादेश्चोपादानत्वापत्तेरिति। विलक्षणाधारत्व विवक्षणे च विशेष्यदल वैयर्थ्यमिति। अतिरिक्तावयव्यनभ्युपगन्तृणांमते मृदादेर्घटादि कार्य्याधारत्वाभावादव्याप्तमपि।

(रक्षामणिः—४६- ४७ -पृ० —)

एतेन—घटे रूपमित्यादि प्रतीत्या तादात्म्य सम्बन्धस्यापि समवायादेरिव वृत्तिनियामकत्वात्, तादात्म्यसम्बन्धेन कार्याधारत्व-पदेन विवक्षितम्-देश कालयोस्तु न तादात्म्य सम्बन्धेन कारणत्व-मिति। इत्युक्तिरपि परास्ता तादात्म्य सम्बन्धस्य वृत्तिनियामकत्वा भावात्।

घटे रूपमिति प्रतीत्या तादात्म्यसम्बन्धस्य वृत्तिनियामकत्व वर्णनमसत्। तादृश स्थले समवाय सम्बन्धस्यैव स्वीकारात्। सर्वैरपि दार्शनिकैः समवायसम्बन्धेनैव घटे रूपमिति प्रतीति रभ्युपगता। तादात्म्य सम्बन्धस्य वृत्तिनियामकत्व कथनं नूतन सृष्टिकल्पनमद्वैतिनाम्।

स्वरूपेण ब्रह्मण उपादानत्ववादोऽप्यसत्। निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनम्। अविकाराय शुद्धाय नित्याय परमात्मने' सदैक रूपरूपाये' त्यादि श्रुतिस्मृतिभि र्निर्विकारत्वेन प्रतिपन्नस्य ब्रह्मण स्स्वरूपेणोपादानत्वासम्भवात्।

किञ्च भवदभिमतं तादात्म्यमपि दुर्वचम्। तादात्म्यं यदि विशेषणविशेष्याभ्यामतिरिक्तं पदार्थान्तरं तर्हि तादृश तादात्म्यस्य प्रतियोग्यनुयोगिभ्यां सम्बन्धान्तर कल्पने तादृश सम्बन्धान्तरस्यापि प्रतियोग्यानुयोगिभ्यां सम्बन्धान्तरं तस्यापि तथेत्यनवस्थापातप्रसंगः। तादात्म्यद्वय स्वीकारे, अन्योन्याश्रयः। तादात्म्य त्रयस्वीकारे च चक्रक प्रसंगः। तादात्म्यस्य स्वतः सम्बन्धत्व स्वीकारेण तत्रचात्माश्रयदोषाभ्युपगमापेक्षया विशेषण स्वरूपस्यैवाङ्गीकारस्य युक्तत्वात्। तस्मादुपादानत्व लक्षणं भवत्कल्पितं पुनरपि घट्टकुड्डी प्रभातमेव। आनन्दानन्दमय पदयोरस्माकं लक्षणाकथनमपि भवतां श्रीभाष्य गूढार्थ ज्ञाननिबन्धनमिति—तथाहि—

(रक्षामणिः—१२६—पृ०—)

एतेन—आनन्दमयानन्दपदे, अपि व्याख्याते, उभयोः पदयोर्ब्रह्मणि मुख्यत्वं न संभवति, ब्रह्मण आनन्दमयत्वानन्दरूपत्वोभयासम्भवात्। अद्वैतिमतेतु—आनन्दपदमेव ब्रह्मबोधकम्। आनन्दमय पदं तु ब्रह्माबोधकं जीवपरमेव।

श्रीभाष्यमतेतु—पदद्वयस्यापि ब्रह्मणि प्रयोगस्य स्वीकरणीयत्वात्, आनन्दमय पदं ब्रह्मणि यदि मुख्यम्, आनन्दपदं तर्हि गौणं लाक्षणिकं वेति स्वीकर्तव्यम्। इदमेव खलुतेषामपि मतम्। तद्गुणसारत्वेनैवा-नन्दपदमानन्दमये प्रवर्तत इति तैरूरीकारात्। तथाचमतान्तरे तु एकं मुख्यार्थमपरं गौणार्थमिति, इदन्तु न युक्तमिति भामत्याशय इति। अज्ञात श्रीभाष्यगूढरहस्येन भवता वृथैव स्वगुरवो भामती काराः दूष्यन्ते। आनन्दमयानन्दपदयो र्लक्षणागन्धाभावात्।

आनन्दमयानन्दपदयोर्मुख्यत्वतदभावाभ्यां वैषम्योपपादनम्, पदद्वयार्थाज्ञान निबन्धनम्। पदद्वयस्यापि ब्रह्मणि मुख्यत्वात्।

आनन्दमयपदस्य, प्रचुरानन्दवदर्थकत्वात्। आनन्द पदस्य च, आनन्दस्वरूपार्थकत्वात्। स्वयमानन्द स्वरूपस्यैव ब्रह्मणः, निरतिशयानन्दवत्वाङ्गीकारात्, उभयमपि पदं ब्रह्मणि मुख्यमेव। लक्षणागन्धाभावेन मुख्यामुख्य कथायाः कावकाशः। तद्गुणसारत्वादिति लक्षणया, आनन्दपदस्य ब्रह्मणि प्रवृत्तिरपि भवतीति केवलं प्रदर्शनमात्रम्। आनन्दमयस्य जीवत्व जल्पनन्तु पूर्वमेव निरस्तम्, निरसिष्यते च पुच्छ ब्रह्मवाददूषण प्रसङ्गे।

एतावता स्थालीपुलाक न्यायेन रक्षामणा उद्भावितानि दूषणानि सम्यक् समालोच्य निरस्तानि, अतःपुनरपि परपक्षनिराकृति कारोक्ताः दोषविशेषा अद्वैतिनां तिष्ठन्त्येवेति।

यदपि महाचार्य्यविरचिते–'पाराशर्य्य विजयाख्य' महानिबन्धे किञ्चिदंशमात्रस्य समालोचनं कृतं भवद्भिः, बहुभिर्गामिलित्वा तदपि महासिन्धौ निमज्जनम्।

श्रीभाष्यानुयायिषु प्रधानतया परिगणितेषु महाचार्य्यपादेषु—अधिक्षेपोद्यमः वृथैवाद्वैतिनाम्। वैदिक सिद्धान्तनिर्धारणतत्पराणां महाचार्य्यपादानामुक्तयः सर्वथैव योग्याः। मात्सर्य्यरागोपहिताश्चाद्वैतिनामुक्तयः त्रिकाल बाधिता इति प्रौढ़रूपेण सम्यक् प्रदर्शयामः।

(रक्षामणिः—१४६—पृ०--)

श्रीभाष्यमते तु—विज्ञानमयेन जीवस्य विवक्षणात् जीव विलक्षणत्वस्य 'तस्माद्वा एतस्मादन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः' इति वाक्येनैव स्पष्टमवगमात्—आनन्दमयो जीवो वा ब्रह्मवेति संशयस्यैवानुत्थानात् सर्वमधिकरणं वितथम्। न केवलं वैयर्थ्यमात्रम्, किन्तु सौत्रपदानामपि तन्मत एव क्लिष्टकल्पनेति। सर्वमधिकरणं वितथमिति इदं वचनमेव वितथमिति श्रीभाष्य निगूढ़तत्त्व प्रकाशनेन व्यवस्थाप्यते।

(अत्र श्रीभाष्यानुयायिनः)

तमिममत्यन्तासमालोचकलेखं प्रदर्शयामः। कोटिद्वयोत्था-

पकसामग्रीविशेषद्वय संवलनप्रयोज्य कोटिद्वयसंशयोत्थाने हि संशयनिराशकानामेकतरकोटिभासक सामग्रीविशेपाभासता-निरूपणमुखेन,अपरकोटि भासक सामग्री विशेषे, अनाभासता व्यवस्थापन मुखेन च संशयनिरसन प्रकारो दृष्टः ।

नचेयमपूर्वाशरणिः, अत्यन्तप्रहतशरणिमेवात्रावलम्ब-मानानि श्रीभाष्याक्षराण्युपलभ्यन्ते चक्षुष्मताम् ।

यदा हि—विज्ञानमयवाक्यगत विज्ञानशब्दः करणसाधनः, मयट् च स्वार्थिकस्तदा विज्ञानमय वाक्यस्याचिद्विशेष परतया - 'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्य' इति, आनन्दमये, अचिद्वि-शेष वैलक्षण्य बोधनेन प्रत्यगात्मबाधाप्रसक्तया, आनन्दमय वाक्यगतानन्दमय पदस्य प्रत्यगात्म विषयता कोट्युत्थितिः ।

यदा च—विज्ञानमयवाक्यगत विज्ञानमयशब्दे निरर्थकता-परपर्य्याय स्वार्थिकताऽनादरेण प्राचुर्य्यार्थकतामाश्रित्य, मयट् प्रकृतेश्च स्वारसिक भावसाधनतामाश्रित्य विज्ञानप्रचुर जीव-परताऽनुसन्धानम् ।

तदा 'विज्ञानमयादन्योऽन्तर' इति जीवभेदपर वाक्य समवधानेन, आनन्दमय पदस्य जीव विषयत्वं बाधित विषय-मिति, आनन्दमयपदे परमात्म विषयता कोट्युत्थितिः ।

अत्र कोट्यन्तर निराकरण मुखेन विवक्षित कोटिविशेष निर्धारणप्रवृत्तानां निरसनीयकोटि विशेषाभासता प्रवण युक्ति विशेषाः प्रदर्श्यमानाः कोट्यन्तराभासी करणक्षमा इतीय-

तैव कोटिद्वयोत्थापक सामग्र्यधीन कोटिद्वय संशयात्यन्ता संभावनां तदधीनां च, संशय निरसन प्रवृत्ताधिकरण निरर्थक्-ताञ्चोद्भावयन् महानेव चक्षुष्मान् , इति लेखोऽपलेख एव।

तत्तदधिकरण सिद्धान्त युक्तिविशेष निरस्तसंरम्भेषु, विव-क्षित कोटिविरुद्ध कोटिविशेषेषु—तत्तदधिकरण सिद्धान्त-नीयत्वाभिमत कोटि विशेषाणां निर्गल प्रसराणां सतां विरोधि निरसनानपेक्षाणां विरोधिकोटि निराशकत्वाभिमत तत्तदधि-करण साध्यं न किञ्चित्प्रयोजनमिति ।

तत्तदधिकरण सिद्धान्तनीयत्वाभिमतकोटिविरोधि कोटि निरसन लक्षणाभिमत कोट्युपकरणं तत्तदधिकरण प्रयोजन मत्यन्ताय न संभवतीति पूर्वोत्तर मीमांसाधिकरण सामान्य मनर्थकमापाद्यमानं विभावयत्वायुष्मानिति ।

(रक्षामणिः—१४६ -१५०—पृ०—)

न केवलं वैयर्थ्यमात्रम् , किन्तु सौत्रपदानामपि तन्मत एव क्लिष्टकल्पना। तत्रानन्दमय इति पक्षनिर्देशः, जीवभिन्न इति साध्या-ध्याहारः, आनन्दपदचिह्नित वाक्यप्रतिपन्न निरतिशयानन्दवत्वादिति, अवाङ्मनसगोचरत्वेनाभ्यस्यमानानन्दवत्वादिति वा हेतुरिति हि तन्मतम्। तत्र जीवादन्य इति साध्याध्याहारः, अभ्यास पदस्य हेतु-परस्य लक्षणयाऽर्थान्तरपरत्वमिति विशदोऽयं दोषः। अपरस्तु दोषः प्रथमस्य हेतोरकामहत श्रोत्रिये व्यभिचारः, तत एव विरोधोऽपि। आनन्दमयो जीवः, आनन्दपदचिह्नित वाक्य प्रतिपन्न निरतिशयान-न्दवत्वात् , अकामहत श्रोत्रियवदिति ।

("अत्र विशिष्टाद्वैतिनः")

सौत्रपादानामपीत्याद्यकामहतश्रोत्रियवदित्यन्तं यदुक्तं तदपि परामृशामः। जीवभेद साध्याध्याहारवादो नेतरोऽनुपपत्ते रिति सूत्र गत नेतरपदद्वय स्वरूपाकर्ष सिद्धिदूषितः—उपस्थापकप्रकरण विशेषाद्यसमवधानकालीनोपस्थिति र्हि, अध्याहारः प्रकरणंचेदं सिषाधयिषिताकार समर्पणक्षमपद-स्वरूप घटित सूत्रघटितमिति नाध्याहार पर्य्यन्ताश्रयणावश्यकता, तदत्र सिषाधयिषिताकार समर्पणक्षम पदविशेषाध्याहारवादोऽयमभित्तिचित्रम्।

भावकर्म्म साधनव्युत्पन्नत्वार्हाभ्यासपदं हि तात्पर्य्य व्यवस्थित विषयं क्वचिदभ्यस्यमानपरं क्वचिदावृत्तिपरं च, इति स्थितेप्रकृते—आनन्दमीमांसापरवाक्यविशेषेषु, आनन्दावर्त्यमानतोपलम्भेनावर्त्य मानानन्दपर इति, तात्पर्य्य ग्राहक सामग्र्यधीन विशेष परतानिर्णये हेतुपदे नहि सिद्धान्ते लक्षणाश्रयण गन्धोपलम्भ, इति। हेतुपदे लक्षणाश्रयण दूषणमप्यभित्तिचित्रम्।

तदर्थोपाधिपर शब्दविशेषासमवहितानां तदर्थपरशब्दानां निरुपाधिक तत्तदर्थबोधकत्व स्वारस्यानुरोधेन प्रकृते—अभ्यासपदस्य कर्मसाधनस्याभ्यस्यमानानन्दपर्यन्तस्य निरुपाधिकतादृशानन्द परताध्रौव्ये, निरुपाधिकतायाश्च—'स्वासामानाधि-

करण्य, स्व प्रयोज्यत्वोभयसम्बन्धेन, संकल्पविशिष्टान्यत्वरूपत्वे स्वव्यधिकरण संकल्पप्रयोज्यानामकामहत श्रोत्रियानन्दानां तथात्व बाधेन, अकामहत श्रोत्रियान्तर्भावेण व्यभिचारवादस्य जतुपान्धवादरूपता।

उक्त निरतिशयानन्दे जीवस्पर्शमात्रासहिष्णौ निर्मूलो जीवासाधारणतावाद इति, विरोधवाद दूषण प्रवृत्ताः, दूष्यात्यन्तदूर्भगतयाऽस्मानमनुशोचामः।

किञ्च—हेतोरकामहत श्रोत्रिये व्यभिचारस्तत एव विरोधोऽपि, इति यदुक्तं भवद्भिस्तदप्यत्यन्त विगर्हितम्। कोऽयमत्र व्यभिचार विरोधयोरुपस्टभ्योपस्टम्भकभावः। व्यतिरेक सहचारो व्यतिरेकि सहचार सहचरितो हि व्यभिचारः।

अतएवहि तांत्रिकाणां व्यभिचारे संशयप्रयोजक रूपतावादः, कोटिद्वयोत्थापकतया संशायकता हि, उक्त कोट्यन्तर सहचार सहचरित कोटि सहचारे, कोटिमात्र सहचारस्य कोटिमात्रोत्थापकस्य कोटिद्वयोत्थापकतया संशायकता हि दुर्लभा।

तथाच—कोट्यन्तर सहचार सहचरित कोटि सहचारस्यैव कोटिद्वयोत्थापकतया संशायकता स्थितौ संशायकरूप व्यभिचारवादिनां ,तांत्रिकाणां कोट्यन्तरसहचारसहचरित कोटिसहचार व्यभिचार रूपताऽभिप्रायो हि दुरपह्नवः।

प्रत्येक कोट्युपस्थापकयोस्सतोः प्रत्येककोटि सहचारयोः संशायकतासंभवेऽपि, व्याप्यविरुद्धादि व्यावृत्त संशा-

यक यावद्रूपव्यभिचारतावादावश्यकतया व्यतिरेक साहचर्य्यमात्र विश्रान्त व्यभिचारतावादानवकाशेन—व्यतिरेकि सहचार सहचरित व्यतिरेक साहचर्य्य व्यभिचारताभिप्रायः, संशायकरूप व्यभिचारता वादिनां तांत्रिकाणां दुरपह्नव एव।

विरोधस्तु—व्यभिचारगर्भगत व्यतिरेकि साहचर्य्य विरुद्ध व्यतिरेकि साहचर्य्याभावात्मक एव, भावाभावयोरिव भावघटित विशिष्टघटकाभावात्मकयोरपि धर्मयोः विरोधावश्यम्भावेन प्रकृते व्यभिचार विरोधयोः परस्पर विरुद्धधर्मात्मकयोरेकतरोपस्टम्भकताकापरोपस्टभ्यतावादोऽयमसंगत प्रलाप एव।

(रक्षामणिः—१५०—पृ०—)

द्वितीय हेतोस्तु स्वरूपासिद्धिरस्मदृष्ट्या—'यतो वाचः' इत्यस्यानन्दमयाविषयकत्वस्य साधनात। अप्रयोजकत्वशङ्का तु विशदैव। अभ्यासस्य तात्पर्यग्राहक प्रमाणस्य मुख्यतात्पर्य विषयता साधकस्य तत्त्वाविवक्षा। तथाच श्रीभाष्यमते—केवलाभ्यासपद स्वारस्य भङ्गोऽपि दूषणम्। अद्वैतमतेतु—आनन्दमयपदमात्रे पक्षनिर्देशपरे लक्षणा। सातु सह्याः, सूत्राणां न्यायतात्पर्यवतां न्यायलाक्षणिकताया एवायोगात्। पक्षपदे लक्षणाया उभयसम्मतत्वाच्चेति।

द्वितीय हेतोस्तु—स्वरूपासिद्धिरस्मदृष्ट्या, इति यदुक्तं तदपिचिन्त्यते—स्वमतसिद्ध स्वरूपासिद्धिमुखेन, सूत्रकाराभिमतत्वेनावाङ्मनसगोचरत्वेनाभ्यस्यमाननिरतिशयानन्द हेतुवाद दूषणमधिकरण कृत्याज्ञाननिबन्धनम्। आनन्दमयपदस्य

जीवविषयता प्रवण सांख्य निरसन प्रवृत्तं ह्यधिकरणम्। न त्वन्मतनिरसनप्रवृत्तमितिस्थिते, वादिविशेषसिद्ध हेतुमत्ता-मात्रेण तद्वादिसिद्धार्थ निरसनानुमानोपपत्तेः।

'यतो वाचः' इत्यस्यानन्दमयाविषयकत्व जल्पनन्तु, 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वानि'ति, आनन्दबोधक श्रुत्यैव निरस्तम्। श्रीभाष्यश्रुतप्रकाशिकादिषु महानिबन्धेषु विस्तरेण श्रुत्यर्थ-विचारेण भवन्मतं निरस्तं चर्वित चर्वणभयात्, ग्रन्थविस्तर भयाच्च नेह तन्यते।

यत्तु-अप्रयोजकत्वशङ्का विशदैवेत्युक्तम्। तत् सांख्यरूप प्रतिवादि सिद्धाप्रयोजकत्व तुच्छतया दूष्यम्। कथंचिज्जीवेषु संभावितस्यापि निरतिशयानन्दस्य कर्म्मोपाधिकतामात्रे हि विश्रान्तिः। तथाचानौपाधिकनिरतिशयानन्दयोगो हेतुर्भवन्, कथं प्रतिवादिसिद्धाप्रयोजकत्वमश्नुवीत।

यत्तु-अभ्यासस्य तात्पर्यग्राहक प्रमाणस्य मुख्य तात्पर्य-विषयतासाधकस्य तत्त्वाविवक्षा, इति भवल्लेखः, तत्राप्युच्यते-नानार्थेषु पदेषु नानाविशिष्टार्थविषयेषु वा वाक्येषु, तत्तत् स्थलीय तात्पर्य्यव्यवस्थापक व्यवस्थितविषयेषु, अर्थान्तराद्य-विवक्षा, विशिष्टार्थान्तराविवक्षा वा दूषणमिति। उक्त तात्पर्य्य ग्राहकप्रमाण विशेषरूपाभ्यासाविवक्षा दूष्यत्व वादोऽयं सर्वथैव भवन्तं समीचीनमार्गान्निपातयति।

नच मुख्यतात्पर्य्यविषयता साधकस्याभ्यासस्य मुख्य-तात्पर्य्य साधकता विपर्य्य विवक्षाऽत्रदूषणम्,

यतोऽसत्येव सा। तत्तदर्थ साधक प्रमाणानामर्थान्तर साधनावस्थायां सिषाधयिषितार्थसाधनानुपयोगिनां योग्य तत्तदर्थ साधनत्वाविवक्षामात्रस्यार्थान्तर साधक दूषणत्वं कुत आचार्य्यादयं विलक्षणो दूष्यदूषकभावश्शिक्षितः। कथं चायं दूष्यदूषकभावः, सुदूर विषयालोचन क्षमधिया, आयुष्मता व्युत्पन्न इति, अत्यन्तं विस्मयामहे।

तथाच प्रथमसूत्रं श्रीभाष्यमते स्वाभीष्टासाधकमिति कुशाग्रधियः कृतकृत्यं मन्यमानामपि, उपलभमानाः विस्मयामहे।

अद्वैतमते तु—पक्षपदे लक्षणा सा तु नायोग्या पक्षपदे लक्षणाया उभयसम्मतत्वाच्चेति यन्निगदितम्।

तदप्यसौष्ठवम्। अत्र स्वपरसिद्ध लाक्षणिकपदयोर्लक्षणायोग्यत्वतदभावाभ्यांहि—स्वीयलक्षणाऽदूष्यत्वपरसिद्धलक्षणादूष्यत्व अभिप्रेते—स्वमतसिद्धलक्षणा, अदूष्यता च, परसिद्ध लक्षणाऽयोग्यतयास्यात्।

उक्तया च दिशा न न्यायतात्पर्य्यक हेतुपद लक्षणाऽत्यन्तायसूत्रगतपदलक्षणाऽनवलम्बि परमतस्थितौ, काप्येकत्र सौत्रे पदे लक्षणा, अपि—अयोग्या।

तथाच कथं लक्षणायोग्यतोपपादित स्वीयलाक्षणिक पदोऽयमदूष्यतामासादयेत्।

अथ सूत्राणां न्यायतात्पर्य्यवतां न्यायलाक्षणिकताया एवायोगादित्यपि—तात्पर्य्यविषयत्व लक्षणाविषयत्वयोर्विरो-

धगर्भवचः। अन्यथातात्पर्य्यानुपपत्त्या हि तात्पर्यानुरोधिनी लक्षणासमाश्रीयते—कथमत्रतदनुरोधिन्यास्तद्विरोधवाचो युक्तिः।

न्याय लाक्षणिकताया एवायोगादिति च, इतर लाक्षणिकता ऽदुष्टत्वाभ्यनुज्ञानं सूचयति। अत्र, एवकारो हि तात्पर्य्यवतामित्यत्र भिन्नक्रमतयाऽनुसन्धीयमानः प्रकृते स्व विवक्षितार्थ साधक इति, इत्यप्युपदिशामः, मुख्यतात्पर्य्यविषयार्थस्य लाक्षणिकपदेन प्रत्यायनमुपदेष्टुस्सम्प्रदायविरुद्धमिति तु प्रकृतेः दूषणं दुदूषयिषोः भवतस्साधु, इत्यप्युपदिशामः।

विशेषतश्च—आयुष्मद्बुद्धावस्फूर्तमर्थविशेषमायुष्मन्तं शिक्षयामः। न्यायतात्पर्य्यवतामिति न्यायमुख्यतात्पर्य्यवतामित्येवं परं, तथाच—तदर्थमुख्यतात्पर्य्य विषयकत्वावच्छिन्नस्य तदर्थविषयलक्षणामूलबोधविषयकतात्पर्य्यविषयताया अदुष्टाया अभावस्य, तदर्थविषयकलक्षणामूल बोधीयादुष्टतात्पर्य्य विषयत्वावच्छिन्नस्य, तदर्थविषयक मुख्यतात्पर्य्यविषयत्वाभावस्य च—अन्वय व्यतिरेकाभ्यां व्याप्तिघटितस्य, उक्तलेख विषयतया निस्तारयति सोऽयमुक्तप्रकारः, लेखानपराधितामेवार्जयेत्, न पुनर्लेख विषयार्थानपराधिताम्। उक्तरीत्या हेतुपद लक्षणानवकाशादिति।

(रक्षामणिः—१५०—१५१—पृ०—)

एतेन द्वितीयसूत्रमपि व्याख्यातम्, अभ्यस्यमानानन्दातिशय-

वरत्वे हेतौ निश्चिते विकारार्थकत्वशङ्काया एव नावसरः, अनिश्चिते च 'प्राचुर्यादिति' प्राचुर्यार्थविवक्षाया अप्यसंभव इत्युभयतः पाशारज्जुः।

'तद्धेतुव्यपदेशादि' ति तृतीयसूत्रं तु—मयट आनन्दमयपदे प्राचुर्यार्थकत्वव्यवस्थापनार्थमिति खलुतन्मतम्। तन्मते च प्राणमयादिष्वपि प्राचुर्यार्थकत्व मेवेति स्वीकारात् प्रायपाठस्यापि प्राचुर्यार्थकत्व एव साधकत्वात् विकारार्थकत्वशङ्केव नोदेतीति, पुनरपि द्रढीकरणं किं प्रयोजनम्, न तस्य किमपि प्रयोजनमिति विशदमिदं सर्वेषामिति। इत्युक्तिरपि चर्वित चर्वणप्रायत्वान्निरस्तैवेति।

आनन्दमयोऽभ्यासादि' ति सूत्रेण निरतिशयानन्दाभ्यासस्य हेतोर्निश्चितेऽपि—अन्नमयादिषु विकारार्थमयट् प्रत्यय दर्शनेन तन्निदर्शनेनानन्दमय इत्यत्रापि विकारार्थमयट् प्रत्ययवादिनां पूर्वपक्षिणां शङ्कां शमयन् सूत्रकारः 'विकारशब्दान्नेति चेन्नप्राचुर्य्यादि'ति सूत्रेण प्राचुर्यार्थमयट्प्रत्ययं द्रढयति।

तथाच—पूर्वपक्षि दृष्ट्या विकारार्थकत्व शंकायाः, सावसरत्वेन 'उभयतः पाशारज्जु रि'ति भवदीय प्रश्नस्य कावकाश इति विभावयत्वायुष्मान्।

अनिश्चिते च 'प्राचुर्य्यादि'ति प्राचुर्य्यविवक्षाया अप्यसंभव इति, यदुक्तं तदप्यशोभनम्। असम्भवप्रकारस्यानुपपादनात्। अनिश्चितार्थस्यैव श्रुतिसूत्रादिभिः निश्चयो भवतीत्यस्य सर्वसम्मतत्वेन, अनिश्चितेप्यसंभववादस्य विरुद्धत्वाच्च।

तद्धेतुव्यपदेशादिति तृतीयसूत्रस्य वैयर्थ्योद्भावनमपि

'महाचार्य्य सूत्तयश्रवणदौर्भाग्यनिवन्धनम् । नह्येतादृशेन सूत्रेण पूर्वसूत्रसिद्धार्थप्रतिपादनं क्रियते येन भवदीय चोद्यावकाशस्स्यादपितु, हेत्वन्तरेण जीवादानन्दमयस्य भेदसाधनपरमिदं सूत्रमित्येवाङ्गीकृतं महाचार्य्यैः तत्रैव 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्' यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' एष ह्येवानन्दयाति' इति श्रुतिरुदाहृता । अत्र हि, आनन्दयितृत्व, आनन्दयितव्यत्व रूप कर्मकर्तृविरोधेनानन्दमयस्य जीवव्यतिरेकसाधनपरमिदं सूत्रमिति स्पष्टमवगम्यते ।

सत्यमस्ति महाचार्य्याणां क्वचित् प्राचुर्य्यार्थोपपादकमपीदं सूत्रं परन्तु जीवाद्भेदसाधकमेवेदं सूत्रमिति तु सिद्धान्तः । प्राचुर्य्यार्थोपपादकत्वंत्वर्थात्सिद्धमिति विवेकः । यथालोकेधनप्रचुरोहि पुरुषोऽन्यस्मै तदभिप्रेतं धनंददाति, तथैव परमात्मापि यदि स्वोपासकेभ्य आनन्दं ददातीतिश्रुतिसिद्धं तर्हि—आनन्द प्राचुर्य्यमपिसिद्धमेवेति कृत्वा तादृशार्थोपवर्णनं तेषामिति ।

किञ्च पुनरपि तृतीय सूत्रेण द्रढीकरणं किम्प्रयोजन मिति भवत्प्रश्नस्य—द्विर्वद्धं सुबद्धं भवतीति न्यायेन प्राचुर्यस्याविचालित्वमेवोत्तरमिति सन्तुष्यताम् ।

किञ्च पूर्वत्र पूर्वपक्षिणांसमाधानपूर्वकमानन्दप्राचुर्य ब्रह्मणि–'यतोवाचोनिवर्तन्ते' अप्राप्यमनसासह आनन्दं ब्रह्मणो विद्वानित्यादि श्रुत्यादिभिरूपपादितंसूत्रकारेण ।

अनेन तृतीयसूत्रेण तु प्रकारान्तरेण जीवानन्दप्रदत्व लक्षणेन प्राचुर्य्यमुपपाद्यमानेविधाभेदेन प्रश्नोत्तरस्य सर्वतांत्रिकसिद्ध-त्वेन, पुनरपि द्रढीकरणं किम्प्रयोजनमिति भवदीय प्रश्नस्य क्वावकाश इति निरर्थक एव भवत्प्रश्नः। भवदीय वाक्यान्येव भवन्तमधिक्षिपन्ति। परमर्षि सिद्धान्तसिद्धार्थ परिपूर्णे वैदिक जनपरमश्रद्धास्पदे श्रीभाष्यमहानिबन्धेऽसूयां प्रकटनेन वैदिक विचारशून्यत्वमपि प्रकटयन्ति।

वैदिकसिद्धान्तसमर्थनपरस्य महाचार्य्यविरचित पारा-शर्य्यविजयाख्य महानिबन्धस्य किञ्चिदंश मात्रस्यैवविचारेण स्वस्यासामर्थ्यं ज्ञात्वा पुनरपि परावृत्त्य श्रीभाष्यमते पुनरुक्ति दोषोद्भावनं भवदज्ञानमेव सूचयति।

तथाच युक्तमुक्तम्—'करयो यत्र निमज्जन्ति पिपीलिकात-रणं कुतः' महाचार्य्यग्रन्थे कृतानां दूषणाभासानां निराशस्तु-कृतः. अथ श्रीभाष्योपरिभवदीय पुनरुक्तिदोषोऽपि विचार्य्य-निरस्यते।

(रक्षामणिः—१५२—पृ०··)

श्रीभाष्यमते—तद्धेतुव्यपदेशादि'ति सूत्रमानन्दमय ब्रह्मतासाध-कम्। तत्र पूर्वपक्षिमते, 'रसो वै सः' इत्यादि वाक्यस्य पुच्छब्रह्म विषय-कत्वेनानन्दमय विषयकत्वाभावात् स्वरूपासिद्धिः। 'अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ती' त्यनेनाप्यस्यैव हेतोर्विवक्षणात् पौनरुक्त्यम्। इदं हि

तत्रत्यं श्रीभाष्यम्—'रस शब्दाभिधेयानन्दलाभादयमानन्दी भवतीत्युच्यमाने यल्लाभाद्य आनन्दी भवति, स स एवेत्यनुन्मत्तः को ब्रवीति' इति, अतो पौनरुक्त्यं दुर्वार मेव। किञ्च—केवलमानन्दशब्दः कथमानन्दमयपर इति शङ्कायांहि श्रीभाष्यकारा वदन्ति, 'एवमानन्दमयः परं ब्रह्मेति निश्चिते सति' यदेष अकाश आनन्दो न स्यात्' विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' त्यादिष्वानन्दशब्देन आनन्दमय एव परामृश्यत इति। अत्रानन्दरसादिशब्दानामानन्दमयपरत्वाधीनमानंदमयपदस्य जीवानन्दयितृत्वेन परमात्मत्वम्, तत्परमात्मत्वनिश्चयाधीनं च रसानन्दादिशब्देन परामर्शनमित्यन्योन्याश्रयोऽपिदुष्परिहर इति।

"अत्र श्रीभाष्यानुयायिनः"

तदेतत्सर्वमपि भवदीयं वचनं प्रमादैकमूलमिति विचार्य्य निरस्यते। 'रसो वै सः' इत्यादि वाक्यस्य पुच्छब्रह्म विषयकत्व स्वीकारेण पूर्वपक्षि दृष्ट्या स्वरूपासिद्धिरिति यदुक्तं तदसङ्गतम्-'रसो वै स इति वाक्यगत स इति पुल्लिङ्गान्तेन नपुंसक ब्रह्मशब्द परामर्शायोगात्। तादृशेन पुल्लिङ्गेनानन्दमयस्य परामर्शेन स्वरूपासिद्धेरभावात्। किञ्च बहुभिःश्रुतिसूत्रैरानन्दमयस्य परब्रह्मत्वेस्थिते मध्ये तादृशश्रुतौपुच्छब्रह्म वादकथापि 'काकतालीय न्यायमेवाश्रयते'

वस्तुतस्तु—'तुष्यतु दुर्जनन्यायेन' पुच्छब्रह्मवादस्यास्माभिरपि स्वीकारात् स्वरूपासिद्धिदोषस्य नावसरलेशोपि।

'तद्धेतुव्यपदेशात्' अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ती' त्यन-

योश्च सूत्रयोर्नैकेनापरस्य पुनरुक्तता—एकत्र जीवसमवेतानन्द-प्रयोजकतायाः, अपरत्र जीवगतानन्दविषयतायाश्च जीवभेद-साधकता विवक्षया, साधकत्वाभिमत हेतुभेदेन, साधकहेतुद्वय-परसूत्रद्वये नैकेनापरस्य कृतकरता।

आनन्दविषयत्वानन्दाश्रयत्वयोर्भोक्तृभोग्यता रूपत्वेन भोक्तृभोग्यभावलक्षण कर्मकर्तृ विरोधेन जीवभेदसाधनपरं हि—अस्मिन्निति सूत्रम्।

तद्धेतुव्यपदेशादिति सूत्रं तु—आनन्दयितृत्व, आनन्दयितव्यत्व, रूपकर्मकर्तृ भाव विरोधेन जीवव्यतिरेक साधनपरम्। तथाच विलक्षण कर्मकर्तृ विरोध लक्षणहेतुपरे सूत्रे स्थिते कथं पुनरुक्ति दोषावसर इति विभावयत्वायुष्मान्।

आनन्दरसादि शब्दानामानन्दमयविषयत्वाधीनमानन्दमयपदस्य, आनन्दादि पदघटित वाक्यप्रतिपन्न आनन्दयितृत्व, आनन्द विषयत्वादिलक्षणहेतुसिद्धिपूर्वकमानन्दमय पदस्य परमात्मत्वं न पुनः—इदृश हेतुविशेष सिद्ध्यधीनानन्दमयपरमात्मत्वम्, आनन्दादिपद आनन्दमयविषयता साधकम्।

'रसो वै सः' इत्यादि पूर्वप्रकृत परामर्शि पुल्लिङ्ग तच्छब्दादीनामानन्दमय विषयता स्वारस्यादिसिद्धे रसादि शब्दानन्दमयविषयत्वे, तद्वाक्य सिद्धानन्दादि विषयताद्यधीनानन्दमय परमात्मत्व निश्चयानपेक्षणात्, इत्यन्योन्याश्रयवादोऽसद्वाद इति।

आनन्दादिपदानामानन्दमयविषयतायाः आनन्दमयपरमा-

त्मत्वादिनिश्चयापेक्षकत्वेऽपि—आनन्दमय परमात्मत्व निश्चायक पूर्वप्रदर्शित हेतुविशेषोपजीविनि, आनन्दमय परमात्मत्व निश्चये प्रकृत आनन्दादिपद विशेषानन्दमय विषयत्व निर्णयानपेक्षणेन, अपेक्षाया अन्योन्यविषयाया अन्योन्यसम्बन्धिन्या दुर्वचत्वात्। इदमेव श्रीभाष्यकाराणां तात्पर्य्यं नतु भवत्कल्पितेऽर्थेतात्पर्यमिति, तथाच नान्योन्याश्रयस्यावसरलेशोऽप्यस्तीति। अथ 'मांत्रवर्णिकमेव च गीयत' इति सूत्रार्थविचारेणापि भवदीयव्यथा शान्तिः क्रियते।

(रक्षामणिः—१५३—पृ०—)

एतेन—'तुरीयं मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते' इति सूत्रमपि व्याख्यातम्, अनेनापि सूत्रेण—आनन्दमयो ब्रह्म मान्त्रवर्णिकत्वादिति खलु विवक्ष्यते। अत्रापि पूर्वपक्षिभिः स्वरूपासिद्धिरेव मन्यते। आनन्दमयो न मान्त्रवर्णिकं ब्रह्म, तत्रत्य ब्रह्मशब्दासमानाधिकरणत्वात्, इति सत्प्रतिपक्षोऽपि। तथाच पुच्छं ब्रह्म प्रधानम्, निगमन श्लोक प्रतिपाद्यत्वादित्येव सौत्रं तात्पर्य्यम्। इदं चाद्वैतमते एव स्वारस्यमिति।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति मन्त्रवर्णोक्तमेव ब्रह्म, इह—गीयते "अन्योऽन्तर आत्मानन्दमय" इति सूत्रार्थमेव युक्तं मान्त्रवर्णिकमेव च गीयत इत्यस्य। पुच्छब्रह्मणः प्रधानपरतया व्याख्यानं न केवलं सूत्राक्षराननुगुणत्वादयुक्तमपितु—'आनन्द मयोऽभ्यासादि'ति बहुभिः पूर्वोक्तैः सूत्रैरानन्दमयस्य परब्रह्मत्वपरप्रकरणविरुद्धत्वादप्ययुक्तम्। स्वरूपासिद्धिप्रकारस्या-

न्नुपपादनादेव निरस्तोऽयंवादः। प्रमाणरहितेन केवलेन वाङ्मात्रेण वैदिक सिद्धान्त निरसनं वालचरितम्।

'आनन्दमयो न मान्त्रवर्णिकं ब्रह्म तत्रत्यब्रह्म शब्दासमानाधिकरणत्वादिति सत्प्रतिपक्षोऽप्यसत्–तादृशासमानाधिकरणत्वमात्रस्य, भेदसाधकत्वाभावात्। नहि पदयोरर्थयोर्वा तत्तत्स्वरूपानुगुणमसामानाधिकरण्य मेकतरपदे, एकतरार्थे वा, अपरपदवाच्यभिन्न विषयतामपरार्थ भेदं वा साधयितुं क्षमम्। नहि–अर्थेऽर्थासामानाधिकरण्यस्य समानविभक्त्यन्त तदर्थपर पदान्तर समभिव्याहृत पदान्तरतात्पर्य्य विषयताऽभावरूपस्य, विरूपैकोपस्थापक समानविभक्त्यन्त पदद्वयाप्रयोगदशायामपि–अभिन्नतद्वस्तु साधारणस्य भेदसाधकत्वं नाम। तस्मात् श्रीभाष्याभिमतसाधकमेवेदं सूत्रं नाद्वैतमतानुकूलमिति।

यदपि 'नेतरोऽनुपपत्तेरि'ति सूत्रमादाय वृथा प्रलापो भवतां सोपि विद्वद्गोष्ठिवहिर्भूत एवेति विचार्य्यते।

(रक्षामणिः—१५४ - पृ० —)

'नेतरोऽनुपपत्तेरि, त्यस्य 'सोऽकामयत' इति वाक्यशेषविषयत्वे—'कामाच्च नानुमानापेक्षा' इति सूत्रं निरर्थकम्। अथवा तेनैव गतार्थत्वादिदं सूत्रमनर्थकमित्यन्यतर सूत्रानर्थक्यं दुरपह्नवम्। भेदव्यपदेशाच्चेति सूत्रमपिवितथं नेतरेति सूत्रेणैव सिद्धत्वात्।

अपिच—'मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते' इतिसूत्रेण 'सत्यंज्ञानमनन्तमि'ति मन्त्रप्रस्तुत ब्रह्मत्व आनन्दमयस्य साधिते श्रीभाष्यमत-

रीत्या— सत्यज्ञानानन्तादिरूपत्वं मुक्तात्मनोपि न मन्यते' इति कथं मुक्तात्मनोऽमान्त्रवर्णिकस्य मान्त्रवर्णिकत्व शङ्कोदेति, तथाच निरसनीया भावादिदं सूत्रं वैयर्थ्यमेव ।

वस्तुतस्तु— अनुपपत्तेरित्यस्य विपश्चित्त्वानुपपत्तेरित्यर्थः कथं सूत्रारूढः कथं च मुक्तव्यावर्तकत्वमित्यपि चिन्त्यमेवेति ।

"अत्र श्रीभाष्यानुयायिनः"

'भेदव्यपदेशाच्च कामाच्च नानुमानापेक्षे'ति सूत्रद्वय साध्यस्य, नेतरोऽनुपपत्तेरि,ति सूत्रेण गतार्थत्वमङ्गीकृत्य श्रीभाष्यकारसिद्धान्ते 'नेतरेति सूत्रस्य' पूर्वोक्तस्य भेदव्यपदेशादिति सूत्रद्वयस्य वा वैयर्थ्यरूपं दूषणं भवन्तमेव दूषयति ।

तथाहि—निरस्तसमस्ताविद्यादिदोषगन्धस्य जीवस्यैव शुद्धं स्वरूपं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति मन्त्रेण विशोध्यते- इति पूर्वपक्षनिराशपरम्, 'नेतरोऽनुपपत्तेरि'ति सूत्रम् । परमात्मन इतरः मुक्तावस्थोऽपि न भवति मान्त्रवर्णिकः 'सत्यंज्ञान मनन्तं ब्रह्मेति श्रुतिप्रतिपाद्यः, अनुपपत्तेः, विपश्चित्त्वस्य जीवेऽनुपपत्तेरिति सूत्रार्थः ।

अयम्भावः, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति मन्त्रवर्णोक्त ब्रह्मैव 'सोऽकामयत' एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय' इत्यादि श्रुतिप्रतिपाद्यं तादृशश्रुतौच सर्वज्ञत्व सर्वशक्तित्व सत्यसंकल्पत्वादिबहूनामर्थानामन्तर्णीतत्वेन तद्घटक निरुपाधिक सर्वज्ञत्वानुपपत्तिरूपहेतु बलेन जीवस्य तादृशमंत्र प्रतिपाद्यब्रह्मभेद

साधकमिदं सूत्रं हेत्वन्तरेण निरसनीय शंकान्तर निराकरण-परेण सूत्रेण सह कथं गतार्थमिति महान् विस्मयः।

कामाच्चेति सूत्रं तु 'देहाद्यनपेक्ष संकल्पत्वरूपहेतु बला-ज्जीवभेदसाधकम्। अनुमीयत इत्यनुमानं प्रधानम्, तच्चानु-मानपदं तत्कार्य्यशरीरपरम्, कामशब्दस्सर्गाद्यकालीन सङ्कल्प-परः, हेतुनिर्देशापेक्षापदाभ्यां कार्य्यं गम्यते, तेनायमर्थः—कामा-देव विचित्र जगत्सृष्टिः श्रूयते तस्य च न शरीरापेक्षासम्भवति तदानिं शरीरसर्गासिद्धेः, तस्मादीदृशसर्गकर्ता आनन्दमयो न जीवोऽपितु ब्रह्मैव-जीवस्य च कर्तृत्वे न देहानपेक्षसङ्कल्पत्व सम्भव इति।

तथा च 'नेतरेति' सूत्रेण निरुपाधिकसर्वज्ञत्वानुपपत्त्या जीवस्य मन्त्रवर्णोक्त ब्रह्मत्वं निरस्यते। 'कामाच्चेति सूत्रेणतु 'देहाद्यनपेक्षसङ्कल्पत्वरूप हेतुबलान्निराशः। विभिन्न हेतुबलेन प्रवर्तमानयोस्सूत्रयोरन्यतरस्य वैयर्थ्यं दुरपह्नवमिति वदन् महानेव चक्षुष्मान्।

सर्वज्ञत्वदेहाद्यनपेक्ष संकल्पत्वरूप हेतुद्वयानुपपत्ति रूपहेतु भेदेन सूत्रद्वयस्य श्रीभाष्यकाराणां स्पष्टव्याख्यानोपलम्भेनापि पुनरपि वैयर्थ्योद्भावनं कुदृष्टि निबन्धनत्वमेव प्रथयति।

भेदव्यपदेशाच्चेति सूत्रं तु जीवादानन्दमयस्यभेदसाधकम्। अतोऽस्यापि वैयर्थ्योद्भावनमसंगतमेव। जीव एव परिशुद्धा-वस्थायां ब्रह्मभवतीत्यपि कुदृष्टिशङ्कां निरस्यत्यनेन सूत्रेण— तथा च कथं पूर्वेण सूत्रेण गतार्थमिदं सूत्रमिति विभावय।

"मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते' इत्यनेनानन्दमयस्य ब्रह्मत्वे साधिते श्रीभाष्यरीत्या सत्यज्ञानानन्तादिरूपत्वं मुक्तात्मनोऽपि न मन्यत इति कथं मुक्तात्मनोऽमान्त्रवर्णिकस्य मान्त्रवर्णिकत्व-शङ्कोदेतीति यदुक्तं तदपि तुच्छम् ।

निरुपाधिक सर्वज्ञत्वाद्यभाव परतया तादृशसूत्राणां व्याख्यान प्रदर्शनेन तादृशार्थस्यैव सिषाधयिषितत्वात् । वस्तुतस्तु पूर्व-पक्षिणां तादृशार्थस्यासिद्धत्वेन यावन्नप्रमाणेनसाध्यते तावता कथं सिद्धान्तस्थापनमित्यस्यावालसिद्धत्वेन कथं भवदीय प्रश्ना-वकाश इत्येव महाविस्मयः । भवदीयभाष्यकारदृष्ट्या सर्वेषां श्रुतिवाक्यानामद्वैत परत्वेसति कथं तत्तत् श्रुतिवाक्येषु मतान्तर-परत्व सन्देहः कथं च तन्निराकरणमित्यपि किन्नविस्मरति । बहुषु स्थलेष्वेतादृश बालप्रश्नानामुत्तरकरणेपि शंकोच एव भवति महतामिति । यदपि कामाच्चेति सूत्रमादाय विरुद्धभाषणं भवतस्तदपि विचार्य्यनिरस्यते ।

(रक्षामणिः—१५७—१५८—पृ०—)

सप्तमंतु सूत्रम्—'कामाच्च नानुमानापेक्षा'इति । इदमत्र श्रीभाष्य-काराणां विवरणम् -'सोऽकामयत' इत्यचित्संसर्ग रहितस्य स्वकामादेव विचित्रचिदचिद्वस्तुनः सृष्टिः—'इदं सर्वमसृजत' यदिदं किंच' इत्या-म्नायते । अतोऽस्यानन्दमयस्य जगत्सृजतो नानुमानिका चिद्वस्तु संसर्गापेक्षा प्रतीयते-इति ।

इदमत्रालोचनीयम्, यत्-नानुमानिकाचिद्वस्तुसं सर्गापेक्षेत्यनेन यदि

देहानपेक्ष संकल्पादिमत्वं विवक्षितम्, तर्हि—आनन्दमयो न जीवः, आनुमानिक देहानपेक्ष संकल्पादिमत्वादिति फलति। अत्र च शिरः पक्षादिमत्वेन शरीरसम्बन्धस्यानन्दमये प्रत्यक्षत्वात्—तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य—इति शरीर सम्बन्धानुमानिकत्वं पुच्छ-ब्रह्मण्येव कल्पनीयमिति। तथा च शरीरानपेक्ष संकल्पादिमत्वमपि-नानन्दमये सिद्धम्, इतिस्वरूपासिद्धिः प्रथमं दूषणम्।

नेतरेति सूत्रेणैव गतार्थत्वादेतत्सूत्रवैफल्यं तु द्वितीयं दूषणम्। नानु-मानापेक्षेत्यंशवैफल्यं तु तृतीयं दूषणम्। तद्धेतु व्यपदेशादित्यनेनैव गतार्थत्वादस्मिन्निति सूत्रस्य वैयर्थ्यवारणाय—पूर्वत्र सामान्येन समस्त-सुख हेतुत्वम्, अत्रतु मोक्षहेतुत्वमिति वा। पूर्वत्रोपायनिर्देशः, अत्रोपेयनिर्देशइत्यादि श्रुतप्रकाशिकायामुक्तम्। तत्र विवरणद्वयेपि—

कर्तृकर्मभावेन वा, कर्तृसाधनभावेन वा भेदव्यवस्थायामेवतात्पर्य्या-देकस्यैव कर्तृकर्मत्ववत्, कर्तृकरणत्वयोरप्यसंभवस्य न्यायसाम्येन सिद्धौ सूत्रद्वय वैयर्थ्यमपरिहरणीयमेवेति।

"अत्र श्रीभाष्यानुयायिनः"

'कामाच्चनानुमानापेक्षे'तिसूत्रमादाय श्रीभाष्यविवरण प्रदर्शन पूर्वकं यत्किञ्चिदपि समालोचितं तदप्युपहास्यम्। तथाहि—आनन्दमयो न जीवः, आनुमानिकदेहानपेक्षसंकल्पा-दिमत्वादिति सूत्रार्थ निष्कर्षे, आनन्दमयस्य 'तस्यैष एव शारीर आत्मा' इति शारीरत्व श्रवणात् स्वरूपासिद्धिरिति प्रथमं दूषणं यदभिहितं तदसङ्गतम्। नित्य सर्वज्ञ परमेश्वर संकल्पं प्रति देहस्याप्रयोजकत्वात्। नहीश्वर संकल्पं प्रतिदेहस्यप्रयो-जकत्वं येन देहसापेक्षसंकल्पस्य देहानपेक्षत्वमयुक्तंभवेत्। 'इदं

सर्वमसृजत' यदिदं किञ्चन' इत्यादि प्रमाणैः सर्वस्यापि संकल्पेन सृज्यत्वावगमात्।

किञ्च 'तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्ये'त्यनेन शारीरत्व श्रवणेन नेश्वरस्य करचरणादिमत्वं वक्तुमुचितम्। भवदभिमते पुच्छब्रह्मवादेऽपि शारीरत्वप्रसङ्गेन निर्विशेषनिरवयवादिस्वसिद्धान्त विरोधन दोषस्य साम्यत्वात्। अतोऽस्यां श्रुतौ शारीरत्वं जगच्छरीरत्वप्रयुक्तमेव परमात्मनः। तत्रैव 'जगत्सर्वं शरीरन्ते' स्थैर्य्यन्ते वसुधातलम्' इत्याद्युपबृंहणान्यपि प्रमाणानि। न केवलमुपबृंहणबलेनैवायमर्थ उच्यतेऽपि तु वेदवाक्यान्येव स्पष्टतरप्रमाणानि—'अन्तः प्रविष्टश्शास्ता जनानां सर्वात्मा' यस्यात्माशरीरं य आत्मानमन्तरोयमयति' यस्य पृथिवी शरीरं यं पृथिवी न वेद' यस्य मृत्युश्शरीरम्' एष सर्वभूतान्तरात्मा अपहत पाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः' इति, तथा च शारीरत्व निबन्धनंस्वरूपासिद्धिदूषणमयुक्तमेव।

यद्यपि 'सर्वाणि रूपाणि विचित्यधीरः। नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते' वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्' आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' सर्वेनिमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि' इत्यादि वेदवाक्यानि परमात्मनः स्वासाधारणं विग्रहं प्रतिपादयन्ति।

श्रीभाष्यकारा अपि—परस्यैव ब्रह्मणो निखिलहेयप्रत्यनीकानन्तज्ञानानन्दैक स्वरूपतया सकलेतर विलक्षणस्य स्वाभाविकानवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणाश्च सन्ति। तद्वदेव

स्वाभिमतानुरूपैकरूपाचिन्त्य दिव्याद्भुतनित्य निरवद्यनिरतिशयौज्वल्यसौन्दर्यसौगन्ध्य सौकुमार्य्य लावण्य यौवनाद्यनन्त-गुणगणनिधिदिव्यरूपमपि स्वाभाविकमस्ति। इत्यप्राकृत विग्रहं स्वीकुर्वन्ति, प्रमाणानि तु पूर्वोक्तान्येवेति। परन्तु विभुस्वरूपस्याशरीरस्य परमात्मनोऽप्राकृत विग्रहस्य प्रामाणिकत्वेऽपि न देह सापेक्षं संकल्पं येन देहानपेक्ष संकल्पत्वासम्भव इति।

सूत्रद्वयस्य परस्परं वैयर्थ्योद्भावनमप्यसङ्गतम्--विभिन्नरूपेण प्रवृत्तत्वात्। तद्धेतुव्यपदेशादिति सूत्रं तु—आनन्दयितृत्व—आनन्दयितव्यरूप कर्मकर्तृभाव विरोधेन जीवव्यतिरेक साधन परम्। अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ती'ति सूत्रेऽस्मिन्निति विषयसप्तमी—तेन, आनन्दविषयत्वानन्दाश्रयत्वयोर्भोक्तृभोग्यरूपत्वेन तल्लक्षण कर्मकर्तृविरोधेन जीव भेदसाधनपरंखल्विदमस्मिन्निति सूत्रम्।

तथाचैकत्र जीवसमवेतानन्दप्रयोजकताया, अपरत्र जीवगतानन्दविषयतायाश्च जीवभेदसाधकता विवक्षया साधकत्वाभिमत हेतुभेदेन साधकहेतुद्वयपरसूत्रे कथमेकेनापरस्य गतार्थत्वमिति तु पूर्वमेवोक्तंनेह विस्तारप्रयोजनमिति। अतो भिन्न हेतुबलेन साधकयोः सूत्रयोरेकेनापरस्य गतार्थत्वमभिप्रेत्यद्वितीयदूषणमयुक्तमेव।

तृतीय दूषणन्तु केवलं संख्यामात्रमेव, नकिञ्चिदपि प्रका-

रोपपादनं कृतं भवद्भिः। 'नानुमानापेक्षेत्यस्यार्थस्तु पूर्वमेवोक्तस्तस्य च संकल्प वाचक कामपदेन कथं सिद्धिरिति तृतीय दूषणमपि पामरव्यामोहनमात्रम्।

यदपि—पूर्वत्र सामान्येन समस्तसुखहेतुत्वम्। अत्रतु मोक्षहेतुत्वम्; पूर्वत्रोपायनिर्देशः, अत्रोपेयनिर्देशः। इत्यादि श्रुतप्रकाशिका वाक्यान्यनुद्य कर्मत्व कर्तृत्वादि विरोधवत् कर्मत्वकरणत्वादिविरोध जल्पनेन स्वस्य कृतकृत्यं मन्यते भवता तदपि विपरीतमेव।

नहीमानि श्रुतप्रकाशिका वाक्यानि—तद्धेतुव्यपदेशाद् 'अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ती'त्यनयोः सूत्रयोः परस्परं वैयर्थ्य परिहारपराणि, येन भवद्विधानांदोषदर्शिनां कदाचिदपि भवेत् सफलता। अपि तु वैदिकसिद्धान्तनिर्धारणपराणां संप्राप्तव्यासार्य्यपदवीनां श्रुतप्रकाशिकाचार्य्याणां श्रुत्यर्थव्याख्यानपराणोमानिवाक्यानि। इति तु तत्रैव स्पष्टं नेह वृथा विस्तार प्रयोजनम्। सूत्रद्वयस्य योह्यर्थोऽभिप्रेतः स उक्तोऽस्माभिः पूर्वं न तेन कथंचिदपि कस्यापि सूत्रस्य वैयर्थ्यमिति। अत एव श्रुतप्रकाशिकाचार्य्याः, अस्मिन्निति सूत्रस्य विषयसप्तमीं वर्णयन्ति।

अनेन ग्रन्थेन तु—'कोह्येवान्यात् कः प्राण्यादिति श्रुत्यर्थमेव वर्णयन्ति व्यासार्य्याः। गुरुपसत्तिंविना वृथैव सिद्धान्त

ग्रन्थेनिष्कर्षो भवताम्। एवं विधास्सर्वत्रैव भ्रममूलाः द्रोह-मूलाश्च भवदुक्तयस्सन्ति। नहि तासु विशेषतो विचार-स्यावश्यकता महतामिति।

यदपि–पुच्छब्रह्मणश्शास्त्रप्रतिपाद्यत्वमुक्तं तदप्यसंगतम्। भवदीय भाष्यकाराणां पूर्वपक्षाण्यनुद्य, अस्मदाचार्य्यैः पूर्वमेव निरस्तत्वात्।

'ब्रह्मविदाप्नोतिपरमिति' प्रस्तुतं परमप्राप्यंब्रह्म 'सत्यंज्ञान-मनन्तंब्रह्मे'ति लक्षणेनपरिशोध्य–तदेवतु ब्रह्म 'तस्माद्वा एत-स्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः' इति कारणत्वेन आत्मशब्देन निर्दिश्य, तस्यच सर्वान्तरत्वेनात्मत्वंव्यञ्जयद्वाक्यमन्नमयादिषु तत्तदन्तरतया आत्मत्वेन निर्दिष्टान् प्राणमयादीनतिक्रम्य 'अन्योऽन्तर आत्माऽनन्दमयः' इत्यात्मशब्देन निर्देशमानन्दमये परिसमापयति।

तस्मादात्मशब्देन प्रक्रान्तं ब्रह्मैवानन्दमय इति सिद्धम्।

पृथिवी पुच्छंप्रतिष्ठा' महः पुच्छं प्रतिष्ठा' इदं पुच्छं प्रतिष्ठा' अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्युक्त्वा तत्रतत्रोदा-हृताः 'अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते' इत्यादि श्लोकाः यथा न पुच्छ-मात्रप्रतिपादनपराः, अपित्वन्नमयादिपुरुषप्रतिपादनपराः। तथैव 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' इत्युक्त्वा 'असन्नेवसभवति' अयंश्लोकोऽपि न पुच्छमात्र प्रतिपादनपरः किन्त्वानन्दमयप्रतिपादनपरएवेति।

अतो ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठेत्यनेनापि न पुच्छ प्रधानवाद-सम्भवः ।

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानादिति स्थानप्रमाणकृतम् 'आनन्द-मयमात्मानमुपसंक्रामतीति' वाक्यमेवानन्दमयस्य ब्रह्मत्वे मान-मिति ।

किञ्च 'सोऽकामयत' इतिवाक्ये स इति पुल्लिङ्गतच्छब्देन कारणवस्तुनिर्देशाच्च, आनन्दमयः परंब्रह्म ।

नपुंसकब्रह्मशब्दस्य पुल्लिङ्गेन तत्पदेन ग्रहणस्यायोग्यत्वेन, पुच्छब्रह्मवादोऽयुक्त एवेति । तदुक्तमाचार्य्यपादैः—

"पुल्लिङ्गान्तप्रधान प्रकृतपरवचोरूपणं चाप्यनन्यैः,
श्लोकाः पुच्छं नचाहुः सरसमपि हि नः सूत्रमन्योऽन्तरो'न ।
षष्ठ्यादिश्चांशभावान्निरतिशयतया रूपणादानुरूप्यात्,
पर्यायत्वादनन्यात्मकवचनतया पुच्छहेतुः परास्तः ॥

इति, यदपि—'सोऽकामयत' इति पुल्लिङ्गतच्छब्देन आत्मश-ब्दस्यैव परामर्शः, तेन न पुल्लिङ्गतच्छब्द परामर्शानुपपत्तिरिति; तदपि श्रुतप्रकाशिकाचार्य्यैरेव निरस्तम् । व्यवहितात्मशब्दा-पेक्षया, अव्यवहितानन्दमयस्यैव ग्राह्यत्वात् ।

व्यवहितादव्यवहित ग्रहणंहि सर्वसम्मतम् । 'तस्यैष एव शारीरआत्मा' इत्यात्मशब्दस्याव्यवहितत्वेन तदभिप्रायेण पुल्लि-ङ्गतच्छब्देनात्मशब्दस्य परामर्श इति, निर्वाहप्रकारोप्ययुक्तः ।

'तस्यैष एव शारीरआत्मा' इति वाक्यस्थस्यात्मनः सर्व-

पर्य्याय साधारणत्वेन एतत्पर्य्यायस्य प्रधानप्रतिपाद्यत्वाभावात्, सर्वनामशब्दस्य प्रधानप्रतिपाद्यत्वस्वारस्याच्चेत्यादि बहुदूषणानि तत्रैव द्रष्टव्यानीति विस्तरभयान्नेह तन्यते। तस्मादानन्दमयस्यैव परमात्मत्वपराणिश्रुतिवाक्यानि नतु पुच्छब्रह्मपराणीति, भगवद्बादरायणसूत्राणित्वत्यन्तप्रतिकूलानि पुच्छब्रह्मवादस्य।

तथाहि—'आनन्दमयोऽभ्यासादिति' आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वपरं प्रथमसूत्रमेव विपरीतं प्रथमं भवन्मते।

अस्यसूत्रस्य—'पुच्छं ब्रह्म, स्वप्रधानेन वाक्यप्रतिपाद्यम्, असन्नेवेति निगमनश्लोकस्थ ब्रह्मशब्दाभ्यासदर्शनात्। आनन्दमयो न श्लोकप्रतिपाद्यः, तत्र ब्रह्मशब्दाभ्यास दर्शनात्। इति द्विविध व्याख्यानं शंकराचार्य्याभिमतम्।

इदं द्विविधमपि व्याख्यानं स्पष्टमेव सूत्राक्षराननुगुणं बहुदोषयुक्तमपि। तत्र प्रथमपक्षे, आनन्दमयपदस्य पुच्छब्रह्मणि लक्षणा, अनुपस्थितप्रतिज्ञाध्याहारः, सूत्रोपस्थितानन्दाभ्यासस्य शीघ्रोपस्थितिकत्वेन तत्त्यागेनोपस्थिताभ्यासार्थत्यागः।

द्वितीयपक्षेतु—ईक्षतेर्नाशब्दमितिसूत्रान्नञध्याहारः, वैदेशिक पदाध्याहारः, अभ्यासपदस्य सन्निहित सूत्रोपस्थितानन्दाभ्यासस्य त्यागेन मुख्यार्थपरित्यागः। इति व्याख्यानद्वयमपि त्रिदोषम्। किञ्चतादृशार्थाभिप्रेतत्वे 'ब्रह्मपुच्छमभ्यासादि' त्येवस्पष्टंकुतो नोक्तं सूत्रकृता।

एतेन व्याख्याद्वयमभिप्रेत्यैव न 'ब्रह्मपुच्छमभ्यासादि'

त्युक्तमित्यपि निरस्तम्। लक्षणया, अध्याहारेण च पूर्वोक्त-दिशाऽत्राप्यर्थद्वयनिर्वाहात्।

आनन्दमयस्य श्लोकप्रतिपाद्यत्वाभावादप्रधानत्व कथन-मप्यसंगतम्।

श्लोक प्रतिपाद्यं प्रधानमिति श्रुतिवाक्यस्य कैरप्यनध्यय-नात्।

द्वितीयम्—'विकारशब्दादिति चेन्नप्राचुर्य्यात्' इति सूत्रं हि' आनन्दमय इत्यत्र मयट्प्रत्ययस्य विकारार्थत्वनिरसनेन प्राचु-र्यार्थत्वस्थापनपरम्, तथासति सूत्रस्थविकारप्राचुर्य्यशब्दयोः स्वारस्यमपि सुरक्षितं भवति।

अस्य सूत्रस्य शांकरव्याख्यानमिदम्—विकारशब्दात्, अव-यववाचक पुच्छशब्दात्, ब्रह्मणः स्वप्रधानत्वंनेति चेत्, न, प्राचु-र्यात्—अवयवप्रायवचनात्, पुच्छशब्दोपपत्तेरिति।

व्याख्यानमिदमत्यन्तोदक्षरं स्वाभिलषितार्थ विशेषसाध-नाय स्वकपोलकल्पितमिति सहृदय विद्वज्जनविदितमेव।

व्याससूत्रस्य पदार्थ वाक्यार्थत्यागेन यादृशंविरुद्धं सूत्रार्थ-वर्णनं शंकरमते, न तादृशं मतान्तरे क्वाप्युपलभ्यते। अतएव 'सूत्राणितु यथाकथंचिद्योजयितव्यानि' इति स्वयमेवासन्तु-ष्यन्तः सूत्रार्थवर्णने वदन्ति शंकराचार्य्याः।

श्रुतिस्मृतिविरोधे स्मृतेरिव सूत्राणामप्यप्रामाण्यमेव यदि-भवदिष्टन्तर्हि गतं ब्रह्मसूत्राणां वेदान्ततत्त्व व्यवस्थापक-

त्वम्। सर्वत्रैव 'व्याख्यानतो विशेष प्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणमिति' न्यायेन व्याख्यानद्वारा शास्त्राणामर्थो नेयः, नतु स्वस्यासन्देहमात्रेण शास्त्राणामप्रामाण्यं स्वीकर्तव्यमिति। दुरुद्धरविरोधे सत्येव कथंचिदप्रामाण्य संभवेऽपि, अष्टादश-पुराणानां निर्मातुर्नारायणापरावतारस्य वैदिकमार्ग निर्धारणतत्परस्य भगवतः वेदाचार्य्यस्याज्ञातमपि तत्त्वं तदीय-चरणरजोनुषेवणेनैव लोके प्राप्तपदवीकेन शंकराचार्य्येण ज्ञातं सत् सूत्राणां दुरुद्धर वेदविरोधेन, कथंचिदेव सूत्राणां वेदाविरोधित्वं स्थापितमित्याश्चर्य्यतममिति।

सन्तिवहवोहि ब्रह्मसूत्रभाष्यकारास्ते सर्व एव सूत्राणां व्याख्यान प्रदर्शनेन सर्वत्रैवाविरोधमेव मन्यन्ते।

शंकराचार्य्यस्तु विरोधमेव मन्यते। तर्हि सूत्रखण्डनायैव प्रवृत्तो भवदीय शंकराचार्य्य इत्येवाङ्गीकर्तव्यः।

'तृतीयं 'तद्धेतुव्यपदेशादि'ति सूत्रमपि विपरीतं तन्मते-अत्र ब्रह्म प्रतिकोटितया तत्पदेन जीवग्रहणस्य स्वारस्येऽपि तत्परित्यागेनानन्दमयपरामर्शेनोदक्षरमेव सूत्रव्याख्यानमिति। इदन्तु दिग्दर्शन मात्रमेव कृतमस्माभिः। एवं सर्वत्रैव विशेषत आनन्दमयाधिकरणे सर्वाण्यपि भगवद्बादरायण सूत्राण्यन्यथा-नीतानि शंकराचार्य्यैः।

श्रीभाष्यकाराणां सिद्धान्ते हि न कुत्राप्युदक्षर व्याख्यानं सर्वत्रैव सूत्रार्थमात्र वर्णनेनाविरोध एव श्रुति स्मृत्यादिभिस्सह।

भगवद्बादरायणसूत्रस्य तदीयशिष्य महर्षि बोधायनेन यादृशं व्याख्यानं कृतं तदनुसारि व्याख्यानमेव श्रीभाष्यकाराणाम्। अत एव श्रीभाष्यकाराणां सर्वाण्यपि श्रुतिस्मृतिसूत्राणि सोऽनुकूलानिभवन्ति। तस्मादानन्दमयः परं ब्रह्मैव' तत्पक्षसाधकानि सर्वाणि वेदान्तवाक्यानि। पुच्छब्रह्मवादस्तु श्रुतिस्मृति सूत्र विरुद्ध एव। शांकरादिव्याख्यानन्तु न केवलं श्रुति स्मृति सूत्रविरुद्धमपितु—बोधायनादिमहर्षि सिद्धान्त विरुद्धमपि।

तस्माद्बोधायनाद्यनुसारि श्रीभाष्यकार भगवद्रामानुजाचार्य्यप्रणीत श्रीभाष्यमेवतत्त्वतो वेदान्तसूत्रस्य भाष्यं तदेव दुःखत्रयाभिभूत सांसारिकजनपरिरक्षणाय परमश्रेयसे च प्रभवति। आनन्दमयः परं ब्रह्मैवेति भवद्बादरायण सिद्धान्त एव वेदार्थस्तदेव श्रीभाष्यकाराभिमतमिति।

श्रीभाष्यसिद्धान्ते सूत्राणामुपनिषदां प्रमाणान्तराणांच सर्वेषां स्वारस्यं नच कस्याप्यंशस्य बाध लेशोऽपि। शांकरादिमतेतु श्रुति स्मृति सूत्राणां सर्वेषामस्वारस्यं स्वपक्षसाधकप्रमाण वैघट्यश्चास्तीतिसर्वविदितम्। तस्माद्भगवद्रामानुजाचार्य्य पादाभिमत सिद्धान्त एव श्रुतिस्मृतिसम्मतः स एव भगवद्बादरायण सम्मतश्चेति। असूयादि रहितैः प्रामाणिकैः सेव्यं श्रीभाष्यमेव

तदेवानन्दमय सच्चिदानन्दघनपरब्रह्म श्रीमन्नारायण स्वरूप-याथात्म्यज्ञानैकप्रकाशकमिति, हरिः ओं तत्सत् ।

* इति *

वेदान्तमार्तण्डस्य

'प्रथमःमयूखः'

'श्रीनिवास परब्रह्मणे नमः'

श्रीमते हयग्रीवाय नमः

श्रीमते रामानुजाय नमः

अस्मद्गुरुभ्यो नमः

* श्रीः *